समराङ्गण सूत्रधार-वास्तु-शास्त्र—भाग द्वितीय

राज-निवेश

एवं

राजसी कलायें

डा० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल

एम०ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

साहित्याचार्य, साहित्य-रत्न, काव्य-तीर्थ, शिल्प-कला-आकल्प

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग

पंजाब-विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

प्रकाशन-व्यवस्थापक
वास्तु-वाङ्मय-प्रकाशन-शाला
शुक्ल-कुटी, १०, फैजाबाद रोड, लखनऊ

(केन्द्रीय-शिक्षा-सचिवालय प्रकाशन-सहायतया स्वयमेव ग्रन्थ-कर्ता)
भारतीय-वास्तु-शास्त्र
सामान्य-शीर्षक-दश-ग्रन्थ प्रकाशन-प्रायोजन का ७वां प्रकाशन

मूल्य ३६/- रु०

मुद्रक
तक्षशिला-आर्ट-प्रिंटिंग प्रेस
५, सेक्टर १५, चण्डीगढ़

समर्पण

महाकवि कालिदास, बाण-भट्ट तथा श्रीहर्ष की स्मृति मे

लक्षण एव लक्ष्य दोनो का जब तक एक समन्वयात्मक प्रतिबिम्बन न प्राप्त हो तो शास्त्रीय सिद्धान्तो (लक्षणो) का क्या मूल्याकन? अतएव जहा अभी तक भारतीय स्थापत्य (विशेषकर चित्र-कला) पर केवल पुरातत्वीय विवेचन हो सका, वहा साहित्य-निबन्धनीय इस विवेचन (दे० पृ० ११२-१२४) ने तो चित्र-कला को कितना भारतीय जीवन का अभिन्न अग सिद्ध कर दिया है—यह सब इन तीन प्रमुख महाकवियो के काव्यो की देन है।

—शुक्ल (द्विजेन्द्र नाथ)

निवेदन

हमारा समरांगण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्र—प्रथम भाग—भवन-निवेश—अध्ययन, हिन्दी अनुवाद, मूल-पाठ तथा वास्तु-पदावली निकल ही चुका है। उसके परिशीलन से विद्वान् पाठक तथा प्राचीन भारतीय स्थापत्य में रुचि रखने वाले आधुनिक इन्जीनियर तथा आर्कीटैक्टस एवं कला-कोविद इन सभी ने अपनी प्राचीन देन का अवश्य मूल्यांकन किया होगा। भारत का यह स्थापत्य Hindu Science of Architecture कितना वैज्ञानिक और प्रबुद्ध था—इसमे अब किसी को असमंजस में पड़ने की आवश्यकता नहीं रही है। हमारे देश के बहुत से भारत-भारती के विशेषज्ञ अभी तक इन वास्तु-शास्त्रीय ग्रंथों को न वैज्ञानिक मानते रहे, न उनको समझने में सफलता मिल सकी, अतः वे यही आकूत करते आये हैं कि वे ग्रंथ पौराणिक हैं, कपोल-कल्पित हैं अथवा अति-रंजित हैं।

भवन-निवेश—यह ग्रन्थ एक प्रकार से भारतवर्ष के स्थापत्य में पुनरुत्थान कर सकता है। यह पुनरुत्थान भारत के आधुनिक स्थापत्य में स्वर्ण-युग Renaissance का प्रादुर्भाव प्रकट कर सकता है, यदि लोग इसको ठीक तरह से पढ़ें और इन्जीनियरिंग (Civil Engineering) और आर्कीटैक्चर के कोर्स में इसे सम्मिलित करें। अनुसन्धान-कर्ताओं का काम अन्वेषण करना है, उसका रूप प्रकट करना है। जहां तक उसका उपयोग और उसकी उपादेयता का प्रश्न है, वह तो शासकों और सचालकों के हाथ में है। हमारे देश की जल-वायु के अनुकूल, संस्कृति तथा सभ्यता के अनुकूल, रहन-सहन-आचार-विचार-निवास-परिधान के अनुरूप जैसा भवन-निवेश हमारे पूर्वजों ने परिकल्पित किया था, वही हमारे देश के लिए अनुकूल है तथा कल्याणकारी है।

वैपरीत्याचरण से एवं पश्चिम के अन्धानुकरण से इस दिशा में महान अनर्थ तथा क्षति की पूर्ण सम्भावना है। इस उष्ण-प्रधान देश में सीमेंट (पत्थर) के खम्भे तथा छतें और दीवालें महान् हानिकारक हैं। इसी लिए हमारे पूर्वजों ने जहां बड़े-बड़े उत्तुंग शिखरावलियों से विभूषित, नाना विमानों से अलंकृत मन्दिर, प्रासाद, धाम, राज-वेश्म बनवाये वहां अपने निवास के

लिए शाल-भवन ही अनुकूल समझते रहे, जिन मे छप्परो (छादो) तथा मार्तिक भित्तियो तथा काष्ठ-विनिर्मित, खचित, सज्जित स्तम्भो का ही प्रयोग किया जाता रहा है। इसका आधार निम्नलिखित पौराणिक तथा आगमिक आदेश था—"शिलाकुड्य शिलास्तम्भ नरावासे न योजयेत्"।

राज-निवेश एव राजसी कलायें—अस्तु, इस दिग्दर्शन के उपरान्त अब हम अपने इस प्रकाशन—राज-निवेश एव राजसी कलायें—यन्त्र एव चित्र के साथ राज-निवेश (Palace Architecture) की ओर आते हैं। इस ग्रन्थ मे चित्र-कला विशेष व्याख्यात है। राज-निवेश पर इस निवेदना मे विशेष निवेदन की आवश्यकता नही, वह अध्ययन मे पढें। जहा तक यन्त्र एव चित्र का साहचर्य है, वह सब राज-सरक्षण ही आधार था।

आज तक भारतीय यान्त्रिक विज्ञान पर कही भी किसी ने भी खोज नही की। बात यह है कि यद्यपि यन्त्रो के, विमानो (जैसे पुष्पक-विमान आदि) के नाना सन्दर्भ प्राचीन साहित्य मे प्राप्त होते हैं, परन्तु इस विज्ञान पर समरागण सूत्रधार को छोडकर कही पर किसी भी ग्रन्थ में आज तक यह विज्ञान नहीं प्राप्त हुआ है। मैं अपने अग्रेजी ग्रन्थ—Vastusastra Volume I—Hindu Science of Architecture मे इस यन्त्र-विज्ञान पर पहिले ही व्याख्या कर चुका हूँ। अब हिन्दी मे यह प्रथम प्रयास है और पाठक तथा विद्वान् इस ग्रन्थ के परिशीलन मे अपने भूत का मूल्याकन अवश्य कर सकेंगे।

अब आइये चित्रकला की ओर। यद्यपि भारत के चित्र-कला-निदर्शन जैसे अजन्ता, बाघ सिगिरिया आदि प्रख्यात चित्र-पीठो पर जो उपलब्ध हो रहे हैं, उन पर बहुत से विद्वानो ने कलम चलाई है और ऐतिहासिक समीक्षा भी की है, परन्तु शास्त्र (Canons) और कला इन दोनो का समन्वयात्मक अथवा आधाराधेय-भावात्मक (Synthetic) समीक्षण किसी ने नहीं किया है। सर्वप्रथम श्रेय डा० स्टेला क्रैमरिश को है जिन्होने चित्र शास्त्र के प्राचीनतम पौराणिक ग्रन्थ विष्णु-धर्मोत्तर का अग्रेजी मे अनुवाद किया तथा एक भूमिका भी लिखी। उन के बाद यह मेरा परम सौभाग्य था कि मैंने अपने डी० लिट्० के अनुसन्धान के लिए Foundations and Canons of Hindu Iconography and Painting जो विषय चुना था उसी ने मुझे यह अवसर दिया कि समस्त चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थ या जैसे भरत का नाट्य शास्त्र, नारद शिल्प सारस्वत-चित्र-कर्म विष्णु धर्मोत्तर, समरागण सूत्रधार, अपराजित पृ[illegible] [illegible]

आदि सभी प्राप्त चित्र-ग्रन्थो का परिशीलन, आलोडन, अनुसन्धान, गवेषण और मनन के उपरान्त हमने एक अति वैज्ञानिक तथा पाद्धतिक चित्र लक्षण बनाया और उसको पुन व्याख्यात्मक तथा ऐतिहासिक एव साहित्यिक दोनो परिपाटियो मे एक प्रबन्ध प्रस्तुत किया।

इस प्रबन्ध (Hindu Canons of Painting) को देखकर भारत के प्रख्यात तथा धुरन्धर विद्वानो ने जैसे महामहोपाध्याय मिराशी डा० जितेन्द्र नाथ बैनर्जी, प्रो० सी० डी० चैटर्जी आदि ने बडी ही प्रशसा की और यहा तक लिख मारा—This is a land mark in Contemporary Indology both in India and Europe

मेरे पी-एच०डी० अनुसन्धान (A Study of Bhoja s Samarangna Sutradhara—a treatise on the science of Art and Architecture) पर प्रख्यात कला-समीक्षक एव प्रथितकीर्ति डा० जितेन्दनाथ बैनर्जी तथा स्व० डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने अभूतपूर्व प्रशसा ही नही की वरन् लखनऊ विश्व-विद्यालय को बधाई भी दी। मेरे लिए उनका यह वाक्य (The award of Ph D Degree is the least credit for such a scientific and conscientious labour) बडा प्रेरणा-प्रदायक सिद्ध हुआ, जिस से मैंने इस विषय को आजीवन निष्ठा के रूप मे अङ्गीकृत कर लिया है। इन दोनो प्रबन्धो की वरेण्य प्रशसा एव कीर्ति के कारण सस्कृत के महान् सरक्षक एव शुभ-चिन्तक डा० देशमुख (भूतपूर्व य०जी०सी०, चेयरमेन) ने इनके विस्तृत अध्ययन-पुरस्सर दो बृहदाकार ग्रन्थो के रूप मे परिणत करने के लिए दस हजार रुपये का अनुदान दिया। उसी के कारण मेरे ये दो अग्रेजी ग्रन्थ भी प्रकाशित हो सके—

1—Vastu Sastra Volume I—Hindu Science of Architecture with esp reference to Bhoja's Samarangna-Sutradhara

2—Vastusatra Volume II—Hindu Canons of Iconography and Painting

अपने अग्रेजी ग्रन्थो मे इनका पूर्ण विस्तार एव कला और शास्त्र दोनो दृष्टियो से इनका प्रतिपादन किया। हिन्दी के पारिभाषिक साहित्य का श्री-गणेश करने का जो मैंने बीडा उठाया था, अपनी कृतियो से भारतीय वास्तु-शास्त्र-सामान्य-शीर्षक के छै ग्रन्थो को तो प्रकाशित कर ही चुका हूँ। अब मैं यन्त्र-विज्ञान तथा चित्र विज्ञान को लेकर इस ग्रन्थ की रचना और प्रकाशन कर रहा हू। जहा तक इन दोनो विषयो की महिमा, गरिमा और

पृथिमा का सम्बन्ध है वह अध्ययन मे देखिए। अब अन्त में हमे यह भी सूचित करना है कि भारत-सरकार शिक्षा-सचिवालय मे जो अनुदान इन ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए १९५६ मे मिला था, उसके सम्बन्ध में हम पहले ही सूचना दे चुके हैं और अध्ययन मे भी इसका कुछ सकेत है, तथापि मैं अपना परम-कर्त्तव्य समझता हू कि अब लगभग १० वर्ष पुराना यह अनुदान कैसे उपयोग किया जा रहा है। पहला कारण तो यह था कि अनुदान की निधि स्वल्प थी, पत्र-व्यवहार से भी कोई लाभ नहीं हुआ तो हमारे सामने समस्या उठ खड़ी हुई कि इसको तिलाञ्जलि दे दू कि पुरानी प्रेरणा (लखनऊ वाली जिसके द्वार उत्तर-प्रदेश सरकार से प्राप्त अनुदान से जो चार प्रकाशन किये थे) से उसी तरह से करू कि न करू। यद्यपि न इस मे अर्थ-लाभ, न कीर्ति, न इनाम, क्योंकि जब तक कोई वैयक्तिक सिफारिश न हो तब तक इन अभूत-पूर्व अनुसन्धानों को साहित्य-ऐकेडेमी, ललित कला ऐकेडेमी क्यो पूछेगी। उनके अपने-अपने सलाहकार होते हैं, वे जैसी सम्मति देते हैं, वैसे ही व्यक्ति पुरस्कृत होते हैं। हमारे देश मे कोई National Screening Committee तो है नहीं जो इन निर्णयों की स्क्रीनिंग कर तथा अपुरस्कृत व्यक्तियो को सामने लावे। झटिति मुझे यह वाक्य स्मरण आया —

"अगीकृत सुकृतिन परिपालयन्ति"

सो फिर इन वैयक्तिक लाभों को चन्द्र-रूम्न देकर अपनी अगीकृत निष्ठा को निभाने का बीड़ा उठाया। १९६७ फरवरी की बात सुनें। मैं अपने बहुत पुराने मनीषि (लखनऊ विश्वविद्यालय मे जमन कम्पा के) डा० परमेश्वरीदीन शुक्ल से मिला, तो मित्र न पाकर कठोर शासक के रूप मे पाया। यमवत् क्रुद्ध होकर कहने लगे—"शुक्ल जी महाराज, आपकी सारी ग्राट खतम कर दूगा। लगभग १० साल होने आये और अब तक आप न उसे पूरा यूटीलाइज नहीं किया।" "धन्य हो यमराज! आपका चैलेञ्ज स्वीकार है। जाता हूँ, दिन-रात जुटकर काम करूगा—देखें जैसी भगवदिच्छा"। अगर डाक्टर शुक्ल का यह रवैया न होता तो यह काम न हो पाता। आशा है इस रवैये से राष्ट्र के कार्यों मे एक नवीन स्फूर्ति हो सकेगी। डा० शुक्ल वास्तव मे एक सच्चे सलाहकार हैं।

इस सन्दर्भ में मैं अपने वर्तमान उप-कुलपति श्रीमान् लाला सूरजभान को विस्मृत नहीं कर सकता। इन के आगमन से मुझे स्वस्पता (स्वस्मिन् तिष्ठति

स स्वस्थ) मिली, अत अपने अनुसन्धान आदि कार्य मे जो अनुद्विग्न होकर प्रवृत्त हो सका, यही स्वस्थता है। मेरी सबसे बडी विजय लाला जी के आगमन से सत्य का प्रकाश हुआ। ऐसे स्थिर-प्रज्ञ तथा धीर, गम्भीर एव अप्रभावित व्यक्ति ही इतने बडे विश्वविद्यालय का सचालन कर सकते है। कामना है कि यदि तीन टर्म्स तक उप-कुलपति पद को शोभित करते रहें तो संस्कृत का यह दूसरा अनुसधान दश-ग्रन्थ-शिल्प-शास्त्र-अनुसधान-आयोजन जिसे इस पजाब विश्वविद्यालय ने स्वीकृत कर ही लिया, यू० जी० सी० को First Priority Proposals For Fourth Five Yea Plan मे भेजा है और यू० जी० सी० ने भी समझदारी से इसको यदि मान लिया, अनुदान स्वीकृत किया तो देश-देशान्तर द्वीप-द्वीपान्तर म इस अनुसधान मे एक नया युग एव नयी अभिरुचि का प्रादुर्भाव होगा। देखें क्या होता है। यह विधि विधान है। मानव न रोक सकेगा न बना सकेगा।

अत मे यह भी सूचित करना परमावश्यक है कि बडे सौभाग्य की बात है कि पजाबियो मे एक सस्कृतज्ञ सिक्ख श्री त्रिलोचन सिंह से साक्षात्कार हो गया जो यूनिवर्सिटी कैम्पस के समीप प्रेस चला रहे हैं। इस सरदार ने कमाल कर दिया और बडे उत्साह और लगन से कार्य किया है। सरदार त्रिलोचनसिंह अपनी वचन-बद्धता के लिए पूर्ण प्रयास कर रहे हैं।

जहा तक कुछ अशुद्धियो का प्रश्न है वह स्वाभाविक ही है। जब ग्रन्थकार प्रूफ को पढता है तो अशुद्ध को भी शुद्ध पढ जाता है। साथ-ही-साथ हमारे देश मे जो छापेखाने हैं उनमे बडे ही विरले कुशल प्रूफ-रीडर मिलते हैं। अत आशा है कि पाठक कुछ यत्र तत्र-सर्वत्र जहा पर छापे की अशुद्धिया हैं, उनको अपने आप ठीक कर लेंगे। जहा तक पारिभाषिक शब्दो का प्रश्न है, उसकी तालिका—शुद्ध तालिका (दे० शब्दानुक्रमणी) मे प्रत्यक्ष हैं।

अस्तु अन्त मे यह ही कहना है—

गच्छत स्खलन क्वापि भवत्येव प्रमादत ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति साधव ॥

आषाढी सम्वत् १९२४ | द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल

प्रकाशन-विवरण

उत्तर-प्रदेश-राज्य तथा केन्द्रीय शिक्षा-सचिवालय से प्राप्त अनुदान एवं निजी व्यय से प्रकाशित एवं प्रकाश्य—

समरांगण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्रीय—भारतीय-वास्तु-शास्त्र सामान्य शीर्षक निम्न दश-ग्रन्थ-प्रकाशन-प्रायोजन —

उत्तर-प्रदेश-राज्य की सहायता से

१ वास्तु-विद्या एवं पुर-निवेश

२ प्रतिमा विज्ञान

३ प्रतिमा-लक्षण

४ चित्र-लक्षण तथा हिन्दू-प्रासाद—चतुर्मुखी पृष्ठ-भूमि

केन्द्रीय शिक्षा-सचिवालय से

भवन-निवेश—(Civil Architecture)

प्रथम-भाग—अध्ययन एवं हिन्दी अनुवाद

द्वितीय-भाग—मूल का संस्करण एवं वास्तु-पदावली

राज-निवेश एवं राजसी कलायें—यन्त्र एवं चित्र (Royal Arts Yantras and Citras)

प्रथम-भाग—अध्ययन एवं हिन्दी अनुवाद

द्वितीय-भाग—मूल का संस्करण एवं वास्तु शिल्प-चित्र-पदावली

प्रासाद-निवेश (Temple Art and Architecture)

प्रथम भाग—अध्ययन एवं हिन्दी अनुवाद

द्वितीय भाग—मूल का संस्करण एवं वास्तु शिल्प-पदावली

विषय-सूची

प्रथम खण्ड—अध्ययन

उपोद्घात—ललित-कलाओं का जन्म एवं विकास—वेद एवं उपवेद—स्थापत्य वेद—समरागण-सूत्रधार एक-मात्र वास्तु-ग्रंथ, जिसमे भवन-कला, नगर-कला, प्रासाद-कला, मूर्ति-कला, चित्र-कला, यन्त्र-कला सब व्याख्यात हैं,

समरागण-सूत्रधार का अध्ययन—एवं उसके विभिन्न भागों के अध्ययन की योजना तथा ग्रन्थ मे उसका नवीनीकरण, राज-सरक्षण मे प्रोल्लसित स्थापत्य—चतुर्धा स्थापत्य अर्थात् स्थपति-योग्यताएं एवं स्थपति-कोटि-चतुष्टय; अष्टाग-स्थापत्य, शिल्पियों की चार कोटियां—स्थपति, सूत्रग्राही, वर्धकि तथा तक्षक, चित्र-पद का अर्थ—चित्र, चित्रार्ध, चित्राभास, पुन परिमार्जन अर्थात् भवन-निवेश-सम्बन्धी समरागणीय प्रथम-भाग के बाद द्वितीय भाग का परिमार्जित एवं वैज्ञानिक सस्करण-पद्धति से अध्यायों की तालिका का नवीनीकरण;

अध्ययन के प्रमुख स्तम्भ—राज-निवेश एवं राज-निवेशोचित भवन, उपभवन एवं उपकरण, यन्त्र-विधान तथा चित्र-विधान,

राज-निवेश—राज-निवेशाग—कक्ष्या-निवेश—अलिन्द-निवेश, राज-भवन-तत्व, राज-निवेश-उपकरण—सभा, अश्वशाला, गज-शाला, शयनासन आदि,

राज-विलास (नाना-यन्त्र)—यन्त्र-घटना, यान-मातृका अर्थात् यन्त्र-मातृका का अर्थ (Interpretation), प्राचीन यान्त्रिक विज्ञान, यन्त्र-गुण, यन्त्र-विधा—आमोद-यन्त्र, सेवा-यन्त्र एवं रक्षा-यन्त्र, दोला-यन्त्र, विमान-यन्त्र,

राजसी कलायें—चित्र कला—

चित्र-शास्त्रीय-ग्रंथ, चित्र-कला का उद्देश्य, उद्भव तथा विषय—

षडंग तथा अष्टांग; चित्र-विधा—सत्य, वैणिक, नागर, मिश्र, विद्ध, अविद्ध, धूली, रस, भाव, वर्तिका, भूमि-बन्धन—कुड्य-भूमि-बन्धन, पट्ट-भूमि बन्धन, पट-भूमि-बन्धन; चित्राधार एवं चित्रमान—अण्डक-प्रमाण, रूप-मान, मानोत्पत्ति, चित्र-प्रमाण-प्रक्रिया (Iconometry), समलम्बित मान (Vertical measurements)—मस्तक-सूत्र, केशान्त-सूत्र-आदि गुल्फान्त-सूत्र, भूमि-सूत्रान्त, लेप्य कर्म—मार्तिक लेपन, स्निग्धानुलेपन, आलेख्य-कर्म — वर्ण एवं कूचक, कान्ति एवं विच्छित्ति (छाया, कान्ति, क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त), शुद्ध-वर्ण (मूल-रंग), मिश्र वर्ण (अन्तरित-रंग), रंग-द्रव्य—स्वर्ण-प्रयोग—पत्र-विन्यास तथा रस-क्रिया; पञ्च-विध कूचक, त्रिविधा लेखनी—तूलिका, लेखनी, विलेखा, वर्तना—क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त, वर्तना-प्रभेद, त्रिविध—पत्रजा, ऐरिक तथा बिन्दुज, चित्र एवं रस—एकादश चित्र-रस, अष्टादश रस-दृष्टियाँ, चित्र-कला तथा काव्य-कला, नाट्य-कला, नृत्य-कला तथा भावाभिव्यक्ति—ध्वनि, चित्र-शैलियाँ (पत्र एवं पत्र के आधार पर)—चित्र पत्र—षड्-विध—नागरादि-यामुनान्त, चित्र-पत्र-पत्र—अष्ट-विध—कलि-प्रभृति भग-चित्रकान्त, चित्र-शैलियाँ—देव-शैली, यक्ष-शैली, नागर-शैली, चित्रकार एवं उसकी कला, चित्र-गुण, चित्र-दोष,

चित्रकला के पुरातत्वीय एवं साहित्यिक निदर्शनों एवं सदर्भों पर एक विहंगावलोकन

पुरातत्वीय उपोद्घात—पुरातत्वीय निदर्शन—पूर्व-ईसवीय तथा उत्तर-ईसवीय, पूर्व-ईसवीय—प्राग्-ऐतिहासिक तथा ऐतिहासिक; प्राग् ऐतिहासिक—कामूर-पर्वत श्रेणी, विन्ध्य-पर्वत-श्रेणी, अन्य पर्वत श्रेणियाँ—मध्य-प्रदेश, मिर्जापुर—उत्तर-प्रदेश के समीपीय कन्दरायें, ऐतिहासिक—पूर्व ईसवीय—गिर-गुहा जोगी—मारा कन्दरा, ईसवीयोत्तर—बौद्ध-काल, हिन्दू-काल, मुस्लिम-काल, बौद्ध-काल—अजन्ता—नाना गुफाओं मे प्राप्त चित्र तथा काल-निर्धारण एवं विषय-वर्गीकरण, मरक्षण, चित्र द्रव्य एवं चित्र-प्रक्रिया—वर्ण-विन्यास एवं तूलिका, चित्र-शास्त्र एवं चित्र-कला, सिगरिया-सिगिरिया, बाघ; हिन्दू काल—जैन-ग्रन्थ-चित्रण, जैन-चित्र, राजपूत-चित्र-कला, पंजाब (कांगरा की राजपूती कला), मुगल चित्र कला।

साहित्यिक उपोद्घात—वैदिक वाङ्मय, पालि वाङ्मय, रामायण एवं महाभारत, पुराण, शिल्प-शास्त्र, काव्य तथा नाटक—कालिदास, बाण-भट्ट, दण्डी भवभूति, माघ, हर्ष-देव, राजशेखर, श्रीहर्ष, धनपाल, सोमेश्वर सूरि।

ग्रन्थ-चित्रण

द्वितीय खण्ड—अनुवाद

प्रथम-पटल—प्रारम्भिका

द्वितीय-पटल

राज-निवेश एवं राज-निवेशोचित-भवन तथा उपकरण

तृतीय-पटल—शयनासन-विधान—वर्धकि-कौशल

चतुर्थ-पटल—यन्त्र-विज्ञान

यन्त्र-लक्षण, यन्त्र-शब्द-निर्वचन, यन्त्र-बीज, यन्त्र-प्रकार, यन्त्र-गुण, यन्त्र-विधा, यन्त्र-घटना, यान्त्रिक-विज्ञान, की परम्परा—पारम्पर्य-कौशल, गुरूपदेश, वास्तु-कर्म, उद्यम तथा धी, यन्त्र-विनान-गुप्ति

पंचम-पटल—चित्र-लक्षण

चित्र-प्रशंसा, चित्रोद्देश, चित्रांग, भूमि-बन्धन, लेप्य-कर्मादिक, अण्डक—प्रमाण आदि एवं चित्र-रसादि

षष्ट-पटल—चित्र एवं प्रतिमा के सामान्य लक्षण

चित्र एवं प्रतिमा द्रव्य, निर्माण-विधि, प्रतिमा-मानादि—अंगोपांग-प्रत्यंग, प्रतिमा विशेष—ब्रह्मादि, लोकपालादि, पिशाचादि, यक्षादि—सामान्य लक्षण एवं

प्रथम खण्ड

अध्ययन

राज-निवेश एवं राजसी कलायें

यन्त्र एवं चित्र

उपोद्घात —ललित कलाओ का जन्म एव विकास एक-मात्र केवल पूर्व-मध्य-कालीन अथवा उत्तर-मध्य-कालीन नहीं समझना चाहिए। यद्यपि ललित कलाओ मे विशेषकर चित्र-कला, प्रस्तर-कला आदि के स्मारक-निदर्शन इसी काल मे विशेष रूप से पाए जाते हैं, परन्तु पुरातत्वीय अन्वेषणो तथा प्राचीन साहित्य से ये कलायें ईसा से बहुत पूर्व विकसित हो चुकी थी। भारतीय सस्कृति मे भौतिक एव आध्यात्मिक दोनो उत्कर्षों के पक्षो पर हमारे पूर्वजो ने पूर्णरूप से अभिनिवेश प्रदान किया था। वैदिक काल मे नाट्य, सगीत, नृत्य तथा आलेख्य पूर्ण-रूप मे प्रचलित थे। इसका सबसे बडा प्रमाण है भरत का नाट्य-शास्त्र है। जनानुरजन एव जनता मे उपदेशात्मक, मनोरञ्जनात्मक, ज्ञानात्मक गाथाओं के द्वारा प्रचार करने के लिए ब्रह्मा ने नाट्य वेद की रचना की जो पाचवे वेद के नाम से प्रकीर्तित किया गया।

वात्स्यायन का काम-सूत्र भौतिक विकास का एक महान दर्पण है, जिसमें नागरिको के लिए चतुष्षष्टि-कला-सेवन एक प्रकार से इनके जीवन और सामाजिक सभ्यता का अभिन्न एव अनिवार्य अग था। 'स्टेला क्रैमरिश' ने विष्णुधर्मोत्तर के अनुवाद की भूमिका मे जो लिखा है—'Every citizen had a bowl and brush'—वह वास्तव मे बडा ही सार्थक एव सत्य है। इन चौसठ कलाओ मे नृत्य, वाद्य, गीत, आलेख्य के साथ साथ नाना अन्य शिल्प-कलाओ का भी संकीर्तन है जिसमे प्रतिमाला, यत्र-मात्रिका आदि भी परिगणित हैं। इससे इन कलाओ को यदि हम भिन्न भिन्न वर्गों मे वर्गीकृत करें, तो न केवल तथाकथित ललित-कलाओ, जैसे प्रमुख छै कलाए—काव्य, नाट्य, नृत्य, सगीत, चित्र (आलेख्य), शिल्प एव वास्तु ही उस समय ललित कलाओ के रूप मे नहीं सेव्य थीं, वरन् व्यावसायिक एव औपजीविक कलाओ (Commercial and Professional Arts) को भी पूर्ण सरक्षण तथा प्रोत्साहन प्राप्त था। पुष्पास्तरण, पुष्प-विकल्पन, नेपथ्य-विकल्प, दारू-कर्म, तक्षक-कर्म धातु-वाद प्रतिमाला, यान-मात्रिका आदि सभी इन्ही दो कोटियो मे आती हैं।

राजाओ के दरबार को ही सब-प्रमुख श्रेय है, जिसने इन सभी कलाओ की उन्नति मे महान् योगदान दिया।

हम यह भी नही विस्मृत कर सकते कि हमारा देश केवल धर्म और दर्शन की ओर ही सदा जागरुक रहा। वैज्ञानिक एव पारिभाषिक शास्त्रो को भी

इस देश मे पूरे रूप मे प्रोत्साहन और सरक्षण प्रदान किया गया। कोई भी सस्कृति और सभ्यता आध्यात्मिक और भौतिक दोनो उन्नतियो के बिना जीवित नही रह सकती। इसी लिए धर्म की परिभाषा मे बडे सूझ-बूझ के महर्षि कपिल ने जो निम्न प्रवचन दिया वह कितना सार्थक है —

"यतोऽभ्युदय-नि श्रेयससिद्धि स धर्म"

दुर्भाग्य का विलास है कि आधुनिक संस्कृत-समाज वैदिक, पौराणिक, धर्म-शास्त्र, ज्योतिष, व्याकरण, दर्शन आदि शास्त्रो के अतिरिक्त अपने अत्यन्त प्रोन्नत एव प्रवृद्ध वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक शास्त्रो से अपरिचित है। वेदो का तो अब भी प्रचार है, किन्तु उपवेद भी थे कि नही—इसका बडा ही न्यून ज्ञान एव प्रचार है। उपवेदो मे आयुर्वेद और धनुर्वेद के अतिरिक्त अन्य शेष उपवेदों का शायद ही किसी को ज्ञान हो। हमारे ऋषि-महर्षि और पूर्वज बडे ही परिवर्तन-शील तथा काल-दर्शक थे। परतु हम इतने महान् परिवर्तन-शील समय मे यदि अब भी रूढि-वादी एव काल-प्रतिक्रिया-शून्य-वादी रह तो हम अपनी सस्कृति के प्रति कितना धोखा दे रहे है कि हम प्रत्येक दिशा मे योरूप का अधानुकरण कर रहे है और अपनी सारी थाती को विस्मृत कर चुके हैं।

जहा चार वेद थे वहा चार उपवेद भी थे। ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद था, यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद था सामवेद का उपवेद गान्धर्व-वेद था, जिसमे नृत्य, नाट्य, सगीत आदि सभी प्रौढि को प्राप्त कर चुके थे, अथर्ववेद का उपवेद-स्थापत्य वेद था, इसी उपवेद में पारिभाषिक विज्ञान जैसे Engineering, Architecture आदि तथा यन्त्र-विज्ञान भी काफी प्रकर्ष को प्राप्त कर चुके थे। इस प्रकार एक शब्द मे यह कहा जा सकता है शिक्षा, कल्प, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द, व्याकरण, इन छँ वेदागो के साथ उपर्युक्त चार उपवेदो के द्वारा प्राय सभी विज्ञानो (Pure, Positive and Technical) का जन्म एव विकास हुआ।

धाराधिप महाराजाधिराज भोजदेव-विरचित समरागण-सूत्रधार ही एक-मात्र पूर्व-मध्यकालीन, अधिकृत उपलब्ध शिल्प-ग्रन्थ है, जिस मे स्थापत्य की प्राय सभी प्रमुख कलाओ का प्रतिपादन है। अन्य प्राप्य वास्तु-शिल्प-ग्रन्थो मे केवल भवन-कला, नगर-कला, मूर्ति-कला के अतिरिक्त अन्य कलाओ की व्याख्या नही प्राप्त होती है। शिल्प-रत्न एक प्रकार से अर्वाचीन ग्रन्थ है, जो उत्तर मध्यकाल के बाद लिखा गया था, उसमे भी इन तीनो कलाओ के साथ चित्र-कला का भी वर्णन है। इसी तरह अपराजित-पृच्छा मे भी इन चार प्रधान स्थापत्य-कलाओ का प्रतिपादन है।

समरागण-सूत्रधार ही एकमात्र ग्रन्थ है जिसमे निम्न छहो कलाओ का अधिकृत विवेचन है —

१ भवन-कला	२ नगर-कला
३ प्रासाद-कला	४ मूर्ति-कला
५ चित्र-कला	६ यन्त्र-कला

अपराजित-पृक्षा को छोडकर अन्य ग्रन्थो मे जैसे मानसार एव मयमत आदि मे भवन-कला मे भवन केवल विमान अथवा प्रासाद है। इस प्रकार से ये ग्रन्थ (Civil Architecture) से सवथा शून्य हैं। समरागण-सूत्रधार ही हमारे देश मे (Civil Architecture) का स्थापक ग्रन्थ है। चू कि यह स्तम्भ आलेख्य एव यन्त्र से सम्बद्ध है, अत इस विषयान्तर पर पाठक हमारे भवन-निवश को देखें।

समराङ्गण-सूत्रधार का अध्ययन —अस्तु इस उपोद्घात् के उपरात हमे समरागण-सूत्रधार के अध्ययन की ओर विद्वानो को आकर्षित करना है। भारत सरकार ने भारतीय-वास्तु-शास्त्र दश ग्रन्थ-प्रकाशन-आयोजन मे अवशष जिन छै ग्रन्थो के लिए अनुदान स्वीकृत किया था उसके अनुसार अपनी पुन परिष्कृत योजना मे निम्न प्रकाशन व्यवस्था की है —

१—भवन-निवेश	भाग प्रथम—अध्ययन एव अनुवाद
	भाग द्वितीय—मूल एव वास्तु-पदावली
२—प्रासाद-निवश	भाग प्रथम—अध्ययन एव अनुवाद
	भाग द्वितीय मूल एव शिल्प-पदावली
३-यन्त्र एव चित्र	भाग प्रथम—अध्ययन एव अनुवाद
	भाग द्वितीय—मूल एव चित्र-पदावली।

टि० —प्रथम प्रकाशन (भवन-निवेश) के अनुसार ग्रन्थ-कलेवरानुरूप कुछ परिवर्तन भी अपेक्षित हो सकता है।

भवन-निवेश के दोनो भाग प्रकाशित हो चुके हैं। अब इन चारो भागो के प्रकाशन की व्यवस्था की जा रही है तो उपर्युक्त व्यवस्था मे थोडा सा परिवर्तन अनिवार्य हो गया है। इन अवशेष चारो भागो को निम्न रूप प्रदान किया है जिसमे महती निष्ठा के साथ तथा सतत प्रयत्न एव अध्यवसाय के साथ इन चारो ग्रन्थो को प्रकाश्य बना सका हू, वे अवश्य ही विशेष उपयोगी सिद्ध होंगे तथा हमारे पूवजो की पारिभाषिक एव वैज्ञानिक देन का मूल्याङ्कन भी हो सकेगा।

सर्व-प्रमुख सिद्धान्त यह है कि हम राज-भवन को प्रासाद-निवेश में शिल्प शास्त्रीय दृष्टि से सम्मिलित नहीं कर सकते। इस पर प्रासाद-निवेश में जो हमने परिपुष्ट प्रमाणों से इस सिद्धान्त को दृढ़ किया है वह वहीं पठनीय है। पुनश्च चित्र और यन्त्र ये सब ललित कलाएं राज-भवन के अभिन्न अंग थे। अतएव चित्र एवं यन्त्र को हमने, राज-निवेश, राज-भवन-उपकरण, राज-भोगोचित विलास-क्रीडाओं में सम्मिलित किया है। आलेख्य अर्थात् चित्र-कला एवं यन्त्र जैसे आमोद, सेवक, द्वारपाल, योध, विमान, धारा एवं दोला आदि यन्त्रों का एकत्र अवस्थापन कर इस तृतीय खण्ड को द्वितीय खण्ड के रूप में प्रकल्पित कर दिया है। भारतीय स्थापत्य का सबसे प्रमुख शास्त्रीय एवं स्मारक प्रोल्लास प्रासाद-शिल्प (Temple Architecture) है। वह एक प्रकार से धर्मोन्नति तथा विलास है अतः उसको अन्तिम अर्थात् तृतीय खण्ड में व्यवस्थापित किया है। अतः जैसा ऊपर संकेत किया है कि प्रथम विभागीकरण से थोड़ा अन्तर होगा—अर्थात् तृतीय अध्ययन द्वितीय अध्ययन के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है। अतएव निम्न अवशेष चारों भागों की तालिका उद्धृत की जाती है

१	यन्त्र एवं चित्र	भाग-प्रथम—अध्ययन एवं अनुवाद।
२	यन्त्र एवं चित्र	भाग-द्वितीय—मूल एवं वास्तु-शिल्प-चित्र-पदावली
३	प्रासाद-निवेश	प्रथम भाग अध्ययन एवं अनुवाद।
४	प्रासाद निवेश	मूल एवं शिल्प-पदावली।

राज-संरक्षण में प्रोल्लसित स्थापत्य —इस उपोद्घात के अनन्तर अब हम इस भूमिका में यन्त्र एवं चित्र पर शास्त्रीय दृष्टि से थोड़ा सा विचार अवश्य प्रस्तुत करना चाहते हैं। स्थापत्य को हम तीन तरह से समझने की कोशिश करें —

अ चतुर्धा स्थापत्य अर्थात् स्थपति-योग्यताएं

ब स्थपति-कोटि-चतुष्टय

स अष्टाङ्ग स्थापत्य

जहां तक 'अ' और 'स' का प्रश्न है वह हम अपने भवन-निवेश में पहले ही प्रतिपादित कर चुके हैं। अतः यहां पर इन दोनों की अवतरणा आवश्यक नहीं। यहां पर स्थपति-कोटि-चतुष्टय की अवतारणा अनिवार्य है। मानसार, मयमत आदि तथा समराङ्गण-सूत्रधार आदि शिल्प एवं वास्तु ग्रन्थों से निम्न लिखित शिल्पियों की चार कोटियां प्राप्त होती हैं —

१ स्थपति (Architect-in-Chief)
२ सूत्र-ग्राही (Engineer)
३ वर्धकि (Carpenter)
४ तक्षक (Sculptor)

जहा तक इस ग्रन्थ का सम्बन्ध है उसमे स्थपति, वर्धकि और तक्षक की कलाओ का विशेष साहचर्य है। राज-निवेशोचित एव राज-भोगोचित केवल चित्र-कलाए (आलेख्य एव पाषाणजा तथा धातुजा) ही अनिवार्य अग नही थी वरन् राज-भवनो मे शयन अर्थात् शय्या, आसन अर्थात् सिंहासन आदि, पादुका, कघे आदि फर्नीचरो का भी इन कलाओ में वर्धकि का कौशल माना गया है। अत हम इस ग्रन्थ मे शयनासन-सम्बन्धी अध्यायो को भी लाकर इस परिमार्जित सस्करण से वैज्ञानिक व्यवस्था प्रदान की है।

समरांगण-सूत्रधार के परिमार्जित सस्करण का जहा तक भवन-निवेश का सम्बन्ध था वह हम भवन-निवेश के अध्ययन मे पहले ही कर चुके है। अब यहा पर इस भाग मे आगे के ग्रन्थ-अध्यायो के परिमार्जित सस्करण-तालिका उपस्थित करेंगे, परन्तु इससे पूर्व हमे एक मौलिक आधार पर विद्वानो और पाठको का ध्यान आकर्षित करना है।

'चित्र' पद का अर्थ एकमात्र आलेख्य नही है। स्थापत्य-कौशल की दृष्टि से चित्र का पारिभाषिक एव शास्त्रीय अर्थ प्रतिमा है। इसीलिए पुराणो म (देखिए विष्णुधर्मोत्तर), आगमो मे (देखिए कामिकागम) तथा अन्य दाक्षिणात्य शिल्प-ग्रन्थो (जैसे मानसार, मयमत आदि) म सभी मे चित्र अर्थात् प्रतिमा के निर्माण मे तीन आधार-भौतिक (Fundamental) आकारानुरूप प्रकार बताए गए हैं :—

१ चित्र (Fully Sculptured)
२ अर्ध-चित्र (Half Sculptured)
३ चित्राभास (Painting)

पुन परिमार्जन—अतएव हमने चित्र के विवेचन मे समरागण का प्रतिमा-ग्रन्थ-कलेवर भी चित्र-निवेश के साथ व्यवस्थापित किया है। अत अब हम समरांगण के इस अध्ययन मे अध्यायो के परिमार्जित सस्करण की दृष्टि से जो व्यवस्था की है, उसकी यह तालिका अब उद्धृत की जाती है।

भवन-निवेश मे हमने समरांगण के ८३ अध्यायों मे से ३९ अध्यायो की वैज्ञानिक पद्धति से जो परिमार्जित एव सस्कृत अध्याय तालिका प्रस्तुत की है—वह

वही द्रष्टव्य है। यहां पर चालीसवें अध्याय से यह तालिका प्रस्तुत की जाती है। इसकी अवतारणा के पूर्व प्रमुख विषयों पर भी प्रकाश डालना उचित है, जो तीन खण्डों में प्रविभाज्य हैं।

अ राज-निवेश १ प्रारम्भिका,
२. राज-निवेश एवं राज-भवन,
३ राज-भवन-उपकरण—सभा, अश्व-शालादि,
४ राजभवनोचित फर्नीचर—शयनासनादि,
५ राज-विलासोचित—यन्त्रादि।

ब राज-संरक्षण में प्रवृद्ध कलाएं—चित्र-कला (Painting)

स राज-पूजोपयोगी-प्रतिमा-शिल्प—प्रतिमा कला (Sculpture)

अ राज-निवेश

परिमार्जित संख्या	अध्याय-शीर्षक	मौलिक संख्या
	प्रथम पटल—प्रारम्भिका	
४०	वेदी-लक्षण	६७
४१	पीठ-मान	४०
	द्वितीय पटल—राजनिवेश राज-भवन एव उपकरण	
४२	राज-निवेश	१५
४३	राज-गृह	३०
	राजभवन-उपकरण।	
४४	सभाष्टक	१७
४५	गज-शाला	३२
४६	अश्व-शाला	३३
४७	नृपायतन	५१
	तृतीय पटल—शयनासनादि-विधान	
४८	शयनासन-लक्षण	२९
	चतुर्थ पटल—यन्त्र-विधान	
४९	यन्त्राध्याय	३१
	पञ्चम पटल—चित्र लक्षण	
५०	चित्रोद्देश	७१
५१	भूमि-बन्धन	७२

राज सरक्षण मे पल्लवित एव विकसित इन ललित कलाओ की ओर थोडा सा उपोद्घात एव इस ग्रन्थ की परिमार्जित सस्करण की ओर पाठको एव विद्वानो का ध्यान दिलाकर अब हम इस अध्ययन की ओर जा रहे हैं। इस अध्ययन में हमे निम्नलिखित तीन स्तम्भो पर प्रकाश डालना है —

१ *राज-निवेश एव राज-निवेशोचित भवन, उप-भवन एव उपकरण*,
२ यन्त्र-विधान,
३ चित्र-विधान।

वैसे तो हमने अपने इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड (अनुवाद) मे इन विषयो को निम्नलिखित षट् पटलो मे विभाजित किया है, जो शास्त्रीय विषय-वैशिष्ट्य की ओर सकेत करता है —

प्रथम पटल—प्रारम्भिका—वेदी एव पीठ,
द्वितीय पटल—राज-निवेश एव राज-निवेशोपकरण।
तृतीय पटल—*शयनासन-विधान*,
चतुर्थ पटल—यन्त्र-विधान,
पचम पटल—चित्र-कर्म,
षष्ठ पटल—चित्र एव प्रतिमा के सामान्य अग।

परन्तु अध्ययन की दृष्टि से यथा-सूचित स्थपति-कोटि-चतुष्टय के अनुसार राज-निवेश स्थपति का कौशल है, शयनासन वर्धकि का कौशल है, यन्त्र तो वर्धकि एवं स्थपति दोनों के कौशल, हैं, ये स्वतः सिद्ध होते हैं। चित्र-कर्म तक्षक (Sculptor) और चित्र-कार (Painter), दोनों में विभाजित हो सकता है। इस दृष्टि से हमने इस अध्ययन को केवल तीन ही स्तम्भों में परिगणित समीचीन समझा। पहले हम राज-निवेश ले रहे हैं, जिसमें राज निवेश, राज-भवन, राज-निवेश-उपकरण तथा राजोचित शयनासन तथा राज-विलासोचित यन्त्र भी गतार्थ हैं। अतः इस प्रमुख स्तम्भ में, इन सभी सहायक स्तम्भों पर अलग अलग कुछ विचार करेंगे।

अतः राज-निवेश एवं ललित कलायें एक प्रकार से आश्रय-आश्रयि भाव-निबन्धन हैं, अतः ललित कलाओं जैसे चित्र एवं प्रतिमा का पूर्ण समन्वय असम्भाव्य है, जब तक इस राजाश्रय की देन को हम स्मरण न करें।

राज-निवेश

राज प्रासाद के निवेश में सर्व-प्रमुख अंग कक्ष्यायें (Courts) थीं। रामायण (देखिए दशरथ और राम के राज-प्रासाद-वर्णन) और महाभारत में भी वैसी ही परम्परा पाई जाती है। राज प्रासादों में कक्ष्याओं का सन्निवेश मध्य-कालीन एवं उत्तर मध्य-कालीन किसी भी राज-प्रासाद को देखें तो उनमें कक्ष्याओं का सर्व-प्रमुख अंग दिखाई पड़ेगा। राज-निवास में राज-निवेश-वास्तु का दूसरा प्रमुख अंग स्तम्भ-बहुल सभायें, शालायें, सभा मण्डप सभा-प्रकोष्ठ थे। जहां तक भूमिकाओं (Storeys) का प्रश्न है वह समराङ्गण-सूत्रधार की दृष्टि से राज-भवन में कोई वैशिष्ट्य नहीं रखती। समराङ्गण-सूत्रधार में राज निवास द्विविध परिकल्पित किया गया है—शासनोपयिक अर्थात् राजधानी और राज्य-सञ्चालन की दृष्टि से किस प्रकार से राज-निवेश परिकल्पित करना चाहिए, आवासोपयिक अर्थात् आवास की दृष्टि से राजा-रानियां विशेषकर महिषी, राजकुमार, राज-माता, अमात्य, सेनापति, पुरोहित आदि के वेश्मों के सस्थान आदि, पुनश्च राज-निवेश की तीसरी आवश्यकता विलास-भवन हैं। समराङ्गण-सूत्रधार में राज-भवनों का दो वर्गों में वर्णन किया गया है—निवास-भवन तथा विलास-भवन।

जहां तक निवास-भवनों का प्रश्न है उनमें कक्ष्याएं अर्थात् शालाएं अलिन्द आदि विशेष महत्व रखते हैं। उनमें भौमिक भवनों (Storeyed Mansions) का कोई स्थान नहीं, परन्तु विलास-भवनों में भूमियों को अवश्य निवेश प्रदान

किया गया है। आवास की दृष्टि से वास्तु-शास्त्र-दिशा भूमिकाओ का प्रयोग इस उष्ण-प्रधान देश मे उचित नही माना गया। इन विलास-भवनो मे भूमियो का न्यास शोभा-मात्र तथा वास्तु-विच्छित्ति-वैभव की दृष्टि से उत्तुङ्ग विमानकारो के कलेवर की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण माना गया है। चित्र-शालाए, नृत्य-शालाए, सगीत-शालाए आदि भी भौमिक विमानो के सदृश परिकल्पित की गई थी। ये सब विलास-भवन हैं।

मयमत और मानसार मे जो विमान-वास्तु अथवा शाला-वास्तु का प्रतिपादन है, वह एक प्रकार मे दाक्षिणात्य परम्परा का उद्बोधक है। हमारे देश मे दो प्रमुख स्थापत्य-शैलिया विकसित हुई एक नागर, दूसरी द्राविड। द्राविड कला नागो और असुरो की अति-प्राचीन कला से प्रभावित हुई। उत्तुङ्ग विमान शैलोपम, प्रसाद-शिखिरावलि-आभा से द्योतित इन भवनो का विकास विशेषकर दक्षिण भारत की महती देन है। नाग और असुर महान् कुशल तक्षक थे। डा० जायसवाल ने अपने ग्रन्थ मे इस ऐतिहासिक तथ्य पर विशेष कर भारशिव नागो पर पूर्ण प्रकाश डाला है। ये शुग एव वाकाटक वश से बहुत पूर्व माने जाते हैं। पुरातत्वीय अन्वेषणो (मोहेनजोदाडो, हडप्पा आदि) के निदर्शनो से भी यह परम्परा पुष्ट होती है। नागर वास्तु-विद्या के विकास पर वैदिक सस्कृति का विशेष प्रभाव है। शालाए ही उत्तरापथ की किसी भी भवन की अग्रजा थी। शालाओ एव शाला-भवनो के जन्म एव विकास के सम्बन्ध मे हमने इस ग्रन्थ के प्रथम अध्ययन (देखिए भवन-निवेश) मे बडी ही मनोरक कहानी तथा ऐतिहासिक तथ्यो का विश्लेषण किया है। मयमत और मानसार को देखें तो उत्तरापथीय यह शाला-वास्तु इन दाक्षिणात्य ग्रन्थो मे विमान-वास्तु की गोद मे खेलने लगा। विमानों के सदृश शालाए भी भौमिक कल्पित की गई। शिखर तथा अन्य विमान भूषाए भी उनके अग बन गई।

अस्तु *समरागण-सूत्रधार* की दृष्टि से *राज-प्रासाद* के निवेश मे शालाओ के साथ अलिन्द (कक्षाए) तथा स्तम्भ विशेष महत्व रखते हैं। इस अध्ययन के द्वितीय खण्ड (अनुवाद) मे जो राज-निवेश एव राज गृह इन दो अध्यायो मे जो विवरण प्राप्य हैं, उनसे यह औपोद्घातिक सिद्धान्त पूर्ण पुष्टि को प्राप्त होता है।

कोई भी भवन वास्तु-कला की दृष्टि से पूर्ण नही माना जा सकता, जब तक भव्य आकृति के लिए कुछ न कुछ विच्छित्तियो का अनिवार्य रूप से विन्यास

न बनाया जाय। नागर-शैली के अनुसार राज-प्रासाद-स्थापत्य में महाद्वार, प्रतोली, अट्टालक, प्राकार, वप्र और परिखा इन साधारण निवेश-कर्मों के साथ जहाँ तक विच्छित्तियों का प्रश्न है, उनमें तोरण, सिंह-कर्ण, निर्यूह, गवाक्ष, वितान और लुमाओं की भूषा एक प्रकार से अनिवार्य मानी गई है।

आधुनिक विद्वानों ने वितान-वास्तु (Dome-Architecture) को फारस की देन (Persian Contribution) मानी है। इसी प्रकार से स्थापत्य पर कलम चलाने वाले लेखक धारागृहों, लाजवर्दी जैसे रंगों को भी फारस की देन मानते हैं। यह सब धारणाएं भ्रान्त हैं। लाजवर्दी का हमने अपने चित्र-लक्षण (Hindu Conons of Painting) में विष्णु-धर्मोत्तर के 'राजावर्त' से, तथा उत्तर-प्रदेश के पूर्वीय इलाकों में लजावर शब्द के प्रचार से, जो समीक्षा दी है, उसमें इस भ्रान्ति को दूर कर दिया है। अब आइए वितान की ओर। वितान का अर्थ Canopy है और लुमाओं का अर्थ एक प्रकार से पुष्प-विच्छित्तियां हैं। वितानों के प्रकार पचीस माने गये हैं और लुमाएं सप्तधा परिकीर्तित की गई हैं। समरांगण सूत्रधार-वास्तु-शास्त्र ११वीं शताब्दी का एक अधिष्ठित वास्तु-ग्रन्थ है। उससे पहले इस देश में फारस का प्रभाव नगण्य था। उत्तर-मध्यकाल (विशेषकर मुगलकाल) में फारस की बहुत सी परम्पराओं ने यहां पर अपने पैर जमाए, परन्तु इन वास्तु-वैभवों का पूर्ण परिपाक हो चुका था। मानकद ने भी अपराजित-पृच्छा की भूमिका में इस तथ्य का परिपोषण किया है। धारा-गृह तो हमारे देश में प्राचीन काल से राज-प्रासादों के प्रमुख अंग थे, अतः उन्हें फारस की देन मानना भ्रामक है। अस्तु, इस उपोद्घात के बाद राज-प्रासाद के नाना निवेशांगों पर दृष्टि डालना उचित है।

राज-निवेशांग

१	निवास	८	वाद्य-शाला
२	धर्माधिकरण-स्थान	९	वन्दि-मागध-वेश्म
३	कोष्ठागार	१०.	धर्मायुध-शाला
४.	पक्षि-भवन, पशु-भवन	११	स्वर्ण-कर्मान्त-भवन
५.	महानस	१२	गुप्ति
६	आस्थान-मण्डप	१३	प्रेक्षा-गृह
७.	भोजन-स्थान	१४.	रथ-शाला

१५	गज-शाला	३८	नाट्य-शाला
१६	वापी	३९	चित्र शाला
१७	अन्त पुर	४०	भेषज-मन्दिर
१८	क्रीडा-शैला-आलय	४१	हस्ति-शाला (२)
१९	महिषी-भवन	४१	क्षीर-गृह—गौशाला
२०	राज-पत्नी-भवन	४३	पुरोहित-सदन
२१	राजकुमार-गृह-भवन	४४	अभिषेचक-स्थान
२२	राजकुमारी-भवन	४५	अश्व-शाला—मन्दुरा
२३	अरिष्टा-गृह	४६	राज-पुत्र-वश्म
२४	अशोक-वनिका	४७	राज-पुत्र विद्यागम-शाला
२५	स्नान-गृह	४८	राज मातृ-भवन
२६	धारा-गृह	४९	शिविका गृह
२७	लता-गृह	५०	शय्या-गृह
२८	दारू शैल, दारू-गिरि	५१	आसन-गृह—सिंहासन-भवन
२९	पुष्प-वीथी—पुष्प-वेश्म	५२	कासार तथा तडाग आदि
३०	यन्त्र-कर्मान्त-भवन	५३	नलिनी-दीर्घिका
३१	पान-गृह	५४	राज-मातुल-निकेतन
३२	कोष्ठागार (२)	५५	राज-पितृव्य-भवन
३३	आयुध मन्दिर	५६	सामन्त वेश्म
३४	कोष्ठागार (३)	५७	देव-कुल
३५	उदूखल भवन तथा शिला यन्त्र	५८	होराज्योतिषी-भवन
३६	दारू कर्मान्त-भवन	५९	सेनापति-प्रासाद
३७	व्यायाम-शाला	६०	सभा

समरांगण-सूत्रधार के मूलाध्याय (राज-निवेश) म वर्णित इन निवेशों की इतनी सुदीर्घ तालिका देखकर हम इसी निष्कर्ष पर पहुच सकते हैं कि इस राज-निवेश म आवास-निवेशों (Domestic Establishments) तथा शासन-निवेशों (Administrative Establishments) मे पार्थक्य तथा इन दोनों का भिन्न भिन्न निवेश-क्रम अर्थात् इन दोनों की भिन्नता नहीं प्रतीत होती है। बात यह है कि हम किसी भी स्मारक-निबन्धनीय राज-भवन या राज-प्रासाद को देखें तो हमे ये राज-पीठ शासनोपयिक एव निवासोपयिक दोनों

सम्याओं के मिश्रण दिखाई देते हैं। राज-स्थान के नाना राज भवन यही परम्परा पुष्ट करते हैं। मुगलों के राज-भवन भी यही पोषण करते हैं। हम संस्कृत कवियों के काव्यों (कादम्बरी, हर्ष-चरित आदि आदि) का परिशीलन करें, तो उनमे भी राज-भवनों की द्विविधा निवेश-प्रक्रिया का अवलम्बन किया गया है, जिस को हम वास्तु-शास्त्रीय दृष्टि से अन्त: शाला और बहि शाला के रूप में परिकल्पित कर सकते हैं। मुगलों के राज-पीठों को देखिए, उनमे भी दीवाने आम तथा दीवाने-खास भी इसी अन्त शाला और बहि शाला के अनुगामी थे।

यहा पर एक और भी ऐतिहासिक तथ्य की ओर संकेत करना है। परा राज-भवन का श्रीगणेश दुर्गों (Fortresses) से प्रारम्भ हुआ था। इन दुर्गों मे सब से प्रमुख अग रक्षा-व्यवस्था-निवेश थे—जैसे महा-द्वार, गोपुर-द्वार, पक्ष-द्वार, अट्टालक, प्राकार परिखा, वप्र, कपिशीर्षक, काण्डवारिणी आदि आदि जो समरागण-सूत्रधार के इस राज निवेश-शीर्षक अध्याय मे भी इसी प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। पुन कालान्तर पाकर जो राज-ऐश्वर्य तथा राज-भोग राज-शासन तथा राज-समार विकसित हुए तो स्वत निवेशागों की सख्या भी बढती बढती इतनी बडी निवश-सख्या हो गई।

शास्त्रीय दृष्टि से अब हम राज-निवेश के यथानिर्दिष्ट प्रमुख अगो पर प्रकाश डालेगे, जिसमे राज निवेश मे प्रथम स्थान आवास-भवन है, पुन विलास-भवन आते हैं। उस के बाद अनिवार्य उपकरण भवन यथा सभा, गज-शाला, अश्व-शाला तथा राजानुजीवियो के आयतन-विशेष भी निर्देश्य हैं। इन सब पर हमे यहा विशेष प्रस्तार की आवश्यकता नही है, जो राज-निवश-उपकरण-शीर्षक—अनुवाद पटल मे द्रष्टव्य हैं।

यहाँ पर सबसे बडी शिल्पदिशा से जो वास्तु-महिमा विवेच्य है, उसकी ओर अब हम कदम उठाते हैं।

कक्ष्या-निवेश—अलिन्द-निवेश —शास्त्र एव कला दोनो दृष्टियो मे राज-भवनो की प्रमुख विशेषता कक्ष्या निवेश है। मानसार आदि दाक्षिणात्य ग्रन्थो मे तो अन्त शाला और बहि शाला के विवरण प्राप्त होते हैं, परन्तु समरागण-सूत्रधार मे शालाओ एव अलिन्दो के ही विशेष विवरण राज-भवन-विन्यास मे प्राप्त होते हैं। सौभाग्य से हम ने जब यह देखा कि प्राय प्रत्येक राज-भवन-प्रभेद के प्रत्येक म कम से कम चार अलिन्द अनिवार्य हैं तो जहा अलिन्द होगे वहा खुले आगन अवश्य होगे। बृहत्संहिता मे जो मुझे अलिन्द शब्द की निम्न

टीका —

"अलिन्दशब्देन शालाभित्तेर्बहिर्गमनिका जानकावृतागरणसम्मुखा" मिली है, इसने पूरा का पूरा सदेह निराकरण कर दिया। अत समरांगण-दिशा मे भी जो निदर्शन प्राप्त होने है उसका भी परिपोषण इस ग्रन्थ मे प्राप्त होता है।

राज-भवन-वास्तु-तत्व —राज-प्रासाद व राज-भवन म ी दृष्टि म चारो भवन-शैलियो (प्रासाद-वास्तु सभा-वास्तु (मण्डप—वास्तु), शाला-वास्तु तथा दुर्ग-वास्तु) के मिश्रण है। प्रासाद वास्तु का अनुगमन इसमे विशेषकर शृगो मे ही आभास प्राप्त होता है । समरागण की दिशा मे आवास-भवन यत अट्टालकादि, प्राकारादि वि ोपो से ही वि ि ष्ट है, परन्तु वि ास-भवन यत भौमिक भी है अत उनमे शिखरावलिया एव शृग-भूषायें विशेष विभाज्य है। अब आइये सभा वास्तु की ओर। सभा-वास्तु की सब-प्रमुख विशेषता स्तम्भ-बहुलता है। विश्वकर्म-वास्तुशास्त्र मे नाना सभाओ का जो वर्णन प्राप्त होता है, उन मे विशेष महत्व स्तम्भ-प ्या का है। द ि ा की ओर मुडिये वहा जो मण्डप वास्तु महान् प्रकर्ष को पहुचा था, उसमे भी यही स्तम्भ-बाहुल्य-विशेषता है। वहा के मण्डपो की शत-मण्डप, सहस्र-मण्डप, इन सज्ञाओ का अर्थ स्तम्भ-सख्या का द्योतक है अर्थात सौ स्तम्भो वाल मण्डप या हजार स्तम्भो वाले मण्डप। किसी भी प्राचीन राज प्रासाद-निदर्शन जो देव - मुगलो के अथवा राजस्थानियो के सभी मे सभा-मण्डप, ास्थान-मण्डप आदि जितने भी वहा दृष्टिगोचर हो रहे हैं, उन सभी मे स्तम्भ-बाहुल्य भी साक्ष त प्रतीत होता है। तीसरा वास्तु-तत्व अर्थात् शाला-वास्तु, वह भी राज-भवन क मूल न्यास के प्रतिष्ठापक है। शाल-भवनो की कहानी, शाला का अर्थ (अर्थात् कक्षा कमरा चैम्बर), शाल-भवन-विन्यास प्रक्रिया, द्रव्याद्रव्य-योजना याज्यायोज्य-व्यवस्था आदि आदि पर हम अपने भवन-निवेश म इस सम्बन्ध मे बहुत कुछ कह चुके हैं, उसकी पुनरावृत्ति यहा आवश्यक नही। यहा तो क्वल इतना ही सूच्य है कि इन राज-भवनो मे भी शालाए ही सर्वाधिक वि ्यास के अग है। अब आइये चौथे तत्व पर जिस पर हम पहले ही कुछ निर्देश कर चुके हैं अर्थात् महाद्वार, गोपुरद्वार, पक्षद्वार, अट्टालक, प्राकार, परिखा वप्र आदि।

इन वस्तु-तत्वो की इस अत्यन्त स्थूल समीक्षा के उपरान्त अब हमे दो महत्वपूर्ण वास्तु तत्वो पर भी प्रकाश डालना है। पहला प्रश्न यह है अथवा पहली समस्या यह कि राज-भवन, देव-भवन के अग्रज है या अनुज है ? इस

प्रश्न को हम यहा नही लेना चाहते, इसका उत्तर हम अन्तिम अध्ययन (प्रासाद निवेश) मे देंगे। जब तक हम प्रासाद-वास्तु की उत्पत्ति, प्रसृति, शैली, निवेश, अगोपाग, भूषा तथा अन्य निवेश—इन सब का जब तक शास्त्रीय एव कलात्मक विवरण न प्रस्तुत किया जाय तो इस वैमत्य अथवा ऐकमत्य का समर्थन या मण्डन कैसे किया जा सकता है। अत यह प्रश्न वहीं पर विश्लेषणीय है।

अब आइये दूसरे प्रश्न पर, प्राचीन राज-भवनो मे जो वितान-वास्तु (Dome architecture) के तत्व एव निदर्शन मिलते हैं, वे हमारे शास्त्र और कला के निदर्शन है अथवा ये फारस की देन हैं ? आधुनिक वास्तु-कला-विशारदो ने भारत के वितान-वास्तु को फारस का श्रेय माना है। यह धारणा मेरी दृष्टि मे भ्रामक है। समरागण-सूत्रधार के राज-गृह-शीर्षक अध्याय मे राज-गृह की नाना विच्छित्तियो पर जो प्रवचन प्रदान किये गये हैं उनमे निर्यूह, कपोत-पाली, सिंह-कर्ण, तोरण, जालक आदि के साथ साथ वितान और लुमाओ पर भी बडे पृथुन प्रतिपादन प्राप्त होते है। वितानो की सख्या पचीस है (दे० अनु०) और लुमाओ की विधा है सात (दे० अनु०)। अब वितान का क्या अर्थ है एव लुमा का क्या अर्थ है—यह समझने का प्रयास करें। लुमा पौष्पिक विच्छित्ति (Flower-like decorative motif) है, जो वितान (Canopy) का अभिन्न अग है। लुमा और लुपा शिल्प-दृष्टि से एक ही है। दाक्षिणात्य ग्रन्थो (दे० मानसार) मे लुमा के स्थान पर लुपा का प्रयोग है। रामराज ने जो लुपा की व्याख्या दी है, वह हमारे इस तथ्य का पोषण करती है। यह व्याख्या उद्धरणीय है —

'A sloping and projecting member of the entablature etc representing a continued pent-roof It is made below the cupola and its ends are placed as it were, suspended from the architrave and reaching the slab of the lotus below'

इस दृष्टि से य लुमाए (पौष्पिक विच्छित्तिया) वितान (dome) की अभिन्न अग हैं। रामराज की परिभाषा ने लुमाओ को वितान (dome) के गोद मे क्रीडा करवा दी है। अत वितान-वास्तु (Dome Architecture) हमारे देश की ही विभूति है। अपराजित-पृच्छा मे भी जो लुमाओ और वितानो के विवरण प्राप्त होते हैं, वे भी इस सिद्धान्त को दृढ करते हैं। मानकद ऐसे आधुनिक प्रथित-कीर्ति इजीनियर, जिन्होने अपराजित-पृच्छा की भूमिका लिखी है, उस मे जो उन्होने अपना मत दिया है वह भी हमारी धारणा का समर्थन करती

यद्यपि वे कुछ विशेष इस सम्बन्ध मे मुखर नही हैं।

अब अन्त मे जहा तक स्मारक-निदर्शनो का प्रश्न है, उनको अब हम यहा पर विशेष-विस्तार मे नही छेडना चाहते हैं, अत यह शास्त्रीय अध्ययन है। सुदूर अतीत में निर्मित अशोक का राज-प्रासाद, जो काष्ठमय था, वह भी सभा-वास्तु का प्रथम निदर्शन है। साथ ही साथ इन्हीं स्तम्भो की विच्छित्तिया आगे चलकर प्रासाद-स्थापत्य जैसे आमलक एव गुप्त-कालीन-विच्छित्तियो यथा घट-पल्लव आदि सभी के प्रारम्भक हैं। सकप-नामक प्राचीन नगरी के भग्नावशेषो मे, अमरावती तथा अजन्ता के स्मारको में, गुप्तकालीन राज-भवनो के निदर्शनो म—ये सब वास्तु-तत्व प्रत्यक्ष दिखाई पडत हैं।

आगे चलकर मध्यकालीन राज-भवनो की अभिरया देखें एव सुषमा निहारें तो इन राज-गृहो मे बडे विस्तार-सभार प्राप्त होते है। विशेषकर उत्तर-मध्यकाल मे राजपूताना, बुन्देलखण्ड तथा मध्यप्रदेश मे जो राज-भवन बनें जैसे—धारा और ग्वालियर एव दतिया और ओरछा, अम्बर तथा उदयपुर एव जोधपुर और जयपुर आदि इन नगरा म जो राज-भवन-निदर्शन प्राप्त होते है, वे सब राज-भवनो की एक परम्परागत अटूट शैली एव श्रेणी के उद्बोधक हैं। जहा तक राज-भवन-वर्गों की बात है वह अनुवाद मे दृष्टव्य है। राज-भवन प्रधानतया द्विविध हैं निवास-भवन तथा विलास-भवन। दोनो के नाना पारिभाषिक भेद हैं जैसे पृथ्वीजय आदि वे सब वही पठनीय हैं। इस थोडी सी समीक्षा के उपरान्त समरागण के शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से थोडा सा राज-निवेश-उपकरणा पर भी सकेत आवश्यक है।

राज-निवेश-उपकरण —इस ग्रन्थ मे सभा, गज-शाला, अश्व-शाला तथा आयतन (अर्थात राजानुजीवियो के घर जो राज-भवन में न्यून प्रमाण मे विनिर्मेय हैं,) ही विशेष उल्लेख्य हैं। जहा तक सभा, गजशाला का प्रश्न है उनके विवरण अनुवाद मे ही दृष्टव्य है, परन्तु अश्व-शाला के सम्बन्ध मे सबसे महत्वपूर्ण प्रतिपाद्य यह है कि किसी भी वास्तु या शिल्प ग्रन्थ मे इतना वैज्ञानिक, पारिभाषिक एव पृथुल प्रतिपादन नही प्राप्त होता। इस अध्याय मे कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्द भी हैं, जिनका अर्थ बडे ऊहापोह के बाद लग सका। उदाहरण के लिए लीजिए 'स्थानानि' इसका अर्थ स्थान है। परन्तु उत्तर प्रदेश के किसी पुर, पत्तन, ग्राम मे जाइये तो वहा पर जहा घोडे बाधे जाते हैं, उनको थाना कहते हैं और वे थाने बडे विशाल एव विस्तृत बनाए जाते थे। अत वास्तु-दृष्टि से यह पद (स्थान) थाना का पूर्ण परिचायक है। जिस

प्रकार अभी तक वेसर अथवा मण्डक अथवा अन्य अनेक वास्तु-पदों ने जो अर्थ अज्ञेय थे, उनको मैंने महामाया की कृपा से ज्ञेय बना दिया। भवन-निवेश के 'पद' शीर्षक अध्याय को देखें, वहां पर 'पद', 'हवक' आदि नाना पदों की जो व्याख्या दी है, उससे हमारा यह वास्तु-शास्त्र कैसा पारिभाषिक शास्त्र में परिणत हो गया है। अभी तक आधुनिक विद्वानों ने इन वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थों को पौराणिक अथवा कपोल-कल्पित अथवा मनघड़न्त के रूप में मूल्यांकन करते आए हैं। अस्तु, अश्वशाला के भी विवरण वहीं अनुवाद में अवलोक्य हैं। हां यहां पर थोड़ा सा सभा तथा अश्वशाला के प्रमुख निवेशांगों पर थोड़ा सा प्रकाश आवश्यक है।

सभा :—सभा भवन-वास्तु की सर्व प्राचीन कृति है। वैदिक वाङ्मय तथा विशेष कर महाभारत एवं रामायण में सभाओं के अनेक उल्लेख एवं विवरण मिलते हैं। महाभारत में तो एक पर्व सभा पर्व के नाम से ग्रथित है। जिसमें यम-सभा, इन्द्र सभा, वरुण-सभा, कुबेर-सभा, ब्रह्म-सभा आदि प्रकीर्तित है। इन सभा-भवनों की विशेषता वैदिक काल से लेकर आज तक स्तम्भ-बाहुल्य वास्तु वैशिष्ट्य है। राज-भवनों में जो अन्तःशाला एवं बहिःशाला हैं वे भी सभा-भवन पर बनी हैं तथा वैसी ही विच्छित्तियां दर्शनीय हैं। अनुवाद भी यही समर्थन करता है।

अश्वशाला – अब आइये अश्व-शाला की ओर, जिसमें निम्नलिखित निवेशों का प्रतिपादन आवश्यक है –

१. अश्वशाला-निवेश अंगोपांग सहित,
२ अश्वशालीय सभार,
३ घोड़ों के बांधने की प्रक्रिया एवं पद्धति,
४ अश्वशाला के उप-भवन (Accessory Chambers)

अश्व-शाला-निवेश अनुवाद में द्रष्टव्य है, परन्तु इसके प्रमुख निवेशांग निम्न हैं :

१ यवस-स्थान (Granary) जहां पर घास जमा की जाती है,
२ खादन-कोष्ठक (Manager) अर्थात् नांदें,
३. कीलक अर्थात् खूंटे जिनके द्वारा उनका पञ्चांगी-निग्रह अनिवार्य है।

इन सब निवेशों के विवरण-प्रमाण, आयाम, उचित-स्थान सब अनुवाद में द्रष्टव्य है।

४. अश्वशालीय सभार—अग्नि स्थान, जल-स्थान, ऊखल-निवेश-स्थान आदि के अतिरिक्त जो सम्भार अनिवार्य है उनमें निःश्रेणी (Stair-case), कुड्य,

फंक, उद्दालक, गुडक, युक्त-योग, खुर, कैची, मीर, कुल्हाडी, नाद्य, प्रदीप, हस्तवासी, शिला, दर्वी, थाल, उपानह पिटक तथा नाना वस्तियाँ–ये सब अनिवार्य सभार है ।

घोडो के बाधने की प्रक्रिया एव पद्धति थाने (स्थानानि) इस पद पर हम पहले ही प्रकाश डाल चुके हैं। रघुवंश (पाचवा सर्ग) देखिए 'दीर्घेष्वमी नियमिता पटमण्डपेषु" इन स्थानो—थानो का समर्थन करता है। इन थानो का आमुख्य, स्थापन, दिङ्-सामुख्य, निवेश्य पद, आदि पर जो विवरण आवश्यक है वे सब वही अनुवाद मे द्रष्टव्य है।

अश्वशाला के उप-भवन–भेषजागार या औषधि-स्थान (Medical Home)–इसके लिए निम्नलिखित चार उप-भवन (Accessory Chambers) अनिवार्य विवेश्य है –

१ भेषजागार (Dispensary)
२ अरिष्ट-मन्दिर (The lying-in-Chamber)
३ व्याधित-भवन (The hospital and sick-ward)
४ सवसम्भार-वेश्म (Medical Stores)

यहा पर सब प्रकार की औषधिया, तैल, नमक, वर्तिया आदि आदि सग्रहणीय हैं।

इन अश्व-शालाओ के निर्माण मे वास्तु-शास्त्र की दृष्टि से इन्हे विशाल बनाना चाहिए तथा इनकी दीवालो को सुधा व घ से दृढ करना चाहिए और इनमे ग्रीवो की अलङ्कृति भी आवश्यक है। इससे इन अश्व शालाओ के द्वार उन्नु ग एव अलकृत दिखाई पडते है।

शयनासन

वास्तु की व्युत्पत्ति वस्तु पर निर्धारित है। वस्तु है भूमि वास्तु हुआ भौम या भौमिक। जो भी पार्थिव पदार्थ या द्रव्य है उसको जब किसी भी क्रिया से किसी भी कृति मे हम परिणत कर देते हैं तो वह वास्तु बन जाता है। समरागण-सूत्रधार का यह निम्न प्रवचन इसी तथ्य एव सिद्धान्त को दृढ करता है -

'यच्च येन भवद द्रव्य मेय तदपि कथ्यते'—'मेय' मे वास्तु के मान का महत्व-पूर्ण स्थान विहित है। बिना प्रमाण कोई भी वास्तु निश्चित कृति मे नही परिणत हो पाता। अतएव भारतीय वास्तु-शास्त्र का क्षेत्र बडा ही व्यापक है। वह सार्वभौमिक तो है ही साथ ही साथ आधिदैविक एव

आधिभौतिक भी है । वास्तु से तात्पर्य केवल पुर, नगर, भवन, मन्दिर या प्रतिमा मात्र से नही । जो भी निवेशित है, जो भी मानित है वह सब वास्तु है। इस व्यापक दिशा में तक्षण, दारुकर्म, आलेख्य-कर्म आदि भी गतार्थ हैं।

स० सू० का यह शयनासन-शीर्षक अध्याय बड़ा ही वैज्ञानिक, पारिभाषिक एवं अनुपम है । अन्य किसी ग्रन्थ में ऐसा पृथुल एवं प्रवृद्ध शयनासन-विषयक प्रतिपादन नही मिलता । मानसार, मयमत आदि शिल्प ग्रन्थों में वास्तु-पद में धरा यान, स्यन्दन (अथवा पर्यंक) तथा प्रासाद ये हो चतुर्थां क्षेत्र हैं तथापि इन ग्रन्थो मे यद्यपि सिंहासनादि एवं अन्य पजर तथा नीडादि दोलादि दीप-दण्डादि नाना फर्नीचर के भी विवरण हैं तथापि वहा शय्या पर इतने वैज्ञानिक एवं परिमार्जित विवरण नहीं मिलते।

शय्या अथवा आसन आदि इन विधानो के लिये सर्व प्रथम शुभ लग्न, शुभ मुहूर्त आवश्यक है। इन शय्याओं एवं आसनों के निर्माण मे किस किस वृक्ष की लकड़ी लानी चाहिए—ये विस्तार बडे पृथुल हैं (दे० अनुवाद) । राजों, महाराजो के लिए जो शय्या विहित है उसमे स्वर्ण, रजत हस्तिदन्त आदि की जड़ावट आवश्यक है। शय्या की लम्बाई और चौड़ाई भी व्यक्ति-विशेष के अनुरूप विहित है। राजाओं की शय्या १०८ अंगुल के प्रमाण में बतायी गयी है चौडाई से दुगुनी सदैव लम्बाई होनी चाहिए।

एक-दारु-घटिता शय्या प्रशस्त मानी गयी है। द्वि-दारु-घटिता शय्या अनिष्ट बतायी गयी है। तथा त्रिदारु-घटिता शय्या तो शयालु की तात्कालिक मरण बताती है —

"त्रिदारुघटितायां तु शय्यायां नियतो वधः"

शय्याओं में जो पारिभाषिक वास्तु-पद दिये गये हैं, वे हैं—उत्पल, ईशा-दण्ड, कुप्य तथा पाद । सबसे बड़ी विशेषता यह है कि घटिता शय्या में ग्रन्थियां कभी नहीं होनी चाहिये । ग्रन्थियां अथवा छिद्र दोनों ही वर्ज्य हैं । ग्रन्थियों की निम्न षड्विधा द्रष्टव्य है —

निष्कुट	क्रोडनयन	कालक
कालदृक्	वत्सनाभक	बन्धक

इन सबके विवरण अनुवाद में अवलोकनीय हैं । अतः यहां पर इतना सूच्य है कि शय्या कैसी वैज्ञानिक प्रक्रिया से बनती थी। इसी प्रकार आसन, पादुका, वर्षे आदि भी इस शयनासन-विधान में वर्णित किये गये हैं। अब आइये यन्त्र-विधान (यन्त्र-कला अर्थात् Mechanics) की ओर।

राज-विलास
(नाना यन्त्र)

यन्त्र-घटना—महाकवि कालिदास के महाकाव्य (देखिए रघुवंश) मे पुष्पक-विमान का जो उल्लेख है, उसी प्रकार से पुराणो में बहुत से सकेत प्राप्त होते है, उनसे जो यह परम्परा विमानो की ओर सकेत करती है, वह अभी तक कपोल-कल्पना के रूप मे कवलित की गई है। यन्त्र शब्द तत्र के समान ही बड़ा ही प्राचीन है। मेरी दृष्टि मे तन्त्र वास्तव मे शास्त्र अर्थात् पारिभाषिक शास्त्र की सज्ञा थी और यन्त्र एक प्रकार मे पारिभाषिक कला थी। जो यन्त्र वही मशीन। मानव सब कुछ अपने हाथो नही कर सकता था; अतएव प्रत्येक जाति एव देश की सभ्यता मे यन्त्रो का जन्म एव विकास प्रादुर्भूत हुआ। वात्स्यायन के काम सूत्र में जिन ६४ कलाओं का विलास वर्णित किया गया है, उनमे यन्त्र-मातृका भी तो थी। आज तक कोई भी विद्वान् इस कला की परिभाषा न दे सका, न समझ ही सका। डा० आचार्य ने अपने ग्रन्थ मे (H A I A) जिन्हो ने इस कला की निम्न व्याख्या की है —

"the art of making monographs, logographs and diagrams Yasodhara attributes this to Visvakarma and calls Ghatana ststra (Science of accidents)"

अर्थात् जिस दृष्टि से अर्थात् यशोधर की व्याख्या से आदरणीय डा० आचार्य जिस निष्कर्ष को पहुचे है, वह सवथा भ्रान्त है। इस काम-सूत्र के लब्ध-प्रतिष्ठ व्याख्याकार यशोधर का इसी व्याख्या म ही मैंने इस कला को वास्तविक रूप मे ला दिया है। यशोधर ने इस कला की व्याख्या मे लिखा है —

"सजीवाना निर्जीवाना यानोदकसग्रामार्थघटनाशास्त्र विश्वकर्मप्रोक्तम्"

इस परिभाषा से स्पष्ट है कि यान से तात्पर्य विमानादि (Conveyance and aeroplanes) यन्त्रो से है, उदक से तात्पय धारा, तथा अन्य जलीय यन्त्रो से है तथा सग्राम से अर्थ सग्रामाथ यन्त्रो म है, जिनकी परम्परा वैदिक ऐतिहासिक एव पौराणिक सभी युगो मे पूर्ण रूप से प्रवृत्त थी—जैसे आग्नेयास्त्र (Fire Omitter), इन्द्रास्त्र (Anti-Agneya Rain-producer), वारुणास्त्र (Producing terrible end, violent storms)। इसी प्रकार महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों मे भुशुडी, शतघ्नी तथा सहस्रघ्नी जो आजकल आधुनिक मशीनगन स्टेनगन, और टैको के साथ प्रकल्पित किये

जा सकते हैं। अस्तु, यह निस्सन्देह है, जैसा हमने ऊपर संकेत किया है, उस दृष्टि से यह निष्कर्ष कि हम लोग यान्त्रिक-कला एव यन्त्र-विज्ञान से सर्वथा शून्य थे, अपरिचित थे—यह धारणा निराधार है। अब देखें कि समरागण-सूत्रधार का यह यन्त्राध्याय किस प्रकार से इस भ्रान्त धारणा को उन्मूलन कर देता है। इस के प्रथम थोड़ा सा और उपाद्घात आवश्यक है।

हम बहुत बार पाठको का ध्यान आकर्षित कर चुके है कि जहा वेद थे वहा उपवेद भी थे। उपवेद ही वैज्ञानिक एव पारिभाषिक शास्त्रो के जन्मदाता एवं प्रतिष्ठापक थे। यन्त्र-विद्या, धनुर्विद्या की अभिन्न अग थी। धनुर्विद्या, धनुर्वेद के नाम से हम कीर्तित कर सकते है, क्योंकि जिस प्रकार ऋग्वद का उपवेद आयुर्वेद, उसी प्रकार से यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद (Military Science) था। 'धनु' शस्त्रो एव अस्त्रो का प्रतीक था। शस्त्र हमारे वाङ्मय मे चतुर्विध वर्गीकृत किये गये है —

१ मुक्त	३ मुक्तामुक्त तथा
५ अमुक्त	४ यन्त्र-मुक्त

उपर्युक्त शतघ्नी, सहस्रघ्नी, चाप आदि सब यन्त्र-मुक्त शस्त्रास्त्र बोधव्य है। डा० राघवन ने अपन Yantras or Mechanical Contrivances in Ancient India नामक पुस्तक म सस्कृत-वाङ्मय में आपतित यन्त्र-सन्दर्भो पर पूरा प्रकाश डाला है। परन्तु उनकी दृष्टि मे यन्त्र की व्याख्या उन्हो ने यन्त्र-विज्ञान न मान कर यन्त्र घटना अथवा गढन के रूप में परिकल्पित किया है। परन्तु समरागण-सूत्रधार के यन्त्राध्याय के नाना प्रवचनो से यन्त्र-विज्ञान की ओर पूर्ण प्रकाश पडता है। अत बिना dogmatic approach के हम आगे वैज्ञानिक ढग से कुछ न कुछ इस तथ्य का पोषण अवश्य कर सकेगे कि हमारे देश मे यन्त्र-विद्या (यन्त्र-विज्ञान) भी काफी प्रवृद्ध थी, जो महाभारत के समय की बात थी, परन्तु पूर्व एव उत्तर मध्यकाल में इसका ह्रास हो गया। अतएव समरागण-सूत्रधार के अतिरिक्त इसी के लेखक धाराधिप महाराजाधिराज भोजदेव के द्वारा ही विरचित कोदण्ड-मण्डन, इन दो ग्रन्थो को छोडकर अन्य ग्रन्थ एतद्विषयक प्राप्त नहीं हैं। अतएव यन्त्र-विद्या तथा यन्त्र-विज्ञान को आधुनिक दृष्टि से हम पूरी तरह नहीं ला सकते। यही कारण है कि डा० राघवन ने Mechanical Contrivances इस शीर्षक से यन्त्रो की ओर गये। अन्यथा Science लिखना विशेष उपयुक्त था। समझने की बात है, विचारने की बात है कि कुतुब-मीनार के निकटस्थ अशोक का

लौह-स्तम्भ किस यन्त्र के द्वारा आरोपित किया गया था और कैसे बना था—केवल यही ऐतिहासिक निदर्शन हमारे लिये पर्याप्त है कि हमारे देश में यान्त्रिक एव इन्जीनियरिंग कौशल किसी देश से पीछे नहीं था। समरागण-सूत्रधार (मूल ३१ ८७, परिमार्जित सस्करण ४९ ८७)
का निम्न प्रवचन पढे —

पारम्पर्य कौशल सोपदेश शास्त्राभ्यासो वास्तुकर्मोद्यमो धी.।
सामग्रीय निर्मला यस्य सोऽस्मिश्चित्राण्येव वेत्ति यन्त्राणि कर्तुम्॥
यन्त्रणा घटना नोक्ता गुप्त्यर्थ नाज्ञतावशात्
तत्र हेतुरय ज्ञेयो व्यक्ता नैते फलप्रदाः॥

अस्तु, इस उपोद्घात के बाद हम इस स्तम्भ मे यन्त्र-विज्ञान उसके गुण, प्रकार एव विधा को एक एक करके विचार करेंगे, जिससे पाठक इस उपोद्घात का मूल्याकन कर सकने मे समर्थ हो सकेंगे। अनुवाद भी पढकर कुछ विशेष आश्चर्य का अनुभव कर सकेंगे कि हमारे देश मे यह विज्ञान सर्वथा अवश्य था —

यन्त्र-परिभाषा	देखिए अनुवाद
यन्त्र-बीज	देखिए अनुवाद
यन्त्र-प्रकार	देखिए अनुवाद
यन्त्र-गुण	देखिए अनुवाद

यहा पर अनुवाद-स्तम्भ की ओर तो ध्यान आकर्षित कर ही दिया, परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि यन्त्र-परिभाषा एव यन्त्र-बीज पर जो लिखा गया है वह कितना वैज्ञानिक है इस से अधिक और क्या वैज्ञानिक परिभाषा एव वैज्ञानिक बीज (Elements) निर्धारित किये जा सकते हैं। प्रकारो पर जो प्रकाश डाला गया है-जैसे स्वयवाहक (automatic) सकृत्प्रय (Requiring propelling only once) अन्तरित-वाह्य (operation of which is concealed, i e the principle of its action and its motor mechanism are hidden from public view) तथा अदूर-वाह्य (the apparatus of which is placed quite distant)—यह सब कितना वैज्ञानिक एव विकसित सा प्रतीत होता है। साथ ही साथ शायद ही आज के युग मे भी यन्त्र-गुणो की बीस प्रकर्षताओ पर जो प्रकाश इस ग्रन्थ मे डाला गया है, वह सम्भवत कही पर भी प्राप्य नही है। यन्त्र-गुणो की तालिका सुसम्बद्धा यहा पर अतएव अवतारणीय है —

१ यथावद्बीज-सयोग (Proper combination of Bijas in proportion),

२ सौश्लिष्ट्य Attribute of being well-knit construction
३ श्लक्ष्णता Smoothness and fineness of appearance
४ अलक्ष्यता Invisibleness or insurtability
५ निर्वहण Functional Efficiency.
६ लघुत्व Lightness
७ शब्द-हीनता Absence of noise where not so desired
८ शब्दाधिक्य Loud noise, if the production aimed at, is sound
९ अशैथिल्य Absence of Looseness
१० अगाढता Absence of stiffness
११ सम्यक्-सञ्चरण Smooth and unhampered motion in all conveyances
१२ यथाभीष्टार्थकारित्व Fulfilling the desired end i e production of the intended effects (in cases where the ware is of the category of curos)
१३ लयताल-अनुगामित्व Following the beating of time, the rhythmic attributes in motion (particularly in entertainment wares)
१४ इष्टकाल-अर्थदर्शित्व Going into action when required
१५ पुनः सम्यक्त्व-सवृति Resumption on the still state when so required
१६ अनुल्वणत्व Beauty i e absence of an uncouth appearanec
१७ तादूप्य Versimilitude (in the case of bodies intended to represent birds and animals)
१८ दार्ढ्य Firmness
१९ मसृणता Softness
२० चिर-काल-सहत्व Endurance

यन्त्र-कार्य —देखिए अनुवाद।

यन्त्र-कर्म मे जो गमन, सरण पात, पतन, काल, शब्द, वादित आदि जो इस ग्रन्थ मे निर्दिष्ट किये गये हैं, उनसे आधुनिक नाना मशीनो जैसे घडिया, रेल, मोटर, रेडियो, वार्रि तथा विमान (aeroplane) सभी प्रकल्प्य प्रतीत होते हैं।

आधार-भौतिक क्रिया-कौशल की दृष्टि से प्रथम तो क्रिया ही मौलिमालायमान एवं मूर्धन्य है जिस से गमन, पतन, पात, सरण आदि विभाव्य है।

जहा तक काल का प्रश्न है, उससे आधुनिक घडियो की ओर सकेत है—यह तो हम ऐतहासिक दृष्टि से पुष्ट कर सकते है कि उस प्राचीन एव मध्यकालीन युग मे जल-घडिया तथा काष्ठ-घडिया तो विद्यमान थी ही।

जहा तक शब्द-विद्या का प्रश्न है वह आधुनिक वाद्य-यन्त्र का ओर सकेत कर रही है, क्योकि वादित्र—गीत, वाद्य एव नृत्य के साथ जो अन्य नाना बाजो जसे पटह, मुरज, वश, वीणा, कास्यताल, तुमिला, करताल और नाटक, ताण्डव, लास्य, राजमार्ग, देशी आदि, नृत्यो एव नाट्यो की ओर जो सकेत है, व क्या तत्कालीन आधुनिक रेडियो का ओर सकेत अथवा मूल भित्ति (Foundation) का ओर हमे नहो ले जा सकते अन्यथा यन्त्रो के द्वारा इनको निष्पत्ति, प्रादुर्भाव या आविर्भाव की ओर व्याख्यान करने का क्या अभिप्राय है?

यन्त्र-कर्मो मे उच्छ्राय-पात, सम-पात, समोच्छ्राय एव अनेक उच्छ्राय-प्रकारो पर, जो प्रकाश इस ग्रन्थ-रत्न मे प्राप्त होता है, उसमे महावैज्ञानिक वारि-यन्त्रो तथा धारा यन्त्रो की पूरी पूरी पुष्टि प्राप्त होती है।

इसी प्रकार नाना-विध यन्त्रो के कर्मो पर भी प्रकाश डाला गया है—जैसे रूप, स्पर्श तथा दोला एव क्रीडायें एव कौतुक एव आमोद। सेवा (Service) रक्षा (defence) आदि काय भी इन्ही यन्त्रो के द्वारा उल्लेख किये गये हैं। यह आगे के स्तम्भ यन्त्र-प्रकार से स्वत परिपुष्ट हो जाता है।

यान-मातृका की परिभाषा को हमने जो वैज्ञानिक व्याख्या सर्व-प्रथम इस भारत-भारती (Indology) मे पाठको के सामने रक्खी है उसी के अनुसार यह समरांगण-सूत्रधार भी उसी ओर हमे ले जा रहा है। समरागण-सूत्रधार के इस यन्त्राध्याय मे जो नाना यन्त्र वर्णित किये गये है उनको हमने निम्न षड्विधा मे वर्गीकृत किया है —

१ आमोद यन्त्र —इस वर्ग मे

(i) भूमिका-शय्या-प्रसर्पण

(ii) क्षीराब्धि-शय्या

(iii) पुत्रिका-नाडी-प्रबोधन

(iv) नाडिका-प्रबोधन-यन्त्र

(v) गोल-भ्रमण-यन्त्र Chronometre-like-object
(vi) नर्तकी-पुत्रिका Dancing Doll
(vii) हस्ति-यन्त्र
(viii) शुक-यन्त्र

२ सेवा एवं रक्षा-यन्त्र —

(i) सेवक-यन्त्र (iv) योध-यन्त्र
(ii) सेविका-यन्त्र (v) सिंहनाद-यन्त्र
(iii) द्वार-पाल-यन्त्र

३ संग्राम के यन्त्र :—इन के केवल संकेत हैं; परन्तु घटना पर प्रकाश नही डाला गया है। इनमे चाप, शतघ्नी, उष्ट्र-ग्रीवा आदि संग्राम यन्त्र ही सूचित है।

४ यान-यन्त्र :—अम्बरचारि-विमान-यन्त्र को हम अन्त मे परिपुष्ट करेंगे।

५ वारि-यन्त्र :—इसमे जैसा पीछे संकेत किया जा चुका है, उसकी चतुर्धा कोटि है —

(i) पात-यन्त्र
(ii) उच्छ्राय-यन्त्र
(iii) पात-समोच्छ्राय यन्त्र
(iv) उच्छ्राय यन्त्र

इन चारो का मौलिक उद्देश्य द्विविध है —

एक तो क्रीडार्थ दूसरा कार्य सिद्धयर्थ। दूसरी कोटि पात-यन्त्र की प्रतीक है और पहली कोटि दूसरी, तीसरी, चौथी मे उदाहृत एवं समन्वित है। इन चारो विधाओ की विशेषता यह है कि पहले से अर्थात पात यन्त्र से ऊपर एकत्रित किए गए जलाशय से नीचे की ओर पानी छोडा जाता है। दूसरा यथानाम (उच्छ्राय-समपात-यन्त्र) जहा पर जल और जलाशय दोनो एक ही स्तर पर रखकर जल छोडे जाते हैं। तीसरी विधा पात-समोच्छ्राय-यन्त्र का वैशिष्ट्य यह है कि इसमे एक बडा मनोरञ्जक तथा उपादेय प्रक्रिया तथा पद्धति का आलम्बन किया जाता है जो गडे हुए खम्भो (Bored Columns) के द्वारा ऊचे स्तर से नीचे को ओर पानी इन्ही खम्भो के द्वारा लाया जाता है जो हम आधुनिक टकियो में भी वैसा ही देखते हैं। चौथी विधा को हम आधुनिक Boring के रूप में विभाजित कर सकते हैं।

समरागण के इस यन्त्राध्याय मे इन चारो वारि-यन्त्रो के अतिरिक्त और भी वारि-यन्त्र सकेतित किए गए हैं जैसे दारुमय-हस्ति-यन्त्र जिसमे कितना वह पानी पी रहा है- कितना छोड रहा है—यह दिखाई नही पडता। उसी प्रकार फौहारो (underground conduit) का भी इन विवरणो से ऐसे निदर्शन प्राप्त होते हैं। भारत की विख्यात नगरी चडीगढ के समीप एक अति प्रख्यात तथा अत्यन्त अनुपम जो मुगल-कालीन विलास-भवन पिञ्जौर उद्यान के नाम से यहा पर पर्यटको का आकर्षक केन्द्र है, वहा पर इस प्रकार के वारि एव धारा यन्त्रो की सुषुमा देखे तो हमारे प्राचीन स्थापत्य-कौशल का पूर्ण परिपाक इन निदर्शनो से भी पूर्ण प्रत्यक्ष दिखाई पडता है।

६ धारा-यन्त्र—हम वारि यन्त्रो के साथ इन धारा-यन्त्रो को नही लाए। धारा-गृह स० सू० के इस यन्त्राध्याय मे बडे ही विवरणो एव प्रकारो मे प्रतिपादित हैं। वे विवरण इतने मनोरञ्जक पारिभाषिक तथा पृथुल हैं जिनको हम पूर्ण स्थापत्य का विलास मानते हैं। स्थपति की चार श्रेणियां हैं:—

१ स्थपति २ सूत्रग्राही

३ वर्द्धकि तथा ४ तक्षक

धारा-यन्त्रो के निर्माण मे इन चारो का कौशल एव विलास दिखाई पडता है। धारा-गृहो के निम्न पाच वर्ग प्रतिपादित किए गए हैं —

१ धारा-गृह
२ प्रवर्षण
३ प्रणाल
४ जलमग्न
५ नन्द्यावर्त।

धारा-गृह—एक प्रकार से उद्यान के Shower Bower के रूप मे विभावित कर सकते हैं। इस प्रकार का धारा गृह मध्य-कालीन युग मे सभी राज-भवनो—आवास भवनो एव विलास-भवनो के अनिवार्य अग थे। यह धारा-गृह पौर्वात्य एव पाश्चात्य दोनो सस्कृतियो के प्रोल्लास माने गए हैं। जिस प्रकार वितान वास्तु (Dome Architecture) को जो नवीन दृष्टि से समीक्षा की है और यह धारणा कि यह वास्तु-तत्व फारस की देन है, वह कितनी भ्रामक धारणा है उसको स० सू० के वितान और लुमा वास्तु-शिल्प के द्वारा जो निराकरण किया वह पीछे द्रष्टव्य है; उसी प्रकार जिन विद्वानो की यह धारणा है कि ऐसे धारा-गृहो का मुगलो ने यहा पर श्रीगणेश किया

था, वह भी अत्यन्त भ्रान्त है। यह ग्रन्थ ग्यारहवी शताब्दी का अधिकृत ग्रन्थ है, जिसमे धारा-गृहो के नाना प्रकार एव स्थापत्य-कौशल के जो प्रचुर प्रमाण मिलते हैं उससे यह धारणा अपने आप निराकृत हो सकती है। मध्य-कालीन स्मारको में कोई भी ऐसा धारा-यन्त्र इस देश मे नही प्राप्त होता है जो मुगलो से पूर्व बना हो। अस्तु तथापि संस्कृत के विभिन्न प्राचीन काव्यो को देखें— कालिदास, भारवि, माघ, सोमदेव-सूरि, जिनके काव्यो मे इन धारा-यन्त्रो के बडे आकर्षक और महत्वपूर्ण सदर्भ प्राप्त होते हैं। कालिदास के मेघदूत की निम्न पंक्ति पढे :—

"नेष्यन्ति त्वा सुरयुवतयो यन्त्रधारागृहत्वम्"

सोमदेव-सूरि के टीकाकार इन धारा गृहो मे जो हमने एक प्रवर्षण की विधा दी है इसको "कृत्रिम-मेघमन्दिरम्" नाम से प्रकीर्तित किया है। इस ग्रन्थ मे भी इस विधा को 'अनुरकणमेकं जलमुचाम्' के नाम से स्वयं प्रतिपादित किया है। धारा-गृह को हम उद्यान की शोभा के रूप मे पहले ही कीर्तित कर चुके हैं। प्रवर्षण पर भी थोडा सा सकेत ऊपर कर चुके हैं। तीसरा प्रकार प्रणाल के नाम से विश्रुत है जो एक दुतल्ला धारा-गृह बनाया जाता है, जिसमें एक अथवा चार अथवा आठ अथवा सोलह स्तम्भ बनाए जाते हैं, तो पुष्पक-विमान के रूप में निर्मित होता है। इस धारा-गृह के केन्द्र मे जलाशय का निर्माण होता है, जिसमे एक पद्माकृति पीठ बनाया जाता है। वही पर राजा के बैठने की जगह बनाई जाती है और चारो ओर सुन्दर युवतियो की प्रतिमाएं बनाई जाती हैं, जिनकी आंखे इस पद्म को देखती हुई दिखाई जाती हैं। ज्यो ही ऊपर का जलाशय पानी से भर दिया जाता है और बन्द कर दिया जाता है त्यो ही इन प्रतिमा-चित्रों से पानी निकलने लगता है और एक महान् मनमोहक वातावरण उत्पन्न होता है और इस प्रकार से वहाँ पर राजा बैठा हुआ जल से भीगता हुआ आनन्द लेता है।

जलमग्न यथानाम जलाशय के भीतर वरुण अथवा नागराज के प्रासाद के समान यह प्रासाद विभाव्य है। यह एक प्रकार का अन्तः पुर है। यहां पर केवल थोडे से ही प्रधान पुरुष जैसे राजकुमार, राजदूत यहा पर आ सकते हैं। पाचवी कोटि नन्द्यावर्त की है, जिसके निर्माण मे स्थापत्य एवं चित्र-कौशल भी अनिवार्य हैं, क्योकि यह धारा-गृह, नन्द्यावर्त, स्वस्तिक आदि विच्छित्तियो से अलंकृत होना आवश्यक है। यह आख-मिचौनी के लिए बडा उपादेय माना

गया है। इस स्थूल समीक्षा के उपरान्त हमारा यह संकेत है कि पाठक इस ग्रन्थ मे अनुवाद-स्तम्भ को ध्यान से पढें तो इस कारीगरी और स्थापत्य-कौशल का कितना महत्वपूर्ण मूल्यांकन प्राप्त हो सकेगा।

*७ दोला-यन्त्र—इसको रथ-दोला भी कहते है। धारा-गृह के समान इसके भी पांच निम्न प्रकार वर्णित किये गए हैं —

१ बसन्त २ मदनोत्सव ३ वसन्त-तिलक ४ विभ्रमक तथा ५ त्रिपुर।

जहा कहीं भी हमारे देश मे मेले होते हैं वहा पर झूले अवश्य गाडे जाते है और बच्चे उन पर चढकर प्रसन्न होते हैं, घूमते हैं और घुमाये जाते हैं। लेकिन ये झूले स्थापत्य-कौशल की दृष्टि से कोई अर्थ नहीं रखते। स० सू० के इस यन्त्राध्याय मे दोला यन्त्रो के जो विवरण प्राप्त होते हैं वे इतने प्रकृष्ट हैं कि वे साक्षात् यन्त्र हैं जिन मे यन्त्र ही उनको चलाते हैं। जो रूप झूलो के हम आज देखते हैं, वे अति सामान्य हैं। अनुवाद को यदि आप देखें तो कोई दोला जैसे वसन्त-तिलक, वह द्विभौमिक है और त्रिपुर तो ऐसा आभास प्रदान करेगा मानो तीन नागरिया दिखाई पड रही हैं। इन सब के विवरण अनुवाद मे ही द्रष्टव्य हैं। हमने अपने Vastusastra—Vol I Hindu Science of Architecture with special reference to Bhoja's Samrangana-Sutradhara मे इस की जो विशेष समीक्षा की है और वैज्ञानिक ढग से प्रतिपादन किया है, वह इस ग्रन्थ मे विशेष द्रष्टव्य है।

विमान-यन्त्र —अब आइये यान-यन्त्र पर। हमे उस पर विशेष रूप से कीर्तन करना है यान-यन्त्र की जो श्रेणी हमने चौथी दी थी उसको यहा पर अन्तिम विधा मे विवेच्य माना है। इस यन्त्राध्याय मे यान यन्त्र अर्थात विमान-यन्त्र पर जो प्रतिपादन है, वह इस ग्रन्थ की सब से बडी विभूति है, जिसका अन्य शिल्प-ग्रन्थ मे कोई भी विवरण नही है। कालिदास से लगाकर आगे के नाना ग्रन्थो—काव्यो, नाटको आदि मे यद्यपि सवत्र ही संकेत प्राप्त हैं, परन्तु रचना-विधि अन्यत्र अप्राप्य है। साहित्यिक सन्दर्भो की जितनी महत्ता है, उतनी महत्ता जन-श्रुतियो की भी मानी जा सकती है। बहुत दिनो तक मध्य भारत के गाव-गाव मे यह जन-श्रुति थी कि महाराजाधिराज धाराधिप भोजदेव के दरबार मे अश्वमुखी नाम का एक विमान था, तो विमान-रचना भी इस काल मे अवश्य थी। परन्तु तो फिर विमान-यन्त्र की रचना मे जो पूरे के पूरे विवरण हैं उनमे

*टि० यद्यपि हमने यन्त्रो की षड्-विधा ही दी है परन्तु रक्षा और सग्राम (जो एक ही विधा हैं) इन दो विधाओ के विवरण की दृष्टि से सप्तधा कर दी है।

केवल दो ही तत्व प्राप्त होते है अर्थात् अग्नि और पारा तथा आकार और सभार भी। निम्नलिखित उद्धरण पढिए —

लघुदारुमय महाविहग दृढसुश्लिष्टतनु विधाय तस्य ।
उदरे रसयन्त्रमादधीत ज्वलनाधारमधोऽस्य चाग्निपूर्णम् ॥
तत्रारूढ पूरुषस्तस्य पक्षद्वन्द्वोच्चालितप्रोज्झितेनानिलेन ।
सुप्तस्यान्त पारदस्यास्य शक्त्या चित्र कुर्वन्नम्बरे याति दूरम् ॥
इत्थमेव सुरमन्दिरतुल्य सञ्चलत्यलघु दारुविमानम् ।
आदधीत विधिना चतुरोन्तस्तस्य पारदभृतान् दृढकुम्भान् ॥
अय कपालाहितमन्दवह्निप्रतप्ततत्कुम्भभुवा गुणेन ।
व्योम्नो झटित्याभरणत्वमेति सन्तप्तगर्जद्रसराजशक्त्या ॥

जैसा हमने ऊपर सकेत किया कि इस विमान-यन्त्र-वर्णन मे सारे विवरण प्राप्त नही होते, तथापि रचना-प्रक्रिया अज्ञात नही थी, चू कि यह काल सामन्त-वादी (Aristocratic Age) था, अत प्राकृत जनो के लिए यह भोग और विलास नही प्रदान किए गए । अतएव इनका एक-मात्र राज-भोग मे ही गतार्थ किया गया। अन इन विद्याओ एव कलाओ का सरक्षण एक-मात्र राजाश्रय ही था। अन शास्त्रीय ढग से जब इनकी व्याख्या अथवा प्रतिपादन आवश्यक था तो ग्रन्थ-कार ने इसी मूलभूत प्रेरणा के कारण बहाना दिया जो निम्न श्लोक को पढने से प्राप्त होता है —

"यन्त्राणा घटना नोक्ता गुप्त्यर्थं नाज्ञतावशात् ।
तत्र हेतुरय ज्ञेयो व्यक्ता नैते फलप्रदा ॥

यह हम अवश्य स्वीकार करते हैं कि पारम्पर्य कौशल, सोपदेश शास्त्राभ्यास वास्तुकर्मोद्यमा बुद्धि—यह सभी इस प्रकार की यात्रिक घटना और पारिभाषिक ज्ञान के लिए अनिवार्य अग हैं, तथापि यह बहाना भी तार्किक नहीं है। तथ्य यह है कि प्राचीन वाड्मय के रहस्य की कुजी रहस्य-गोपन है। अन्त मे इस यन्त्राध्याय की समीक्षा मे यह अवश्य हमे स्वीकार करना है कि हमारे देश मे यन्त्र-विद्या की कमी नही थी।

भारत की प्राचीन सस्कृति मे मन्त्र, तन्त्र और यन्त्र तीनों ही अपनी अपनी दिशा मे विकास एव प्रोल्लास की ओर जाते रहे, परन्तु जिस प्रकार वैदिक युग मे मंत्रो का प्राबल्य था फिर कालान्तर मे विशेष कर मध्यकाल तथा उत्तर मध्यकाल मे तन्त्रो का इतना प्राबल्य हुआ कि यन्त्रो के भौतिक विकास को

आश्रय न देकर एक-मात्र इनको चित्र मे चित्रित कर दिया। अतएव तान्त्रिक लोगो ने मन्त्र-बीज, तत्र-बीज, यन्त्र-बीज—इन्ही उपकरणो से एव उपलक्षणों से भौतिक यन्त्रो को एक-मात्र नाम-मात्र की अभिधा मे गतार्थ कर दिया।

बात यह है कि समरागण-सूत्रधार के यत्राध्याय के प्रथम श्लोक (मगलाचरण) को पढे, साथ ही साथ गीता के श्लोक को भी पढे जो नीचे उद्धृत किए जाते है, तो हमारे इस उपर्युक्त मत का अपने आप पोषण हो जाता है। अर्थात् यन्त्रो को अध्यात्म-विभूति मे पर्यवसित कर दिया अन्यथा हमारा देश इस यान्त्रिक विज्ञान से पीछे न रहता —

जडाना स्पन्दने हेतु तेषा चेतनमेककम्।
इन्द्रियाणामिवात्मानमधिष्ठातृतया स्थितम्॥
भाम्यद्दिनेशशशिमण्डलचक्रशस्तमेतज्जगत्त्रितययन्त्रमलक्ष्यमध्यम्।
भूतानि बीजमखिलान्यपि सप्रकल्प्य यः सन्तत भ्रमयति स्मरजित्सवोऽव्यात्॥
ईश्वर सवभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

राजसी कलायें

चित्र-कला

हमने अपने उपोद्‌घात मे पहले ही यह सकेत कर दिया है कि चित्र का अर्थ एकमात्र आलेख्य नही, चित्र का अर्थ वास्तव मे प्रतिमा है, अतएव इस अध्ययन मे चित्र को हम निम्न दो दृष्टि-कोणो से देखेंगे और साथ ही साथ दो वर्गों मे विभाजित करेंगे। लौकिक दृष्टि से आलेख्य चित्र का प्रथम उपन्यास करेंगे। पूर्वोक्त चित्र की विधा—कोटि को अब हम दो मे कवलित कर सकते हैं १ चित्राभास अर्थात् आलेख्य, २ चित्रार्ध एव चित्र अर्थात् प्रतिमा आंशिक अथवा पूर्ण।

सर्व-प्रथम आलख्य चित्र पर कितने ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, थोडा सा सकेत करना आवश्यक होगा, पुन आलेख्य-कला का ललित कलाओ मे क्या स्थान है यह भी प्रतिपाद्य होगा। पुन चित्र-कला का जन्म कैसे हुआ और उसका विस्तार (क्षेत्र अथवा विषय, कैसा है—इस पर भी समीक्षण आवश्यक है। पुन चित्रकला के अगो (चित्राग) तथा विधाओ (Types) का सविस्तार वर्णन करना होगा। शिल्प-ग्रन्थो की दृष्टि से वर्तिका-निर्माण, वर्तिका-वतन एव वर्ण-सयोग (colouring) तो चित्र-विद्या के सबसे प्रमुख कौशल हैं। परन्तु इस कौशल को प्राप्त करने के लिए उसी प्रकार दक्ष भी चित्र-विद्या का प्रमुख अग है। वास्तु, शिल्प, एव चित्र की दृष्टि से नाप तीसरी प्रमुख विशेषता है। कोई भी शिल्प बिना नाप के कला के रूप मे नही परिणत की जा सकती। इस लिए चित्र के विभिन्न साधनो मे प्रमाण भी उतने ही प्रशस्त प्रकल्पित किए गए हैं। Pictorial Pottery और Pictorial Iconometry दोनो ही एक स्तर पर अपनी महत्ता रखते हैं। मध्यकालीन चित्रकार विशेषकर मुगलो के दरबार मे जो चित्रकार अपनी ख्याति से इतिहास मे आज भी विद्यमान है, वे बिना अडक-वर्तना (बादाम) के कोई चित्र नही बनाते थे। इस प्रकार विष्णु-धर्मोत्तर, समरागण-सूत्रधार तथा मानसोल्लास इन तीनो ग्रन्थों की दृष्टि मे अडक-वतना चित्र-कौशल मे बडा ही महत्वपूर्ण स्थान रखती है। भारतीय चित्र-शास्त्र की दृष्टि से सबसे बडा सूक्ष्मेक्षिका-कौशल

क्षय वृद्धि है। बिना इस क्षय-वृद्धि-प्रक्रिया के वर्ण विन्यास, वर्णोज्ज्वलता एव वार्णिक वैशिष्ट्य सम्पन्न नही होता। चित्र-कौशल मे शास्त्र ने जो प्रतीकात्मक रूढिया (Conventions) प्रदान की हैं, उनके बिना चित्र दर्शन-मात्र मे उसकी पूर्ण पहिचान और उसकी व्याख्या तथा पूरी समझ असम्भव है। अपराजित-पृच्छा मे चित्र के सदभाव का इतना व्यापक दृष्टिकोण प्रकट किया गया है जिसमे स्थावर और जगम सभी पदार्थ सम्मिलित है, तो इनके रूप, उनके कार्य, उनकी चेष्टाए तथा उनकी क्रियाए अथवा उनका प्राकृतिक सौन्दर्य एव याथातथ्य चित्रण कैसे सम्भव हो सकता है जब तक हम इन रूढियो (Conventions) का सहारा न लें। चित्र-कौशल का अन्तिम प्रक्ष भावाभिव्यक्ति एव रसानुभूति है। चित्र-शास्त्र के जितने भी ग्रन्थ प्राप्य हैं उनमे एकमात्र समरागण-सूत्रधार ही है, जिसमे चित्र के रसो एव चित्र की दृष्टियो का वर्णन किया गया है। धाराधिप महाराजाधिराज भोजदेव से बढकर हमारे देश मे इतना उद्भट और प्रसिद्ध-कीर्ति, शृगारिक अर्थात् काव्य-तत्व-वेत्ता (Aesthetician) नही हुआ है। जहा उसने शृगार-प्रकाश की रचना की वहा उसने वास्तु के ऐसे अप्रतिम ग्रन्थ समरागण-सूत्रधार की भी रचना की। इस महायशस्वी लेखक ने चित्र को भी काव्य की गोद में खेलता हुआ प्रदर्शित कर दिया। इस प्रकार मेरी दृष्टि मे यह ग्रन्थ विष्णु-धर्मोत्तर से भी आगे बढ गया और बाजी मार ले गया। विष्णु-महापुराण के परिशिष्टाग विष्णुधर्मोत्तर के चित्र-सूत्र को देखे तथा परिशीलन करें तो वहा पर यह पूर्ण रूप से प्रकट है कि बिना नृत्य के चित्र दुर्लभ है —

> बिना तु नृत्य-शास्त्रेण चित्रसूत्र सुदुर्विदम् ।
> यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृति स्मृता ।।
> दृष्टयश्च तथा भावा अङ्गोपाङ्गानि सर्वश ।
> कराश्च ये महानृत्ते पूर्वोक्ता नृपसत्तम ।।
> त एव चित्रे विज्ञया नृत्त चित्र पर मतम् ।।

यद्यपि इस अवतरण मे नाट्य-हस्त, नृत्य-हस्तो के साथ दृष्टियो का भी सकेत अवश्य है, परन्तु उसमे प्रतिपादन नही। अत इस कमी को समरागण-सूत्रधार ने पूरा कर दी। इस ग्रन्थ मे चित्र के ग्यारह रस और अठारह रस-दृष्टिया प्रतिपादित की गयी हैं, जिनकी हम आगे व्याख्या करेंगे। हमने अपने चित्र-लक्षण मे चित्रकला को नाट्य और काव्य से और ऊपर उठाकर रस-सिद्धान्त एव ध्वनि-सिद्धान्त मे लाकर परिणत कर दिया है। मम्मट ने अपने

काव्य-प्रकाश में काव्य की त्रिविधा से जो चित्र-काव्य को तीसरी कोटि दी गयी है, उसका आशय एक-मात्र व्यंग्याभाव एवं शब्द-चित्रता तथा अर्थ-चित्रता से ही तात्पर्य नहीं है, उसमें इस इस शब्द के प्रयोग में एक बड़ा मर्म भी छिपा है। मेरी दृष्टि में जिस प्रकार काव्य में शब्दों एवं अर्थों के द्वारा व्यंग्य की अभिव्यक्ति होती है, क्योंकि व्यंजना के लिए व्यंजकों की आवश्यकता है, तो क्या व्यंजक व्यंग्य की ओर सहृदयों को नहीं ले जा सकते। जिस प्रकार कोई युवती अतिरमणीय होते हुए यदि वह नाना शृंगारों से सुसज्जित, नाना विलासों से मंडित, अनेक नेपथ्यों से विलसित क्या वह कई व्यंग्यों की ओर इशारा नहीं कर सकती? किसी कुशल चित्रकार के चित्र को देखें, उसमें कितने व्यंग्य छिपे हैं जो एक-मात्र वर्णों एवं आकारों तथा कुछ बन्धनों (Back-grounds) के साथ साथ अन्य नाना कितने आकूत अपने आप आपतित हो जाते हैं।

अस्तु, अब इस उपोद्घात के अनन्तर हमें अपने इस अध्ययन में अध्ययन की रूपरेखा की कुछ अवतारणा अवश्य करनी है जो निम्न तालिका में द्रष्टव्य है :—

१ चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थ,

२ चित्र-कला का ललित कलाओं में स्थान, उद्देश्य, जन्म और विस्तार,

३ चित्रांग (Elements-Constituents and Types),

४ वर्तिका तथा भूमि-बन्धन,

५ अण्डक-प्रमाण,

६ लेप्य-कर्म,

७ आलेख्य—कर्म-वर्ण एवं कूर्चक, कान्ति एवं विच्छित्ति तथा क्षय-वृद्धि सिद्धान्त,

८. आलेख्य-रूढ़ियां (Conventions),

९ चित्र-कला तथा काव्य-कला, नाट्य-कला, नृत्य-कला तथा भावाभिव्यक्ति—ध्वनि एवं रसास्वाद,

१० चित्र-शैलियां-पत्र एवं कण्टक,

११ चित्रकार,

१२ चित्रकला पर ऐतिहासिक विहंगम दृष्टि :—

(अ) पुरातत्त्वीय,

(ब) साहित्य-निबन्धनीय।

चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थ —संस्कृत मे केवल चित्र पर निम्नलिखित पाच ग्रन्थ ही प्राप्य हैं —

१ विष्णुधर्मोतर—तृतीय भाग-चित्रसूत्र ,
२ समरागण-सूत्रधार—देखिए इस अध्ययन मे चित्र-शास्त्रीय अध्याय-तालिका ,
३ अपराजित-पृच्छा ,
४ अभिलषितार्थ-चिन्तामणि (मानसोल्लास) ,
५ शिल्प-रत्न ।

इन ग्रंथो (पूव एव उत्तर मध्यकालीन कृतियो) के अतिरिक्त सर्वप्राचीन-कृति नग्नजित् का चित्र-लक्षण है । नग्न-जित् के सम्बन्ध मे ब्राह्मणों (ब्राह्मण-ग्रन्था)मे भी सकेत मिलत है । यह मौलिक कृति अप्राप्य है । सौभाग्य से तिब्बती भाषा मे इसका अनुवाद हुआ था, जिसका रूपान्तर अब भी प्राप्य है। डा० राघवन ने (देखिए Some Sanskrit texts on Painting I H Q Vol X 1933) जिन दो अन्य चित्र-सम्बन्धी शिल्प-ग्रन्थो की सूचना दी है, वे है

१ सारस्वत-चित्र-कर्म-शास्त्र,
२ नारद-शिल्प ।

इन ग्रन्थो के अतिरिक्त वासवराज-कृत शिवतत्व-रत्नाकर नामक ग्रन्थ सत्रहवीं शताब्दी के उत्तर अथवा अठारहवी शताब्दी के पूर्व भाग मे कन्नड भाषा से संस्कृत मे रुपान्तरित किय गया था । शिवराम मूर्ति ने भी चित्र-शास्त्रीय कृतियों के सम्बन्ध मे खोज की है । परन्तु मेरी दृष्टि मे ये ही सात ग्रंथ अविकृत म ने जा सकते हैं ।

जहा तक चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थो के अध्ययन का प्रश्न है उनका सवप्रथम श्रेय डा० कुमारी स्टला क्रेमिरिश को है, जिन्होन विष्णु-धर्मोत्तर के इस चित्र-सूत्र का अंग्रेजी मे अनुवाद किया तथा एक भूमिका भी लिखी । उसके बाद आधुनिक भारतीय विद्या (Indology) मे सब प्रथम सारे ग्रन्थों को लेकर अनुसधानात्मक एव शास्त्रीय अध्ययन जो मैंने अपने Hindu Canons of Painting or चित्रलक्षणम् १९५८ मे प्रस्तुत किया था उसकी विद्व नो ने बडी प्रशसा की । वह प्रबन्ध मेरी डी० लिट० थीसिस—Foundations and Canons of Hindu Iconography and Painting का अग था । महामहोपाध्याय डा० वासुदेव विष्णु मिराशी, डा० जितेन्द्रनाथ बॅनर्जी तथा स्वर्गीय वासुदेव शरण अग्रवाल,

इन विद्वानो की भूरि प्रशंसा से मुझे बड़ा प्रोत्साहन मिला। यह ग्रन्थ अंग्रेजी मे लिखा गया था। वैसे तो हिन्दी में मैंने प्रतिमा-विज्ञान Iconography पर एक बृहद् ग्रन्थ लिख ही चुका हू, जो मेरे इस दश-ग्रन्थ-आयोजन का वह प्रमुख अंग था। चित्र पर अभी तक हिन्दी में शास्त्रीय विवेचन नहीं हुआ। अतः अब मैं अपने इस ग्रन्थ मे प्रतिपादित शास्त्रीय विवेचन का जहां तक समरागण-सूत्रधार के चित्र-सम्बन्धी विषयो से मल खाता है, उसी को लेकर मैं अब इस अध्ययन मे संक्षेप रूप मे नवीन दृष्टिकोण से रखने का प्रयास करूंगा।

हमने चित्र-शास्त्रीय प्राप्य ग्रन्थो पर पहले ही संकेत कर दिया है। उनके विषय-विवेचन अथवा उनके अध्यायो की अवतारणा की यहा पर संगति सार्थक नहीं। अतः समरागण के चित्र-सम्बन्धी अध्यायो के सम्बन्ध मे थोड़ा सा विवेचन आवश्यक है।

इसमे सन्देह नहीं कि समरागण-सूत्रधार का भवन-खड, प्रासाद-खड, राज-भवन-खड ये सभी खड सम्बद्ध एवं परिपुष्ट हैं, परन्तु चित्र-खड गलित तथा भ्रष्ट भी है। चूंकि चित्र का अर्थ हमने प्रतिमा माना है और प्रतिमाएं जो पाषाणी है अथवा धातुल्या हैं, वे इस सन्दर्भ मे अविवेच्य नहीं हैं। चित्र पर (मृन्मयी, काष्ठमयी पाषाणी, धातुजा, रत्नजा तथा आलेख्य) केवल १४ अध्याय हैं, जिसमे केवल एक ही अध्याय आलेख्य-चित्र मे परिगणनीय नहीं है वह है —

लिंग-पीठ-प्रतिमा-लक्षण

अतः इसको हम प्रासाद-शिल्प मे प्रासाद-प्रतिमा के रूप मे व्यवस्थापित करेंगे। इन अध्यायो की तालिका की ओर संकेत करने के पूर्व हमे यह भी बताना है कि लगभग निम्नलिखित सात अध्याय, आलेख्य-चित्र तथा पाषाणादि-द्रव्यजा चित्र इन दोनो के सर्व-सामान्य (Common and Complimentary) अङ्ग हैं —

१ देवादि-रूप-प्रहरण-संयोग-लक्षण,
१ दोष-गुण-निरूपण,
३ ऋज्वागतादि-स्थान-लक्षण,
४ वैष्णवादि-स्थानक-लक्षण,

५ पच-पुरुप-स्त्री-लक्षण,

६ रस-दृष्टि-लक्षण,

७ पताकादि-चतुष्षष्टि-हस्त-लक्षण,

जहा तक इन अध्यायो की विवेचना है, वह अनुवाद से स्वत प्रकट है, अत वही द्रष्टव्य है और यहा पर उनका विस्तार अनावश्यक है।

अस्तु, जो आलेख्य (Painting) से ही एक-मात्र सम्बन्धित हैं, उन अध्यायो की तालिका निम्न है —

चित्रोद्देश,
भूमि-बन्धन,
लेप्य-कर्म,
अण्डक-प्रमाण,
मानोत्पत्ति तथा
रस-दृष्टि

चित्रकला का उद्देश्य, उद्भव तथा विषय (Scope)

चित्र-कला के उद्भव मे हमारे देश मे दो दृष्टि-कोणो ने इस ललित-कला को जन्म दिया। वैसे तो कला, सस्कृति एव सभ्यता का अभिन्न अग माना गया है। जिस देश की जैसी सभ्यता एव सस्कृति होगी वैसी ही उस देश की कलाए होगी। भारतीय सस्कृति और सभ्यता मे अध्यात्म और भौतिक अभ्युदय दोनो को ही माप-दण्ड के रूप मे परिकल्पित किया गया है। वैदिक इष्टि (यज्ञ-सस्था) के बाद जब पूर्त-धर्म (देवालय-निर्माण एव देव-पूजा) ने अपने महान् प्रकर्ष से इस देश मे पूरी तरह से पैर फैला दिए, तो प्रतिमा-पूजा अनायास विकसित और प्रवृद्ध हो गई। हमने अपने उपोद्घात मे चित्र पद की परिभाषा मे प्रतिमा शब्द की ओर पूर्ण रूप मे परिचय दे ही दिया है—चित्र, चित्रार्ध, चित्राभास। अत जहाँ पाषाण-निर्मिता तथा मृण्मयी (पार्थिवा, जैसे पार्थिव लिंग) एव धातुजा प्रतिमाए पूजा के लिए बनाई जाती थीं, क्योकि ज्ञानी और योगी तो बिना प्रतिमा के भी ब्रह्म-चिन्तन एव ईश्वराराधन कर सकते थे; परन्तु महान् विशाल समाज सारा का सारा ज्ञानी और योगी नहीं परिकल्पित किया जा सकता, अतएव इसी दृष्टि को रखकर हमारे आचार्यों ने स्पष्ट उद्घोष किया —

"अज्ञाना भावनार्थाय प्रतिमा परिकल्पिता"

"सगुण-ब्रह्म-विषयक-मानस-व्यापार उपासनम्"

"चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिरा ।
उपासकाना कार्यार्थे ब्रह्मणो रूप-कल्पना ॥

"आदित्यमम्बिका विष्णु गणनाथ महेश्वरम ।
पच-यज्ञ-परो नित्य गृहस्थ पञ्च पूजयेत ॥"

जहा प्रासादो में प्रतिष्ठापित प्रतिमाए पूज्य हैं, उसी प्रकार पट्ट, पट. कुड्य चित्र भी उसी प्रकार पूज्य बने । हयशीर्ष-पचरात्र वैष्णव आगमों और तन्त्रो मे एक प्रमुख स्थान रखता है। उसका यह निम्न प्रवचन पढें तो उपरोक्त हमारा सिद्धान्त पूर्ण रूप से पुष्ट हो जाता है —

यावन्ति विष्णुरुपाणि सुरूपाणीह लेखयेत ।
तावद् युगसहस्राणि विष्णुलोके महीयते ॥
लेप्ये चित्रे हरिर्नित्य सन्निधानमुपैति हि ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन लेप्यचित्रगत यजेत् ॥
कान्तिभूषणभावाद्यैश्चित्र यस्मात स्फुट स्थित ।
अत. सन्निधिमायाति चित्रजासु जानर्दन ॥
तस्माच्चित्रार्चने पुण्य स्मृत शतगुरा बुधै ।
चित्रस्थ पुण्डरीकाक्ष सविलास सविभ्रमम् ॥
दृष्ट्वा मुच्यते पापैर्जन्मकोटिसुसञ्चितै ।
तस्माच्छुभाधिभिर्धीरै महापुण्यजिगीषया ॥
पटस्थ पूजनीयस्तु देवो नारायण प्रभु ।

—हयशीर्षपचरात्रात्—

लगभग दो हजार वर्षों की परम्परा है कि जो भी यात्री, दर्शनार्थी, पुरी जगन्नाथ के दर्शनार्थ तीर्थ-यात्रा करता है, वह भगवान जगन्नाथ के पटों को जरूर लाता है। आज भी प्राय: उत्तरापथ में प्रत्येक घर में स्त्रिया अपने पुत्रो के आयुष्य एव उनके कल्याण के लिए किसी न किसी दिन विशेष कर वासन्त मासो (चैत्र एव वैशाख) मे किसी न किसी चन्द्रवार के दिन पट पर भगवान् जगन्नाथ की पूजा करती हैं, नाना प्रकार के मिष्ठान्नों से उनका भोग लगाती हैं एव वासन्त कुसुमो विशेषकर पलाश पुष्प (टीसू) अवश्य चढ़ाती हैं। अत उपर्युक्त यह हयशीर्ष-पचरात्रीय प्रवचन कितना अधिकृत एव अति प्राचीन परम्परा का प्रतिष्ठापक एव उद्बोधक है, वह अनायास सगत एव सुप्रतिष्ठित हो जाता है।

यह तो हुआ धार्मिक उद्भव, जहा तक भौतिक दृष्टि-कोण का सम्बन्ध है, उसमे वात्स्यायन के काम-सूत्र मे प्रतिपादित चतुष्षष्टि-कला (६४ कलाओ) का जो महान् प्रोल्लास प्राप्त होता है, उसका पूरा का पूरा सम्बन्ध नागरिक सभ्यता नागरिको के जीवन के अभिन्न अग की प्रतीकात्मता को दृढ करता है। हम पहले ही लिख चुके हैं कि दो हजार वर्ष से भी अधिक पुरानी बात है कि प्रत्येक नागरिक के घर मे रग का प्याला और रगने की लेखा (bowl and brush) दोनो गृहस्थी के अनिवार्य अग थे। आप महाकवि कालिदास के काव्यो को पढे, महाकवि बाणभट्ट की कादम्बरी देखें—कितना चित्र-कला का विलास था। हमने अपने अग्रेजी ग्रन्थ (Hindu Canons of Painting) मे यह सब पूरी तरह से समीक्षा प्रदान की है। वह वहा विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

चित्र-कला के उद्भव मे चित्र-शास्त्र की सर्वप्रथम कृति एव अतिप्राचीन अधिकृत ग्रन्थ नग्न-जित् के 'चित्र-लक्षण' मे जो चित्रोत्पत्ति की मनोरञ्जक कहानी है वह यहा अवतार्य है —

"पुरानी कहानी है कि एक बड़ा ही उदार धर्मात्मा तथा पुतात्मा राजा था, जिसका नाम था भयजित्। सभी प्रजाए सानन्द थी। अकस्मात् एक दिन एक ब्राह्मण उसके दरबार मे आ पहुचा और जोर से चिल्लाता हुआ बोला 'ऐ राजन्, सत्यत आपके राज्य मे पाप है, नही तो मेरा पुत्र अकाल-मृत्यु के गाल मे कैसे कवलित हो गया? कृपा करके मेरे पुत्र को मृत्यु के पजो से छुड़ाओ और उस लोक से पुन इसी लोक में लाओ। राजा ने तत्क्षण ही यमराज से प्रार्थना की—हे यमराज जी महाराज! इस बालक को लाओ अन्यथा घोर युद्ध होगा। यमराज ने जब प्रार्थना अनसुनी कर दी, तो फिर दोनो मे घनघोर युद्ध हो गया और अन्ततोगत्वा यम हार गया। विधाता ब्रह्मा किंकर्तव्य-विमूढ हो गये। तत्क्षण वे वहा आविर्भूत हो गये और राजा से कहा राजन्! जीवन एव मरण तो कर्म पर आश्रित हैं। यम का अपना व्यक्तिगत तो कोई हाथ नही। तुम इस बच्चे का चित्र बनाओ। ब्रह्मा की आज्ञा शिरोधार्य कर उसने चित्र बनाया और ब्रह्मा ने उसमे जीवन डाल दिया और राजा को सम्बोधित कर कहा —

"यत तुमने इन नग्नो—प्रेतो को भी जीत लिया— अत तुम आज से हे राजन्! नग्न-जित् के नाम से विश्रुत हो गये। तुम इस ब्राह्मण बालक का चित्र मेरी ही कृपा या आशीष से बना सके हो। ससार मे यह प्रथम चित्र है। तुम जाओ दिव्य शिल्पी विश्वकर्मा के पास। विश्वकर्मा जी वास्तु-शिल्प-चित्र के

आचार्य हैं, वे तुम को सारा चित्र-शास्त्र एव चित्र-विद्या पढायेंगे।"

विष्णु-धर्मोत्तर अति प्राचीन एव अधिकृत ग्रन्थ है उसका भी यहाँ चित्रोत्पत्ति वृत्तान्त उद्धरणीय है —

नर-नारायण की कथा से हम परिचित हो हैं। जब भगवान् नारायण बदरिकाश्रम मे मुनिवेष-धारी तपश्चर्या करने लगे तो उन्हें हठात् चित्र-विद्या को जन्म देना पडा। कहानी है कि नर एव नारायण दोनो ही इसी आश्रम मे साथ साथ तपस्या कर रहे थे। अप्सराओ की अति प्राचीन समय से यह परम्परा रही है कि जब कोई मुनि या योगी तप करते हैं तो वे आकर बाधा डालती हैं, रिझाती हैं। विश्वामित्र-मेनका की कहानी से सभी परिचित हैं। ऐसी बाधा मे भगवान् नारायण ने कमाल कर दिया। तुरन्त ही आम्र-रस लेकर तथा अन्य वन्य-औषधियो को मिलाकर एक इतनी कमाल की खूबसूरत अप्सरा की रचना कर दी जो कोई भी देवी, गान्धर्वी, आसुरी, नागी या मानवी सुन्दरी उसका मुकाबला कर सके। अत ये सारी की सारी दसो अप्सरायें इस नारायण-निर्मिता सुन्दरी अप्सरा को देख कर शर्मिन्दा हो कर सदा के लिये विलीन हो गयी। यही अप्सरा पुन सर्व-सुन्दरी अप्सरा ऊर्वसी के नाम से विश्रुत हो गयी।

विष्णु-धर्मोत्तर के एक दूसरे सन्दर्भ को पढें, तो वहा पर शास्त्रीय उद्भव पर बडा मार्मिक एव प्रबल प्रवचन प्राप्त होता है। मार्कण्डेय और वज्र के प्रश्न और उत्तर के रूप मे विष्णु-धर्मोत्तर मे चित्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे बडा ही मौलिक एव सार्वभौमिक उद्देश्य एव क्षेत्र की ओर सुन्दर एव महत्वपूर्ण सकेत प्राप्त होता है। विष्णु-धर्मोत्तर मे निराकार की कल्पना एव उसकी साकार रूप मे पूजा बिना चित्र के असम्भव है। निराकार यथा-निरूक्त न कोई रूप रखता है न गध, न स्वद, न शब्द, न स्पर्श, तो फिर इसको रूप में कैसे परिणित किया जा सकता है—वज्र की इस जिज्ञासा मे मार्कण्डेय का उत्तर है कि प्रकृति और विकृति वास्तव मे परब्रह्म की लौकिक दृष्टि से दोनो भिन्न होते हुए भी, उसी के परिवर्तन-शील रूप हैं। ब्रह्म प्रकृति है और विश्व विकृति है। ब्रह्म की उपासना तभी सम्भव है जब उसे रूप प्रदान किया जाए। अतएव उसकी रूप-कल्पना के लिये चित्र के बिना यह सम्भव नहीं। जैसा कि हमने पहले ही रामोप-निषद् का प्रवचन पाठको के सामने रख दिया है (चिन्मयस्येत्यादि)।

मध्यकालीन अधिकृत शिल्प-शास्त्रीय कृति अपराजित-पृच्छा में चित्र के उद्देश्य, उत्पत्ति एव क्षेत्र अथवा विस्तार पर जो प्रवचन है वह बडा ही मार्मिक

है और समस्त स्थावर एवं जंगम को चित्र की कोटि में वर्णित करा रहा है। निम्न अवतरण पढ़िये —

चित्रमूलोद्भवं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्।
ब्रह्मविष्णुभवाद्याश्च सुरासुरनरोरगा॥
स्थावरं जंगमं चैव सूर्यचन्द्रौ च मेदिनी।
चित्रमूलोद्भवं सर्वं जगत्स्थावरजंगमम्॥
वृक्षगुल्मलतावल्ल्य स्वेदजाण्डजरायुजा।
सर्वे चित्रोद्भवा वन्य भूधरा द्वीपसागरा॥
चतुरशीतिलक्षाणि जीवयोनिरनेकधा।
चित्रमूलोद्भवा सर्वे ससारद्वीपसागरा॥
श्वेतरक्तपीतकृष्णा वर्णा वै चित्ररूपका।
तनौ च नखकेशादि चित्ररूपमिवाम्भसाम्॥
भगवान् सदरूपश्च पश्यतीदं परात्परम्।
आत्मवद्धि सर्वमिदं ब्रह्म तेजोऽनुपश्यताम्॥
पश्यन्ति भावरूपैश्च जले चन्द्रमसं यथा।
तद्वच्चित्रं मयं सर्वं पश्यन्ति ब्रह्मवादिन॥
विश्वं विश्वावनाग्श्च रवनाद्यन्तश्च सम्भवेत्।
आदि चित्रमयं सर्वं पश्यन्ति ब्रह्मचक्षुषा॥
शिवशक्त्योर्यथारूपं समारे सृष्टिकोद्भवः।
चित्ररूपमिदं सर्वं दिनं रात्रिस्तथैव वै॥
निमिषश्च पलं घट्यो याम. पक्षक एव च।
मासाश्च ऋतवश्चैव काल सवत्सरादिक॥
चित्ररूपमिदं सर्वं सवत्सरयुगादिकम्।
कलादिकोद्भवं सर्वं सृष्ट्याद्यं सर्वकर्मणाम्॥
ब्रह्माण्डादिसमुत्पत्तौ रचितारचिता तथा।
तेषां चित्रमिदं ज्ञेयं नानात्वं चित्रकर्मणाम्॥
ब्रह्माण्डादिगणा सर्वे तद्रूपा पिण्डमध्यगा।
आत्मा चात्मस्वरूपेण चित्रवत् सृष्टिकर्मणि॥
आत्मरूपमिदं पश्येद् दृश्यमानं चराचरम्।
चित्रावतारे भावं च विधातुर्भाववर्णितं॥
आत्मनं च शिवं पश्येद् यद्वस्य जलचन्द्रमा।

हैं, वैणिक की व्याख्या में विद्वानों में मतभेद है। पदार्थ की दृष्टि से यह पद वीणा मे बना है तो हम इसको चतुरश्र अर्थात् चौकोर आकृति मे भी विभावित कर सकते हैं। इस चित्र-प्रकार के वर्णन मे वि० ध० ने दीर्घांग सप्रमाण, सुकुमार, सुभूमिक, चतुरश्र तथा सुसम्पूर्ण—इन विशेषणो मे विशिष्ट किया है। जहा तक तीसरे चित्र-प्रकार का सम्बन्ध है यथानाम उनको हम Gentry pictures in round frames मे परिकल्पित कर सकते हैं और यह एक प्रकार के सादे चित्र माने जाते हैं। जहां तक चौथा अर्थात मिश्र-प्रकार का सम्बन्ध है उसकी कोई विशेषता नही। वह इन सब विधाओ का मिश्रण ही कहा जा सकता है। डा० राघवन, डा० कुमारस्वामी की इस व्याख्या का खण्डन करते हैं (vide Sanskrit Texts on Paintings I H Q Vol X, 1933)। पाठक उस को वही पर पढें और समझें। मैंने जो ऊपर साधारण संकेत किया है, वह ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक है। विष्णु-धर्मोत्तर लगभग दो हजार वर्ष पुराना है। आगे चल कर पूर्व मध्यकाल तथा उत्तर मध्यकाल मे चित्र-विद्या मे विशेषकर शास्त्र की दृष्टि से बडी उन्नति हुई, तो अनायास चित्रो की विधा पर काफी शास्त्रीय एव कलात्मक स्वत प्रकर्षता प्राप्त हो गई। समरागण-सूत्रधार मे बडे ही वैज्ञानिक एव क्रामिक दिशा से चित्रो की विधा को चित्र-श्रयन पर आधारित कर रक्खा है। अत इस अधिकृत ग्रन्थ की दृष्टि मे चित्र के प्रकार केवल तीन हैं —

(१) पट्ट-चित्र (Paintings on Board),
(२) पट-चित्र (Paintings on Cloth), तथा
(३) कुड्य-चित्र (Paintings on Wall—Mural Paintings) देखिए अजन्ता आदि।

मानसोल्लास (अभिलषितार्थ-चिन्तामणि) मे चित्रो की विधा पचधा बताई गई है:—

(१) विद्ध, जो वास्तव मे यह विद्ध वि ध के सत्य से अनुप्राणित करता है। यहा पर लोक-सादृश्य अर्थात दर्पण सादृश्य चित्रकार का कौशल अभिप्रेत है,

(२) अविद्ध—इस का हम एक प्रकार से आधुनिक Outline Drawing के समान परिकल्पित कर सकते हैं

(३) भाव से तात्पर्य भावव्यक्ति से है। मानसोल्लास की दृष्टि में इस चित्र के उन्मेष मे श्रृंगार आदि रसो का महत्वपूर्ण स्थान है;

(४) रस-चित्र—इस चित्र से सम्बन्ध उपर्युक्त भाव से नहीं, यहा रस का अर्थ द्रव हैं, जो वर्ण-भंग एवं वर्ण-विन्यास एवं वर्ण-चित्रण अर्थात् वर्ण-लेप पर आश्रित है,

(५) धूली-चित्र—यह एक प्रकार से प्रोज्ज्वल वर्णों का आधायक है।

टि० यह वर्गीकरण बहुत वैज्ञानिक नहीं है, कुछ थोड़ा सा भ्रमात्मक प्रतीत होता है।

शिल्प-रत्न में चित्रों की विधा केवल तीन दी गई हैं —

(१) रस-चित्र, जो मानसोल्लास के भाव-चित्र में परिगणित किया जा जा सकता है,

(२) धूली-चित्र तथैव दे० अभि० चि०

(३) चित्र—यह एक प्रकार का वि० ध० का सत्य और मानसोल्लास का विद्ध माना जा सकता है।

चित्र-प्रकारों का यह स्थूल समीक्षण यहा पर्याप्त है, विशेष विवरण मेरे अंग्रेजी ग्रन्थ Royal Arts —Yantras and Citras में देखिये।

वर्तिका—भूमि-बन्धन चित्र-कला का प्रथम सोपान है। बिना भूमि-बन्धन बन्धन के आलेख्य असम्भव है। भूमि का अर्थ यहां पर कैनवास है। आलेख्य में इस साध्य के लिए जो साधन विहित है उसको हम वर्तिका की सज्ञा देते हैं। इस प्रकार वर्तिका और भूमि-बन्धन दोनों को एक दूसरे के साधक-साध्य के रूप में परिकल्पित कर सकते हैं। वर्तिका को हम ब्रुश नहीं कह सकते। यह वर्तिका विशेषकर भूमि-बन्धन में ही उपयोगी मानी जाती है। चित्र-कला के अष्ट विध उपकरणों में वर्तिका का सकेत हम कर ही चुके है। कुछ आधुनिक विद्वानों ने वर्तिका का अर्थ ठीक तरह से नहीं समझा। डा० मोती चन्द्र ने (Cf Technique of Mughal Painting Page 45) वर्तिका को वर्तना के रूप में समझा है। यह भ्रान्त है। वर्तना एक प्रकार से वर्ण-विन्यास है और वर्तिका उपकरण है। इस प्रकार वर्तिका को हम आधुनिक चित्र के पारिभाषिक पदों में (Crayon) के रूप में विभावित कर सकते हैं। इस समीक्षा से हम यह सिद्ध कर देते हैं कि प्राचीन भारत में आलेख्य चित्रों की रचना में (Crayon) के द्वारा जो चित्र के लिए पहला स्केच बनाया जाता था, वह वास्तव में उस अतीत में भी यह प्रक्रिया पूर्ण रूप से प्रचलित थी। संयुत्त-निकाय (द्वितीय, ५) में इस प्रक्रिया का पूर्ण स्केच है, जो आलेख्य चित्रों और (Panels) में भी प्रयुक्त होती थी। इसी प्रकार दश-कुमार-चरित एवं

प्रसन्न-राघव मे भी क्रमश इसे वर्ण-वर्तिका तथा शलाका क नाम से निर्दिष्ट किया है। मुगल-कालीन चित्रकार चित्रो के बनाने में जो खाका खीचते थे वे इमली के कोयले को लेकर यह क्रिया करते थे। आगे आधुनिक काल मे जब पैसिलो का प्रयोग आरम्भ हुआ तो यह परम्परा समाप्त हो गई।

अस्तु, शास्त्रीय दृष्टि से आलेख्य-चित्रो मे चित्र-विन्यास के लिए तीन प्रकार की लेखनिया अनिवार्य थी—वर्तिका, तूलिका, लेखनी। वर्तिका का प्रयोग भूमि-बन्धन अर्थात् Canvas or Background के लिए होता था। पुन वर्ण-विन्यास (Colouring) के लिए तूलिका और लेखनी। पुन चित्र के उन्मीलन के लिए एव उसमे प्रोज्ज्वलता के साथ कान्ति और छाया (Light and Shade) के लिए प्रयुक्त होती थी। आगे आलेख्य चित्र मे जो सर्वमौलिमालायमान प्रकर्ष शास्त्रीय दृष्टि से सिद्धान्त है वह है "क्षय-वृद्धि का सिद्धात" अर्थात् कहा पर किस अग मे भाव-व्यक्ति के लिए, लावण्य लाने के लिए एव सौन्दर्य की स्थापना करने के लिए तथा लोक-सादृश्य एव विनिर्मेय चित्र के द्वारा क्या क्या सूच्य है, प्रदश्य हैं विभाव्य है—यह सब इसी सिद्धान्त के द्वारा चित्र स्फुटता और चित्रकार का अभीप्सित उद्देश्य भी सम्पन्न हो जाता था। चित्र-कला और चित्र-कार का यही परम कौशल था। मानसोल्लास मे जो वर्तिका की परिभाषा दी गई है वह हमारे इस उपर्युक्त सिद्धान्त को दृढ करती है —

> कज्जल भक्तसिक्थेन मृदित्वा कर्णिकाकृतिम्।
> वर्ति कृत्वा तया लेख्य वर्तिका नाम सा भवेत्॥

यह वर्तिका-व्याख्या समरागण जैसे अधिकृत शिल्प-ग्रन्थ से भी पुष्ट होती है (दे० अनु० अ० ७१) मानसोल्लास—अभिलषितार्थ-चिन्तामणि-नामापर शीर्षक-ग्रन्थ मे जो हमने आलेख्य-चित्र मे तीन लेखनियो (वर्तिका, तूलिका तथा लेखनी) का जो सकेत किया है, उनमे तलिका (Paint Brush) भी एक प्रकार से द्विविध कीर्तित की गई है। तूलिका यथानाम क्लर्पेन है जो रेखाओ के लिए है और इसकी दूसरी विधा तिन्दु के नाम से निर्दिष्ट की गई है। इन दोनो की रचना-प्रक्रिया मे भी बडे कौशल की आवश्यता होती थी। विशेषकर बशवृक्ष से यह बनती थी, क्योंकि बश ही इन लखनियो के लिये उस समय बडा उपयुक्त माना जाता था और उस मे ताम्र की यवमात्रिक निब लगाई जाती थी।

जहां तक वर्तिका-निर्माण का प्रश्न है उसकी प्रक्रिया समरांगण-सूत्रधार (मूलाध्याय ७२ १-३, तथा परिमार्जित समरांगण ४६, १-३) में देखिये और साथ ही इस का अनुवाद भी देखिये वहां पर इस वर्तिका-बन्धन में कितने अध्यवसाय की आवश्यकता होती थी—कहां से, किस क्षेत्र में गुल्म, वापी, वृक्ष-मूल आदि आदि स्थानों से—मृत्तिका लानी चाहिये। फिर उसमें कौन कौन से द्रव्य चूर्ण, औषधियां आदि मिलाई जाती थी और किस पारिभाषिक प्रक्रिया से इस की वर्तिका (वर्ति) बनाई जाती थी—यह सब हमारे प्राचीन शिल्प एवं चित्र की प्रौढ़ प्रक्रिया एवं परम्परा पर प्रकाश डालती है।

भूमि-बन्धन—वैसे तो अन्य चित्र शास्त्रीय ग्रन्थों में चित्रों के जो प्रकार बताये जाते हैं, वे कुछ मौलिक एवं निर्भ्रान्त नहीं हैं सत्य, वैणिक, विद्ध, अविद्ध, धूलि, रस आदि सब मेरी दृष्टि में वर्गानुरूप स्पष्ट नहीं हैं, परन्तु समरांगण की दृष्टि में यह दिशा बड़ी वैज्ञानिक है, क्योंकि पुरातत्त्वीय-अन्वेषणों में प्राप्त जो निदर्शन मिलते हैं वे भी समरांगण के चित्र-प्रकारों की पूरी पुष्टि करते हैं। प्राचीन, पूर्व एवं उत्तर मध्य-कालीन जो स्मारक-निदर्शनीय चित्र मिलते हैं वे या तो कुड्य-चित्र (Mural Paintings) हैं अथवा पट्ट-चित्र (Panels) अथवा पट-चित्र जैसे पुरी में भगवान् जगन्नाथ के पट-चित्र—"पटस्थो नारायणो हरि"—(दे० हृ० प०)। इसी प्रकार नाना भाण्डागारों में ऐसे चित्र-स्मारक-रूप में बड़ी मात्रा में मिलते हैं। अतएव स० सू० में जो चित्र की त्रिविधा है वही चित्रानुकूल भूमि-बन्धन भी त्रिविध है।

(१) कुड्य-भूमि-बन्धन (The Mural Canvas),

(२) पट्ट-भूमि-बन्धन (The Board Canvas),

(३) पट-भूमि-बन्धन (The Cloth Canvas)।

इन भूमि-बन्धनों के निर्माण की प्रक्रिया बड़ी ही एक प्रकार की व्रतचर्या-रूपा है। समरांगण-सूत्रधार (दे० अनु०) का आदेश है कि भूमि-बन्धन के लिये कर्ता अर्थात् चित्रकार, भर्ता अर्थात् सम्राट्, शिक्षक अथवा आचार्य या गुरु—इन सब को पहले व्रत रखना चाहिये। फिर जो भूमि-बन्धन के पूर्व वर्तिका निर्मित हो चुकी है, उसकी पूजा करनी चाहिए। पुन यथाभिलषित भूमि-बन्धन पर अथवा मृद्—तदनुरूप पिण्डादि, कल्कादि, चूर्णादि एवं द्रवादि इन सबों से रोमकूर्चक से लेप, प्लास्टर करना चाहिए। यह एक प्रकार की आरम्भिका प्रक्रिया है, जिसकी संज्ञा शिक्षिका भूमि दी गई है। अस्तु अब हम इन तीनों भूमि-बन्धनों की अलग-अलग समीक्षा करेंगे।

कुड्य-भूमि-बन्धन—भित्तिक-चित्रो के लिये लेप्य-प्रक्रिया आवश्यक है। पहले तो दीवाल को सम बनाना चाहिये, पुन क्षीर-द्रुमो जैसे स्नुही-वास्तुक, कूष्माण्डक, कुद्दाली, अपामार्ग अथवा इक्ष आदि के क्षीर-रस को एक सप्ताह तक रक्खा जाये। शिंशपा, आमन, निम्बा, त्रिफला, व्याधिघात, कुटज आदि वृक्षो के रस मे उपर्युक्त क्षीर-द्रुमो के रसो को मिश्रित द्रव्य बना कर उसके द्वारा समतलीय भित्ति पर सिंचन करना चाहिये। पुन दूसरी प्रक्रिया पर आना चाहिये जो मृतिका-लेपन से उस का लिम्पन करना चाहिये। मृत्तिका मादवी होनी चाहिये और उसमे ककुभ, माष, शाल्मली, श्रीफल वृक्षो के द्रवो को लेकर मिलाना चाहिये। इस तरह से प्लास्टर बनाकर गज-चम-प्रमाण मे दीवाल पर लेप करना चाहिये। तीसरी प्रक्रिया अर्थात् अन्तिम प्रक्रिया के द्वारा कडि-शर्करा-चूर्ण के द्वारा इस पर दूसरा प्लास्टर करना चाहिये। इस प्रक्रिया से वर्ण-विन्यास अपने आप उभर आता है और छाया-कान्ति भी इसी के द्वारा प्रस्फुटित हो जाती है।

अजन्ता के चित्रो को देखिये तो Frescos चित्र ही वहा के सब से बड़े अनुपम एव समृद्ध निदर्शन हैं। वे इसी समरागण-सूत्रधार की कुड्य-भूमि-निबन्धन के निदर्शन हैं। ग्रिफिथ (देखिये The Paintings in the Buddhist Cave Temples of Ajanta Vol I, Page 18) ने भी इस प्रक्रिया का समर्थन किया है। अजन्ता के इन कुड्य-भूमि-बन्धनो मे मृत्तिका, गोबर, चावल की भूसी और चूरण (कटि-शर्करा) आदि सभी चूर्ण एव द्रव यथा-पूव-प्रतिपादित प्रक्रिया के द्योतक एव समर्थक हैं। तन्जौर के बृहदीश्वर मन्दिर के आलेख्य-चित्रो को देखें तो वहा पर भी कडि-शर्करा और बालुका का प्रयोग भी इन भित्तिक-चित्रो मे साक्षात् प्रतीत हो रहा है। दक्षिण का यह अति-प्रसिद्ध मन्दिर ११वी शताब्दी का स्मारक-प्रासाद है और समरागण-सूत्रधार भी इसी शताब्दी मे लिखा गया था। अतएव शास्त्र एव कला दोनो का यह ग्रन्थ प्रतिनिधित्व करता है। श्री परम शिवन (देखिये The Mural Paintings on Brhadisvare Temple at Tanjore—an Investigation into the method and Technical studies in the Field of Fine Arts) ने भी इस प्रक्रिया की समीक्षा से इस प्रतिपादित शास्त्रीय प्रक्रिया का समर्थन किया है।

जहा तक मुगल चित्रो एव राजस्थानी चित्रो, जिन को हम उत्तर मध्य-कालीन कृतियो के रूप में विभावित कर सकते है, उनमे भी इसी प्रकार का

भूमि-बन्धन-प्रक्रिया का आश्रय लिया गया था। वैसे तो आधुनिक विद्वानों ने मुगल-कालीन भित्तिक-चित्रों के भूमि-बन्धन को इटली के समान उसको cc Buono की संज्ञा दी है।

अस्तु, हमें यहा पर विशेष विस्तृत समीक्षा मे जाने की आवश्यकता नही। हमे तो समरागण-सूत्रधार की लेप्य-क्रिया की प्रक्रिया को पाठको के सामने रखना था, जो हमारे चित्र-शास्त्र और चित्र-कला के पारिभाषिक एव लौकिक दोनो दृष्टियो का विकास कितना उस समय हो चुका था, यह प्रतिपादित करता है।

अब हम इन तीनो भूमि-बन्धनो मे कुड्य भूमि-बन्धनो के बाद पट्ट-भूमि-बन्धन पर आ रहे हैं।

पट्ट-भूमि-बन्धन —इस प्रक्रिया मे निम्बा बीजो को लाकर उनकी गुठलियो को निकाल कर पुन उनको विशुद्ध कर उनका चूर्ण बनाना चाहिए फिर किसी बर्तन मे रखकर पकाना चाहिए। इसी द्रव मे फलको पर प्लास्टर करना चाहिए। यदि निम्बा-बीज न मिल रहे हो तो शान्ति-भवन का प्रयोग करना भी उपादेय प्रतिपादित किया गया है।

पट-भूमि-बन्धन—वैसे तो अन्य चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थो के अनुसार इस पर भूमि-बन्धनो की प्रक्रिया के नाना अवान्तर भेद प्राप्त होते हैं, परन्तु समरागण-का दिशा मे यह पट्ट-भूमि-बन्धन के ही समान है।

प्राचीन भारत मे तथा पूर्व एव उत्तर मध्यकालीन भारत मे पट-चित्रो का बड़ा प्रसार था। बौद्ध-ग्रन्थो जैसे सयुत्त-निकाय विशुद्धि मग्ग, महावश, मञ्जुश्री-मूलकल्प, ब्राह्मण ग्रन्थो मे जैसे वात्स्यायन काम-सूत्र मे, भास के दूत-वाक्य मे, माधवचार्य की पचदशी मे इस प्रकार के नाना सदर्भ प्राप्त होते है।

उड़ीसा, पट चित्रो का प्राचीन काल से केन्द्र रहा है। पुरी के भगवान् जगन्नाथ के पट-चित्रो का सकेत हम कर चुके हैं। वैष्णव धर्म मे वास्तव में पट-चित्रों का बड़ा माहात्म्य है इस का भी हम पहले ही हयशीर्ष-पचरात्र के प्रवचन के उद्धरण से इस के प्रोल्लास की ओर सकेत कर ही चुके हैं। जिस प्रकार उड़ीसा में इन वैष्णव पीठ (जगन्नाथपुरी) पर पट चित्रो की बड़ी महिमा है उसी प्रकार राज-स्थान के वैष्णवी पीठ श्रीनाथद्वार मे भी इन पट-चित्रो की महिमा है।

हमने अपने *Hindu Canons of Painting* or Citra-Laksanam" तथा Royal Arts—Yantras and Citras मे इस समरागणीय भूमि-बन्धन की जो तुलनात्मक समीक्षा और चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थो, तथा स्मारको के सम्बन्ध मे विश्लेषण किया है, वह विस्तार से वही द्रष्टव्य है।

चित्राधार एव चित्र-मान —भूमि-बन्धन के उपरात बिना आधार एव प्रमाण के चित्र की रचना असभाव्य है । समरागण-सूत्रधार मे इस विषय पर दो अध्याय हैं (देखिए अण्डकप्रमाण एव मानोत्पत्ति) । अण्डक का अर्थ चित्र-शास्त्र की दृष्टि से लगाना मेरे लिये बडा ही कठिन था । अन्ततोगत्वा जो मैंने इसकी व्याख्या की उसको देख कर इस देश के विद्वद्रत्नो यथा म० म० वासुदेवविष्णु मिराशी, उन्होंने इस पर बडी प्रशसा प्रकट की जो शब्द बिलकुल अपरिज्ञेय थे उनको सूत्र-वृक्ष के द्वारा जो व्याख्या दी गई है, उससे पारिभाषिक शास्त्रो के अनुसन्धान एव अध्ययन मे बडा योग-दान मिला है । अण्डक का अर्थ हम ने बादामा माना क्योकि अण्डा और बादाम एक ही आकार के दिखाई पडते हैं । वैसे तो अण्डक का अथ वास्तु-कला की दृष्टि से Cupola है, लेकिन तक्षण एव मूर्तिकला अर्थात् चित्रकला में मेरी दृष्टि मे यह एक प्रकार का खाका (Outline) है । जिस प्रकार से प्रासाद का अण्डक अर्थात् शृ ग या शिखर प्रासाद-कला का सूचक एव द्योतक है, उसी प्रकार से यह अण्डक अर्थात् बादामा तथैव प्रतिष्ठापक है ।

समरागण-सूत्रधार मे नाना अण्डको के मान पर विवरण दिये गये है जैसे पुरुष, स्त्री, शिशु राक्षस, दिव्य, देवता, दिव्यमानुष, प्रमथ, यातुधान, दानव, नाग, यक्ष, विद्याधर आदि आदि ।

अस्तु अब इनकी तालिका प्रस्तुत करते हैं —

क्रम स०	सज्ञा	प्रमाण लम्बाई	चौडाई	विवरण
१	पुरुषाण्डक	६	५	नारिकेलफलोपम
२	वनिताण्डक	—	—	
३	शिशुकाण्डक	५	४	
४	राक्षसाण्डक	७	६	चन्द्रवृत्तोपम
५	देवाण्डक	८	६	
६	दिव्य-मानुषाण्डक	६½	५½	मानुषाण्डक से ½ अधिक
७	प्रमथाण्डक	५	४	शिशुकाण्डक-सम
८	यातुधानाण्डक	७	६	दे० राक्षसाण्डक
९	दानवाण्डक	८	६	दे० देवाण्डक
१०	गन्धर्वाण्डक	८	६	

११	नागाण्डक	८	६	,,
१२	यक्षाण्डक	८	६	,,
१३	विद्याधराण्डक	६½	५½	दे॰ दिव्यमानु॰

अण्डक-प्रमाणो के बाद काय-प्रमाण भी चित्र-शास्त्र मे अत्यन्त उपादेय माने गये हैं। उनके भी प्रमाण निम्न तालिका से सूच्य हैं

व्यक्ति-विशेष	प्रमाण लम्बाई	चौडाई	विवरण
१ देव	३०	८	
१ असुर	२६	७½	
३ राक्षस	२७	७	
४ दिव्य मानुष	—	—	
५ मानव			
अ पुरुषोत्तम (उत्तम)	२४½	६	
ब मध्यम-पुरुष (मध्यम)	२३	५½	
स कनीय-पुरुष (कनिष्ठ)	२२	५	
६ कुब्ज (कूबड)	१४	५	
७ वामन (बौना)	७½	५	
८ किन्नर	७½	५	
९ प्रमथ	६	४	

समरागण सूत्रधार मे नाना रूपो के भी बडे ही मनोरजक प्रकार, वर्ग, एव विधायें प्राप्त होती हैं। उन सब की निम्न तालिका प्रस्तुत की जाती है।—

	जातियां	विधा
१	देव	त्रिविध—मुरज, कुम्भक,
२	दिव्य-मानुष	एकमात्र—दिव्यमानुष
३	असुर	त्रिविध—चक्र, मुत, तीर्णक
४	राक्षस	त्रिविध—दुर्दर, शकट, कूर्म
५	मानव	पच-विध—हस, शश, रूचक, भद्र, मालव्य
६		द्विविध—भेप, वृत्ताकर
७	वामन	त्रिविध—पिण्ड, स्थान, पद्मक
८	प्रमथ	त्रिविध—कूष्माण्ड, कर्वट, तिर्यक्
९	किन्नर	त्रिविध—मयूर, कुर्वट, काम्र

१०	स्त्री	पचविधा—बलाका, पौरुषी, वत्ता, दडा,. . .
११	गज—जन्मत	चतुर्विध—भद्र, मन्द, मग, मिश्र
	जीवनाश्रय	त्रिविध—पर्वताश्रय, नद्याश्रय, ऊपराश्रय
१२	अश्व (रथ्य)	द्विविध—पारस, उत्तर
१३	सिंह	चतुर्विध—शिखराश्रय, विलाश्रय, गुल्माश्रय, तृणाश्रय
१४	व्याल	षोडश-विध —
	हरिण	गण्डक
	गृध्रक	गज
	शशक	काट
	कुक्कुट	अश्व
	सिंह	महिष
	शार्दूल	श्वान
	वृक	मर्कट
	अजा	खर

टि० —यह रूप-तालिका समरागण-सूत्रधार को छोडकर अन्य किसी भी चित्र-ग्रन्थ मे प्राप्य नही। विष्णु धर्मोत्तर, जो इस चित्र-विद्या का सव प्राचीन एव प्रतिष्ठापक ग्रन्थ है, उसमे केवल सकेत मात्र है, तालिका एव विवरण नही मिलते।

यह अण्डक एव काय प्रमाणादि सब एक प्रकार से शास्त्रीय रूढिया (Conventions) है। अण्डक आदि प्रमाण तथा काय आदि प्रमाण यह सब एक प्रकार से चित्र म चि य के उदभावक हैं। यदि हम किसी महापुरुष जैसे भगवान् बुद्ध तथा मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् राम को हम चित्र मे चित्रित करना चाहते है, तो उन्हे हम आजान-बाहु तथा अन्य महापुरुष-लाछनो से लाछित यदि न ी करते हैं, तो कैसे ऐसे महापुरुषो के चित्र चित्र्य हो सकते हैं? सभी महाराजे, अधिराजे भी, इसी प्रकार के महापुरुषो तथा दिव्य देवो के सदृश तेजो-मडल से विभावित किए जाते हैं। रेखाओं से भी इन्हें लाछित किया जाता है। मुखाकृति, शरीराकृति आदि के अतिरिक्त, कुन्तल, केश, वेष, वस्त्र, आयुध—अस्त्र-शस्त्र भी तो यथा पुरुष वैसा ही चित्र—उसी मे यह सब चित्र्य हैं।

इसी प्रकार किस पुरुष अथवा नारी या पशु और पक्षी, देवता अथवा देवी के अंगो प्रत्यगो, उपागो का निर्माण किस प्रकार करना चाहिए, और उसका आकार कैसा होना चाहिए, प्रमाण—लम्बाई, ऊंचाई, मोटाई, गोलाई कैसी करनी चाहिए ? किस चित्र मे अक्षि धनुषाकार अथवा मत्स्योदर-सन्निभा बनाना चाहिए या पद्माकृति मे बनानी चाहिए इन सब की प्रक्रिया चित्र्य पर आश्रित है। यदि प्रेमी और प्रेमिका के अक्षियो का चित्रण करना है तो उनकी आख मत्स्योदर सन्निभा विहित है। शान्त-मुद्रा, ध्यान-मुद्रा मे अक्षि का आकार धनुषाकार बताया गया है। विष्णुधर्मोत्तर मे, राजाओ, महाराजाओ पितरो, मुनियो ऋषियो आदि की किस प्रकार की वेष भूषा करनी चाहिए—यह सब उस ग्रन्थ मे विशेष रूप से द्रष्टव्य है। हमने अपने ग्रन्थ मे समरागण-सूत्रधार के लक्षणो मे इन विवरणो की पूर्ण रूप से समीक्षा की है जो हमारे Hindu canons of Painting or Citralaksanam तथा Royal Arts—Yantras and Citras म विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं।

अस्तु अब मानाधार—इस स्तम्भ के प्रथ-निर्देश क क्षेत्र पर हमने थोडा प्रकाश डाल दिया है, अब चित्र-मान पर विचार करना है। भारतीय स्थापत्य की दृष्टि से चित्र के षडग मे रूप-भेदो के बाद प्रमाणो का महत्त्वपूर्ण स्थान आता है। वैसे तो समरागण-सूत्रधार, विष्णु-धर्मोत्तर तथा अपराजित-पृच्छा ऐसे वृहद्-ग्रन्थो मे चित्र-मान पर काफी विवरण प्राप्त होते हैं, परन्तु मानसोल्लास मे चित्र-प्रमाण प्रक्रिया (Pictorial Iconometry) पर बडा ही पारिभाषिक, वैज्ञानिक तथा प्रौढ विवरण प्राप्त होता है। मानसोल्लास की सबसे बडी देन फलक चित्र (Portrait Paintings) हैं। इन चित्रो के निर्माण के लिए मान-सूत्रो का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है—ब्रह्मसूत्र (Plumb lines) तथा दो पक्ष-सूत्र। ब्रह्मसूत्र यथा नाम केशान्त अर्थात् मस्तक से यह रेखा प्रारम्भ होती है और दोनो आखो की भौहो के मध्य से, नासिकाग्र भाग से, चिबुकमध्य, वक्ष स्थल-मध्य तथा नाभि से गुजरती हुई दोनो पादों के मध्य तक अवसानित हो जाती है। इस प्रकार यह रेखा एक प्रकार से शरीर के केन्द्र को अकित करती है, जो सिर से लगाकर पाद तक खिचती है। जहा तक दो पक्ष-सूत्रो का प्रश्न है वे भी यथानाम शरीर के पार्श्वो से प्रारम्भ होते हैं। यह आवश्यक है कि ब्रह्मसूत्र की रेखा से दोनो ओर छै अगुल के अवकाश पर इन दोनो सूत्रो का प्रयोग करना चाहिए। ये दोनो कर्णान्त से प्रारम्भ करते हैं और चिबुक के पार्श्वों से

गुजरते हुए, जानुओ के मध्य से पुन नाल तथा पाद की दूसरी अंगुली, जो अगूठे के निकट होती है, वहां पर प्रत्यवसानित होती है।

इस अत्यन्त पारिभाषिक मान-प्रक्रिया (Pictorial Iconometry) मे स्थानक-मुद्रायें अर्थात् पाद-मुद्राएं बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। अतएव इन्ही सूत्रो के द्वारा जो समरागण-सूत्रधार मे ऋज्वागतादि नौ स्थानो का प्रतिपादन किया गया है, उनमे मानसोल्लास की दृष्टि से निम्नलिखित पाच स्थानक-मुद्राओं को इन सूत्रो के द्वारा विहित बताया गया है –

इस ग्रन्थ मे इन स्थानक मुद्राओ को ऋजु, अर्धर्जु, साची, अर्धाक्ष तथा भित्तिक की सज्ञाओ मे प्रतिपादित किया गया है।

ऋजु स्थान —सम्मुखीन मुद्रा-स्थिति से वेद्य है जिस मे ब्रह्म-सूत्र (Central and Plumb Line) जैसा ऊपर सकेत है, यहा पर भी छै अगुल का अवकाश बताया गया है।

अर्द्धर्जुक-स्थान —इसका वैशिष्टय यह है कि ब्रह्मसूत्र से पार्श्व पर एक पक्ष-सूत्र का अवकाश आठ अगुल का है और दूसरे पार्श्व पर चार अगुल का।

साची-स्थान —इस मे विशेषता यह है कि ब्रह्म सूत्र से एक पार्श्व पर पक्ष-सूत्र की ओर दस अगुलो का मध्यावकाश बताया गया है और दूसरे पार्श्व पर केवल दो अगुलो का,

अर्धाक्षिक स्थान —इस की अन्य सूत्रो के समान वैसी ही व्यवस्था दी गई है। यहा पर ब्रह्म सूत्र से एक पार्श्व पर पक्ष-सूत्र की ओर एकादश अगुल आवश्यक है और दूसरे पार्श्व पर केवल एक अगुल।

भित्तिक-स्थान —यहा पर ज्यो ही हम पहुचते हैं तो ब्रह्म-सूत्र उड गया और पक्ष-सूत्रो का आधिराज्य हो गया।

अभी तक हम चित्राधार एव मान विग्रह पर कुछ प्रतिपादन करते रहे। अब मानाधारो पर आकर पुन अन्त मे समलम्बित मानो (Vertical Measurements) की तालिका भी रक्खेंगे, जिससे यह पता लगेगा कि प्राचीन भारत मे और पूर्व एव उत्तर मध्यकाल मे चित्र विद्या एव कला कितनी प्रौढ थी और चित्र-शास्त्र का कितना प्रवृद्ध पारिभाषिक विकास हो चुका था। यह सब हमारे स्थापत्य-कौशल के ही सूचक नहीं हैं वरन् हमारे प्राचीन पारिभाषिक एव वैज्ञानिक शास्त्रो का भी प्रतिबिम्बन करते हैं।

समरांगण सूत्रधार के मानोत्पत्ति का अनुवाद देखें, उसी के अनुरूप हम यहां पर चित्र-तालिका की उपस्थापना करते हैं —

८ परमाणु—१ त्रसरेणु	८ यूका—१ यव
८ त्रसरेणु—१ बालाग्र	८ यव—१ अंगुल या मात्रा
८ बालाग्र—१ लिक्षा	२ अंगुल—१ गोलक या कला
८ लिक्षा—१ यूका	२ कला या गोलक—१ भाग

सारा शरीर शिर से पैर तक ऊंचाई में नौ ताल है केशान्त से हनु तक मुख एक ताल का होता है।

ग्रीवा	४ अंगुल	ग्रीवा से हृदय	१ ताल
हृदय से नाभि	१ ताल	नाभि से भेढ़	१ ताल
ऊरू	२ ताल	जानु	४ अंगुल
जंघा	२ ताल	चरण	२ अंगुल

इस प्रकार ब्रह्मसूत्र के अनुसार शरीर की ऊंचाई ६ ताल है और मौमि केशान्त चार अंगुल है। इस प्रकार वास्तविक ऊंचाई नौ ताल और ४ अंगुल है अथवा साढे नौ ताल।

समलम्बित मान (Vertical Measurements)

१ मस्तक-सूत्र (Line of the Crown)

२ केशान्त-सूत्र —यह सूत्र मस्तक से चार अंगुल नीचे से, कर्णाग्र से तीन अंगुल ऊंचे उठकर, शिर के चारों ओर जाती है।

३ तपनोद्देश-सूत्र उपर्युक्त रेखा के नीचे दो अंगुल से प्रारम्भ होती है और शंख-मध्य से जाती है और कर्णाग्र के ऊपर एक अंगुल से प्रारम्भ होती है।

४ कचोत्सग सूत्र —एक अंगुल नीचे से प्रारम्भ होकर जब भौहों के निकट से जाती है तो शीर्ष-कर्म के अन्त में प्रत्यवसानित होती है।

५ कनीनिका-सूत्र —जो अपाग-पार्श्व से प्रारम्भ होकर पिप्पली की ओर जाती है वह एक अंगुल नीचे से प्रारम्भ होती है।

६ नासा-मध्य-सूत्र —दो अंगुल नीचे से प्रारम्भ होकर कपोल के ऊर्ध्व-प्रदेश से गुजरती हुई कर्ण-मध्य में अवसानित होती है।

७ नासाग्र-सूत्र —दो अंगुल नीचे से प्रारम्भ होती है। यह कपोल-मध्य जाता हुआ कर्ण-मूल पर के श्रोतपत्ति-प्रदेश तथा पृष्ठ पर अवसानित होती है।

८ वक्त्र-मध्य सूत्र —आधे अगुल नीचे से प्रारम्भ होकर स्पृक्का अथवा कृकाटिका से गुजरता है,

९ अधरोष्ठ-सूत्र — यह भी आधे अगुल नीचे होता है, पुन वह चिबुक हड्डी से गुजरती हुई ग्रीवा पृष्ठ पर पहुच जाती है,

१० हन्वग्र-सूत्र :—तो दो अगुल नीचे से शुरू होती है। यह ग्रीवा से गुजरती हुई कन्धे की हड्डी पर पहुँचती है,

११ हिक्का-सूत्र —यह कंधो के नीचे से पास होता है,

१२ वक्ष-स्थल-सूत्र —सात अगुलो मे नीचे से प्रारम्भ होता है,

१३ विभ्रमाग-सूत्र :—पाच अगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C P

१४ जठर-मध्य-सूत्र —छै अगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C P

१५ नाभि-सूत्र :—चार अगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C P

१६ पक्वाशय-सूत्र —चार अगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C P

१७ काञ्ची पाद-सूत्र —चार अगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C P

१८ लिंग-शिर-सूत्र —चार अगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C P

१९ लिंगाग्र सूत्र —पाच अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C P

२० ऊरू-सूत्र —आठ अगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C P

२१ मान-सूत्र (ऊरू-मध्य-सूत्र) —चार अगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C P.

२२ जानुमूर्ध-सूत्र :—चार अगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C.P

टि० —ये तीनो (२०–२२) सूत्र जघाओं (Thighs) के बगल से गुजरने चाहियें।

२३ जान्वध-सूत्र —चार अगुल नीचे से प्रारम्भ होते हैं। यह भी जानु के चारो ओर से गुजरना चाहिए।

२४ शक्रवस्ति-सूत्र —बारह अगुल अर्थात् एक ताल से नीचे पास होना चाहिये ;

२५ नलकान्त सूत्र - दश अगुल नीचे से प्रारम्भ होना चाहिए ,

२६ गुल्फान्त सूत्र —दो अगुल नीचे से प्रारभ होना चाहिए ,

२७ भूमि-सूत्र —चार अगुल से नीचे प्रारम्भ होता है ।

इस प्रकार इस ब्रह्म-सूत्र की लम्बाई का टोटल १०८ अगुल हो जाता है।

विशेष सूच्य यह है कि मानसोल्लास की दिशा मे भित्तिक चित्र—कुड्य-चित्रो (Mural Paintings) मे केवल उपर्युक्त चार स्थानो अर्थात् ऋजु आदि प्रथम चार ही उपादेय है । पाचवा भित्तिक-स्थान यहा पर कोई महत्व नही रखता, क्योकि वहा पर कोई भी आनभाग यहा पर प्रकाश्य एव प्रदर्श्य नही होता ।

लेप्य-कर्म

लेप्य-कर्म चित्र-शास्त्र का पारिभाषिक शब्द है । इसमे हम रगो अर्थात् वर्ण-विन्यास तथा पेंटो को नही गताय कर सकते । लेप्य-कर्म का प्रयोग भूमि बन्धन मे है, जिसका साहचर्य वर्तिका से है । और वर्ण-विन्यास जैसा हम आगे देखेंगे, उसका साहचय लेखनी या तूलिका से है । पीछे भूमि-बन्धन-स्तम्भ मे लेप्य-प्रक्रिया पर प्रकाश डाला ही जा चुका है अब यहा पर विशेष ज्ञातव्य एव प्रतिपाद्य यह है कि लेप्य किस प्रकार से निर्मित होता है । प्राचीन भारतीय चित्रकला की सव-प्रमुख विशेषता समस्त स्थावर-जगमात्मक ससार का प्रतिबिम्बन ही एक मात्र उद्देश्य था । अपराजित-पृच्छा का निम्न उद्धरण इस पृष्ठ-भूमि का कितने सुन्दर ढग से समर्थन करता है —

> कूपे जल जल कूपे विधिपर्यायतस्तथा ।
> तद्विच्चित्रमय विश्व चित्र विश्वे तथैव च ॥

अब थोडा सा सकेत आधुनिक चित्र-कला के स्वरूप और उद्देश्य पर करना है, जिससे हमारी प्राचीन चित्र-विद्या का मूलाधार विषयीगत चित्रण (Objective representation) था वह बोधगम्य हो सके, परन्तु आजकल जिन भी चित्रो को देखें उनमे चित्रकारो की अपनी subjective विषयगत भावना के द्वारा यह चित्र निर्मित होने लगे हैं जिनको subjective representations विषयगत चित्र कह सकते हैं । मेरी दृष्टि मे यह आधुनिक चित्र-कला अपनी मूल भित्ति को ही छोड दी है । चित्र का नैसर्गिक अर्थ प्रतिबिम्बन है, अत चित्र और अग्रजी के पद painting शास्त्रीय दृष्टि से कभी भी

पर्यायवाची नहीं हो सकते। अंग्रेजी के इस शब्द Painting के लिए पूरी छूट है जो चाहो Paint करो परन्तु चित्र के लिए तो प्रतिमा के लिए तो इस समस्त स्थावर-जगात्मक संसार से किसी भी पदार्थ अथवा द्रव्य को ले तो उसका तब ही चित्रण हो सकता है जब उसमे प्रतिबिम्बन पूर्ण रूप मे मुखरित हो जाए। अस्तु, इतनी सूक्ष्म समीक्षा पर्याप्त है। अब आइये लेप्य कर्म की ओर।

लेप्य-कर्म—समरांगण-सूत्रधार के लेप्य-कर्म-शीर्षक अध्याय मे लेप्य-प्रक्रिया का बड़ा ही वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक विधान प्रतिपादित किया गया है। पहले तो लेप्य के लिए किस प्रकार की मृत्तिका अपेक्षित होती है, उसके बड़े पृथुल विवरण दिए गये हैं कि यह मिट्टी किन किन स्थानो, स्थलो एवं तटो से लाई जाए। पुन. जैसा हम ऊपर सकेत कर चुके है वर्तिका और भूमि-बन्धन एक दूसरे के क्रमश साधन एवं साध्य हैं। किस प्रकार से वर्तिका बनाई जाती है और किस प्रकार से लेप्य बनाया जाता है यह सब विवरण इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड-अनुवाद मे देखें।

स० सू० मे लेप्य एक मात्र मार्तिक प्लास्टर अर्थात् मार्तिक लेप्य के विवरण दिए गए हैं, परन्तु वि० ध० मे तो ऐष्टिक प्लास्टर (*Brick Plaster*) अर्थात् शैलेय प्लास्टर की विशेष महत्ता दी गई है। यह लेप्य-कर्म वि० ध० मे वज्र-लेप के समान दृढ बताया गया है। डा० कुमारी स्टॅला क्रैमरिश ने वि० ध० के इस चित्र-प्रकरण का अनुवाद किया है उसका अवतरण विशेष सगत नहीं है।

मानसोल्लास मे भी इसी प्रकार के लेप का प्रतिपादन है जिसकी सज्ञा वज्रलेप के नाम से दी गई है।

स्निग्धानुलेपन (Ointment)—जहा तक Ointment का प्रश्न है वह एक प्रकार से किसी भी आलेख्य के लिए जो भूमि-बन्धन (कुड्य-भूमि बन्धन, पट्ट-भूमि-बन्धन अथवा पट-भूमि-बन्धन) लेप्य-कर्म के द्वारा बनता है, उसका दूसरा सोपान स्निग्धानुलेपन (Ointment) है। वह एक प्रकार से अपनी भाषा मे मर्दन एवं प्रोज्ज्वलन के नाम से प्रकीर्तित किया जा सकता है। इस प्रकार से लेप्य-कर्म मे पहला सोपान मृत्तिका-बन्धन है। दूसरा सोपान जो ointment के नाम से हम पुकारते हैं वह एक प्रकार का सुधा-बन्धन अथवा रस बन्धन अथवा वर्ण-बन्धन है। प्रथम बन्धन तो मौलिक है और ये तीनो बन्धन एक प्रकार से इस बन्धन मे वैशिष्ट्य सम्पादन के लिए प्रकल्पित किए गए हैं जो भूमि-बन्धन

की प्रोज्ज्वलता सम्पादनार्थ हैं। अतएव शिल्प-रत्न का निम्न प्रवचन इसी तथ्य का प्रतिष्ठापक एवं पोषक है —

एवं धवलिते भित्तौ दर्पणोदरसन्निभे,
फलकादौ पटादौ वा चित्रलेखनमारभेत्"

वर्ण और लेखनी तथा छाया और कान्ति
(क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त)

स० सू० के चित्राध्यायों मे वर्णों अर्थात् रंगों के प्रवचन नही प्राप्त होते। इसमे एक मात्र सामान्य सन्दर्भ प्राप्त होता है। वि० ध० मे तथा शिल्प-रत्न मे वर्णों के सम्बन्ध मे विशेष विस्तार है और जहा तक मानसोल्लास की बात है वहा तो यह वर्ण-विन्यास-प्रक्रिया और भी अधिक प्रकृष्ट रूप मे परिणत हो गई है।

वि० ध० मे वर्णों की दो कोटियां प्रतिपादित की गई है, पहली कोटि मे, रक्त, शुभ्र, पीत, कृष्ण तथा हरित रंगो को प्रधान रंग Primary Colours माना है। दूसरी कोटि मे शुभ्र, पीत, कृष्ण नील तथा गैरिक (Myrobalam) ये जो भरत के नाट्य-शास्त्र मे प्रधान रंग प्रतिपादित किए गये हैं, वे ही वि० ध० मे पाए गए है। शिल्प-रत्न और मानसोल्लास मे जिन पाच रंगो का वर्णन किया गया है, उनमे भी कुछ वैमत्य है। शिल्प-रत्न मे शुभ्र, रक्त, पीत (Sun) तथा श्याम माने गये है। अभिलषितार्थ-चिन्तामणि मे शुभ्र शंख मे निर्मित, रक्त सीसा अथवा अलक्तक द्रव अर्थात् लाख अथवा लाल खड़िया यानी गेरू से बनता है। हरिताल (Green Brown) तथा श्याम ये ही इस ग्रन्थ मे माने गए हैं।

जहा तक वर्णों का मिश्रण है वह तो चित्रकार पर आश्रित है। वर्णों के विन्यास मे छाया, कान्ति एवं प्रोज्ज्वलता तथा आकर्षण प्रदान करने के लिए स्वर्ण, रजत, ताम्र, पीतल, रक्ताभ, सीसा, ईगर, सिंदूर, टिन इत्यादि नाना द्रव्यों का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार इस उपोद्घात के अनन्तर अब इस विषय पर विशेष विवरण प्रस्तोत्य हैं क्योंकि यह सब कुछ आ जाए तो आलेख्य चित्र के लिए वर्ण-विन्यास ही मौलि-भाजायमान कर्म है। वर्ण-विन्यास मे मूल रंग अथवा शुद्ध वर्ण, अन्तरित रंग, अथवा मिश्र वर्ण-वर्ण द्रव्य, स्वर्ण-प्रयोग— ये सब विवेच्य हैं। पुनः हम तूलिका, लेखनी एवं वर्तना, जो वर्ण-विन्यास (माध्यम) के साधन हैं, उपर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

मूल-रग (शुद्ध-वर्ण)—हमने इस उपोदघात् मे विष्णु-धर्मोतर आदि की वर्ण-तालिकाओ का सकेत किया ही है तथापि जहा विष्णु-धर्मोतर मे पाच मूल रगो की तालिका मिलती है, वहा अन्य ग्रन्थो मे मूल रगो की सख्या केवल चार ही मिलती है। पाश्चात्य चित्र-कला मे मूल रगो की सख्या तीन ही है अर्थात रक्त, पीत, नील। हमारे यहा शुक्ल को जोडकर चार की तालिका बना दी है। एक बात और विवेच्य है कि काला और नीला एक जैसा नही माना जा सकता। अभिलपितार्थ-चिन्तामणि मे जो नीली की परिभाषा दी गई है वह इस विभेद को हमारे सामने साक्षात् उपस्थित कर देती है —

"केवलैव च या नीली भवेदिन्दीवरप्रभा"

इस लिए यह नीली कृष्ण से एक प्रकार से बिल्कुल विभिन्न है, क्योंकि कृष्ण कज्जल-सम कहलाता है। इस प्रकार इन पाच मूल रगो अर्थात् शुद्ध वर्णों के पृथक् पृथक् चषक (प्याले) रक्खे जाते थे। इनका प्रयोग शुद्ध वर्णों तथा मिश्रित वर्णों दोनो के लिए किया जाता था।

वैसे तो अपराजित-पृच्छा मे भी चार ही मूल रग है, परन्तु उसकी नवीनता अथवा उद्भावना यह है कि ये वर्ण नागर, द्राविड आदि चारो शैलियो पर आश्रित है। अत यह विवरण यहाँ पर न लेकर आगे के स्तम्भ (चित्र-शैलियो) मे लेंगे। अब आइये अन्तरित रगो अथवा मिश्र-वर्णों पर।

अन्तरित-रग (मिश्र-वर्ण) —ये वर्ण वर्णों के परस्पर सयोजन अथवा मिश्रण से उत्पन्न होते हैं। अभिलपितार्थ-चिन्तामणि का निम्न उद्धरण पढिये ता हमे इन मिश्रित वर्णों की कैसी सुषुमा निखरती हुई देख पडेगी। शिल्प-रत्न तथा शिव-तत्त्व-रत्नाकर मे भी मिश्र वर्णो के बडे ही सुन्दर विवरण प्राप्त होते हैं। बाण की कादम्बरी पढिए, तो वहा पर ऐसा मालूम पडता है कि सारे के सारे पन्ने मूल रग तथा मिश्रवर्ण दोनो से रगे पडे हैं। आज तक शायद ही किसी ने परम्परागत उक्ति— "बाणोच्छिष्ट जगत्सर्वम्" का ठीक ठीक अर्थ लगाया हो। बाण के मस्तिष्क मे सम्पूर्ण स्थावर-जगमात्मक ससार करामलकवत् था। अतएव यह उक्ति इस पारिभाषिक एव वैज्ञानिक चित्र-शास्त्र के परिशीलन से परिपुष्ट प्राप्त होती है। बाण ने तो गजब ढा दिया कि काले, पीले, हरे भूरे, लाल, नीले, सुनहरे, गेरुए, सफेद, कपोताभ आदि आदि शतश रगो की केलि इस कादम्बरी-क्रीडास्थली में देखने को मिलती है। आगे इस अध्ययन के

परिशिष्ट भाग मे हम महाकवि कालिदास, बाण, श्रीहर्ष आदि आदि अनेक कवियो के काव्यों की सदर्भ-तालिका का उद्धरण देंगे, जिस से इस वर्ण-महिमा पर लक्षण एव लक्ष्य से पूरी पूरी समीक्षा हो सकेगी। अब हम यथा-प्रतिज्ञात यहा पर अभिलषितार्थ-चिन्तामणि का उद्धरण प्रस्तुत करते हैं

शुद्धवर्णा —*परयेद्वर्णैः पश्चात् तत्तद्रूपोचितैस्स्फुटम् ।*
उज्ज्वल प्रोन्नते स्थाने श्यामल निम्नदेशत ॥
एकवर्णापित कुर्यात्तारतम्यविभेदत ।
अधश्चेदुज्ज्वलो वर्णो घनश्यामलता व्रजेत् ॥
भिन्नवर्णेषु रूपेषु भिन्नो वर्ण प्रयुज्यते ।
मिश्रवर्णेषु रूपेषु मिश्रो वर्ण प्रयुज्यते ॥
श्वेतेषु पूरयेच्छख शोणेषु दरद तथा ।
खनब्वलक्तकरस लोहिते गैरिक तथा ।
पीतेषु हरिताल स्यात्कृष्णे कज्जलमिष्यते ।
शुद्धा वर्णा इमे प्रोक्ताश्चत्वारश्चित्रसश्रया ।

मिश्रवर्णा —*मिश्रान् वर्णानितो वक्ष्ये वर्णसयोगसम्भवात् ।*
दरद शखसम्मिश्र भवेत्कोकनदच्छवि ॥
अलक्त शखसम्मिश्र धूमच्छाय निरूपितम् ।
हरिताल शखयुत मेरमत्व ? सदृशप्रभम् ॥
कज्जल शखसम्मिश्र धूमच्छाय निरूपितम् ॥
नीली शखेन सयुक्ता कपोताभा विराजते ।
राजावर्तस्य एवायमतसीपुसष्पन्निभ ॥
केवलैव हि या नीली नीलेन्दीवरप्रभा ।
हरितालेन मिश्रा चेज्जायते हरितच्छवि ॥
गैरिक हरितालेन मिश्रित गौरता व्रजत् ।
कज्जल गैरिकोपेत श्यामवर्ण निरूपितम् ।
अलक्तकेन ससृष्ट कज्जल पाटल भवेत् ।
अलक्त नीलिकायुक्त कर्बुं वर्ण भवेत् स्फुटम् ॥
एव शुद्धाश्च मिश्राश्च वर्णभेदा प्रकीर्तिता ।

रग-द्रव्य —विष्णु-धर्मोत्तर मे नाना-विध रग द्रव्यों का प्रतिपादन है—कनक, रजत, ताम्र, अभ्रक, राजावर्त (हीरक—अर्थात् हीरे की विराट-

देशोद्भवा विधा), त्रपु, हरिताल, सुधा, लाक्षा, हिंगुलक तथा नील और लोहा। विष्णु-धर्मोत्तर का निम्न प्रवचन पढें जिससे न केवल रग-द्रव्यो की तालिका ही नहो मिलेगी, प्रत्युत ये रग-द्रव्य किन किन अन्य द्रवो के सयोग एव मिश्रण से उत्पन्न होते हैं, यह भी यहा पर परिशीलनीय है —

रगद्रव्याणि कनक रजत ताम्रमेव च।
अभ्रक राजवन्त च सिन्दूर त्रपुरेव च॥
हरिताल सुधा लाक्षा तथा हिंगलुक नृप।
नील च मनुजश्रेष्ठ तथान्ये सन्त्यनेकश॥
देशे देश महाराज कार्यास्ते स्तम्भनायुना।
लोहाना पत्रविन्यास भवेद्वापि रसक्रिया॥
सकट लोहविन्यस्तमभ्रक द्रावण भवेन।
एव भवति लोहाना लेखने कर्मयोग्यता॥
अभ्रकद्रावण प्रोक्त सुरसेन्द्रजभूमिजे।
चम्पाकुथोऽथ बकुला निर्यासस्तम्भनाद्भवेत्॥
सर्वेषामेव रगाणा सिन्दूरक्षीर इष्यते।
मातगदूर्वारसप बद्धं सस्तम्भित चित्रमुदारपुच्छै।
धौत जलेनापि न नाशयेत् तिष्ठत्यनेकान्यपि वत्सराणि॥

अब यहा पर जो विशेष विवेचनीय विषय है वह यह है कि विष्णु-धर्मोत्तर का राजावन्त क्या चीज है—कौन सा रग है ? परशियन चित्र-पदावली मे एक लाजवर्दी नाम बडा विश्रुत है। डा मोती च द्र ने इस रग को परशिया की देन माना है, परन्तु मेरी दृष्टि मे यह धारणा भ्रान्त है। राजावन्त अथवा राजावर्त जो सस्कृत तत्सम शब्द है उसी का तद्भव एव अपभ्रश लजावर है जो आज भी उत्तर प्रदेश के पूर्वी इलाको मे विशेषकर गोरखपुर मे नील (Blue par-Excellence) माना जाता है। अजन्ता के चित्रो मे जो इस राजावन्त (नीली) का प्रयोग प्रत्यक्ष दिखाई पडता है वह हमारे देश की ही विभूति है। उसमे परशिया (फारस) का कोई श्रेय नहीं। इसी प्रकार बगाल के दशवीं तथा दशमोत्तर शताब्दियो के प्रज्ञापारमिता-चित्रों मे भी इस राजावन्त का ही परम-कौशल है। कल्प-सूत्र तथा कालकाचार्य-कथा जो हस्त-लिखित ग्रन्थ हैं और जो इस नीले रग (राजावन्त) से रगे गये हैं वे भी सब हमारी इस रग-परपरा के निदर्शन हैं। अब आइये वर्ण विन्यास मे स्वर्ण-प्रयोग पर।

स्वर्ण-प्रयोग —चित्र, जैसा हम ने पहले ही प्रतिपादित किया है, वह आलेख्य और तक्षण दोनो का प्रतिनिधित्व करता है। हमारे प्रतिमा-विज्ञान मे प्रतिमा-द्रव्य-वर्ग पर दृष्टिपात करें तो धातुजा अथवा धातुस्था प्रतिमाओ का कितना विलास था। अत प्राचीन भारत मे प्रतिमा और आलेख्य दोनो मे धातु का प्रयोग बडे परिमाण मे किया जाता था। जहा तक चित्र का सम्बन्ध है, वहा स्वर्ण (The metal par exvellence) का प्रयोग प्राचीन चित्रकारो की एक गहरी हावी थी जिस से चित्रो की अभिख्या, प्राज्ज्वलता, कान्ति, दीप्ति, वर्ण-प्रकर्षता अपने आप निखर उठती थी। स्वर्ण-प्रयोग के द्वारा इन सभी चित्रो—कुड्य, फलक तथा पट म चित्र्य की वेष-भूषा, आकृति—अगोपाग सभी अपने आप निखर उठते थे।

गान्धार की बुद्ध-प्रतिमाओ मे स्वर्ण-प्रयोग सिद्ध होता है। कहा तक अजन्ता, एलोरवा, बाघ, बादामी आदि चित्र-पीठो मे स्वर्ण का प्रयोग हुआ कि नहीं यह एक समीक्ष्य विषय है। अब आइये स्वर्ण-प्रयोग की प्रक्रिया पर। यह प्रक्रिया द्विविधा है —

१ पत्र-विन्यास तथा

२ रस-क्रिया।

पत्र-विन्यास —पुराने चित्रो को देखेंगे तो उनमे स्वर्ण-पत्रा का प्रयोग होता आया है।

रस-प्रक्रिया —स्वर्ण को पहले तपाया जाता था, एव जब वह द्रव रूप मे परिणत हो जाता था, तो उसमे फिर अभ्रक के साथ कुछ क्वाथ एव निर्यास भी मिलाये जाते थे जैसे—चम्पा-क्वाथ, वकुल-क्वाथ।

अभिलषितार्थ-चिन्तामणि तथा शिल्प-रत्न म वर्णो मे स्वर्ण-योग तथा स्वर्ण-लेख-विधि के बडे सुन्दर विवरण प्राप्त होते है जो यहा पर उद्धरणीय हैं—

शुद्ध सुवर्णमत्यर्थं शिलाया परिपोषितम् ॥
कृत्वा कास्यमये पात्रे गालयरान्मुहुर्मुहु ।
क्षिप्त्वा तोय तदालोड्य निर्हरेत्तज्जल मुहु ॥
यावच्छिलारजो याति तावत्कुर्वीत यत्नत ।
घनत्वान्मस्टण हेम न याति सह वारिणा ॥
आस्ते तदमल हेम बालार्करुचिरच्छवि ॥
तत्कलक हेमन स्वल्पवज्रलेपेन मेलयेत् ।

मिलित वज्रलेपेन लेखिन्यग्रे निवेशयेत् ॥
लिखेदाभरण चापि यत्किञ्चिद्हेमकल्पितम् ॥
चित्रे निवेशित हेम यदा शोष प्रपद्यते ।
वाराहदष्ट्रया तत्तु घट्टयेत्कनक शनै ॥
यावत्कान्ति समायाति विद्युच्चक्तिविग्रहम् ।
सर्वचित्रेषु सामान्यो विधिरेष प्रकीर्तित ॥
प्रान्ते कज्जलवर्णेन लिखेल्लेखा विचक्षण ।
वस्त्रमाभरण पुष्प मन्मरागादिक सुधी ॥
अलक्तेन लिखेत्पश्चाच्चित्रवर्ण भवत्तत ।

अब आइये तूलिका की ओर ।

तूलिका–लेखनी–विलेखा (ब्रुश) —समरांगण-सूत्रधार मे विलेखा अर्थात् ब्रुश के अर्थात् कूर्चक के पाच प्रकार बताये गये हैं। पुन उनकी आकृति एव निर्माण दारू पर भी विवरण हैं। जहा तक निर्माण द्रव्य का सम्बन्ध है वह प्राय वश-वृक्ष (बास) की लकडी का प्रयोग होता था। जहा तक इन की कोटियो और आकृतियो का प्रश्न है, वे निम्न तालिका मे निभालनीय हैं,—

संज्ञा	आकार
१ कूर्चक	वटाकुराकार
२ हस्त-कूर्चक	अश्वत्थाकुराकार
३ भास-कूचक	प्लक्ष-सूची-निभ
४ चल-कूर्चक	उदुम्बराकार
५ वर्तनी	?

के पी जायसवाल ने (*Cf.* **A Hindu Text** *on Painting—Modern* **Review XXX Page 37**) मे नवधा कूर्चको का सकेत किया है । अभिलषितार्थ-चिन्तामणि मे विलेखा के सम्बन्ध मे बडे ही सूक्ष्म विवरण प्राप्त होते हैं। यह लेखनी इस ग्रन्थ के अनुसार त्रि-विधा है :—

१ **स्थूला**
२ मध्या तथा
३ सूक्ष्मा ।

पहली से लेपन, दूसरी से अकन, तीसरी मे सूक्ष्मा-लेखा-विन्यास । शिल्प-रत्न मे इन तीनो लेखनियो की नव-विधा है, जो मूल, मिश्र आदि रगो पर

आश्रित है। जहा तक इनके विवरणो का प्रश्न हैं, उनको निम्न उद्धरण मे पढ़िये —

लेखनी त्रिविधा ज्ञेया स्थूला सूक्ष्मा च मध्यमा।
तद्दण्डमृनुमात्र वा विष्कम्भ षड्यव स्मृतम् ॥
मुखे पुच्छे तदष्टाशमष्टाश्र वाथ वर्तुलम् ॥
कृत्वाग्रे विन्यसेच्छकु शौडमर्षागुलोन्नतम्।
यवाकार च सुदृढ तत्र सयोजयेत् पुन ।
स्थूलाया वत्सकर्णोत्थमजोदरभव परे।
विक्रोष्टपुच्छज सक्ष्मायामरोम तृणाग्रकम् ॥
तन्तुना लाक्षया वाथ दण्डाग्रकृतशकुषु ॥
बध्नात् लेखनी सम्यक् प्रतिवर्ण त्रिधा त्रिका ।
आकृत्या च त्रिधा स्थला सूक्ष्मा मध्येति सा पुन ॥
प्रत्येक नवधा चैव प्रतिवर्ण तु लेखनी ।
अथ मध्यमलेखन्या पीतवर्णरसेन तु ॥
किट्टलेखावहिर्भागे लिखित्वाव्यक्तमालिखेत।
मार्जयेत् किट्टलेखा ता पुन सुव्यक्तमालिखेत् ॥
रक्तवर्णरसेनाथ सर्व सम्यक् समालिखेम ।

अब आइये वर्तना पर।

वर्तना (Delineation) —वर्तना मे तात्पर्य वर्ण-विन्यास मे कान्ति एव छाया अर्थात् दीप्ति एव अदीप्ति (Light and Shade) से है। यह वर्तना आलेख्य चित्रो का प्रमुख कौशल है। जिस प्रकार रेखा-कर्म (Delineation and Articulation of the form) भी आलेख्य चित्रो की परम कला है, उसी प्रकार यह वर्तना तो चित्र को कलाओ एव शिल्पो का मुख बना देती है। वर्तना के लिए निम्नलिखित तीन सिद्धान्त परमावश्यक एव अनिवार्य हैं —

१ क्षय	घटाव	)	
२ वृद्धि	बढाव	)	"क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त
३ प्रमाण	मान	)	

डा० स्टैला क्रेमरिश की निम्न समीक्षा (Cf V D Translation—Introduction, p 14) "Fore-shortening (Ksaya and Vrdhi) and proportion (pramana) constitute with regard to single figures the working of observation and tradition The law of Ksaya and

Vrdhi was as intensely studied by the ancient Indian painters as was perspective by the early Italian masters Pramana on the other hand, was the standardized canon, valid for the upright standing figure and to be modified by every bent and turn "

वर्तना की इस मौलिक पृष्ठ-भूमि के विश्लेषण के उपरान्त अब हम उसके प्रकारो पर उतरते हैं।

वर्तना-प्रभेद—त्रिविधा

१ पत्रजा (Cross lines)

२ एरिक (Stumping)

३ विन्दुज (Dots)

कोई भी चित्रकार चित्र्य के लिए प्रथम रेखा-वर्तन करता है। प्रथम रेखा या तो पीताभ या रक्ताभ में खीची जाती है। विष्णुधर्मोत्तर तथा भरत-नाट्य-शास्त्र दोनो ही यही समर्थन करते हैं। विष्णुधर्मोत्तर का निम्न प्रवचन पढिये—

'स्थान प्रमाण भूलम्बो मधुरत्व विभक्तता'

इससे यह पूर्ण सिद्ध होता है कि चित्र मे चित्र्य के सभी अवयवो आदि की प्रोज्ज्वलता के लिए ये सब प्रमाण, लावण्य, विभक्ता आदि विन्यास अनिवार्य हैं। महाकवि कालिदास की निम्न उपमा-उत्प्रेक्षा (दे॰ कुमार सभव) को पढिए।

उन्मीलित तूलिकयेव चित्र वपुर्विभक्त नवयौवनेन'

यहा पर 'विभक्त' शब्द कितना मार्मिक है—जो चित्र-सिद्धान्त को कितना ऊचे उठाता है। अन्त मे यह भी समीक्ष्य है कि वर्तना के द्वारा वर्ण-विन्यास ही चित्र्य का वैषयिक एव विषयिक (Subjective and Objective) प्रस्फोटन कर देता है। आकाश का चित्रण प्राकृतिक अर्थात् विषयिक अथवा आनुमानिक अर्थात् वैषयिक दोनो सभव हैं—यह सब वर्तना पर ही आश्रित है।

चित्र-निर्माण-रूढियाँ

(Conventions in Painting)

प्रतीकात्मक-रूढि-अवलम्बन-परम्परा —चित्र्य को कैसे चित्रित किया जाय ? इस प्रश्न के उत्तर मे आदर्शवाद (Idealism) तथा यथार्थवाद (Realism) दोनो का सहारा लिए बिना शास्त्रीय चित्र-निर्माण-रूढियो पर पूर्ण प्रतिपादन असम्भव है। सभी ललित कलाएँ काव्य, नाटक, सगीत, नृत्य एव चित्र आदर्शवाद के उत्तुग प्रकर्ष से ही नहीं प्रभावित है, वरन् सास्कृतिक

परम्पराओ एव रूढ़ियो का भी वहा पूर्ण प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। जिस देश की जैसी सस्कृति एव सभ्यता, जैसा जीवन एव रहन सहन, जैसी विचार-धारा तथा परम्पराये एव रूढ़िया, वैसी ही उस देश की कलायें। यथार्थवाद कोई फोटोग्राफिक अर्थात प्रातिबिम्बिक प्राभास नही, न तो आदर्शवाद यथार्थवाद का पूर्ण घातक या विरोधक। इन ललित कलाओ मे यथार्थवाद भी अपनी अपनी कलाओ के द्वारा अवश्य प्रभावित रहता है और आदर्शवाद उनको ऊपर उठाता है, तभी इन दोनो के मिश्रित प्रभाव मे ये कलाए वास्तव म प्रोल्लसित एव प्रवृद्ध बनती हैं। तक्षण का कौशल (देखिए सजीव-प्रतिमाए), चित्रकार का दाक्ष्य (देखिये सजीव चित्र) सब उपयुक्त उपोद्घात का समर्थन करते है। शिशुपाल-वध (३ ५१) का श्लोक पढ़िये—जहा, मार्जार-प्रतिमा वास्तव मे सजीव मार्जार का सा वर्णन प्राप्त होता है।

इसी प्रकार रघुवश (१६ १६) का श्लोक पढिये वहा भी सिंह हाथियो को मानो सजीव सा मार रहे हैं। इसी प्रकार अन्य नाना साहित्यिक एव पुरातत्वीय सन्दर्भ एव निदर्शन भी कलायें यथार्थवाद का प्रत्यक्ष दर्शन करा देते हैं। चित्रो के विद्ध, अविद्ध सत्य वैणिक आदि वर्गो पर हम ऊपर लिख चुके हैं। इनमे विद्ध या सत्य एक प्रकार से दर्पणवत् यथाथता का प्रतिबिम्बन करते हैं। इस प्रकार के चित्र-चित्रण वास्तव मे प्रमाण, भू-लम्ब, सादृश्य, भाव योजन वर्णिका भग एव रूप-भेद इन षडगो से ही यह प्रोल्लास प्रथित होता है। शिवतत्व-रत्नाकर तथा महाभारत के निम्न प्रवचन पढे तो इस उपोद्घात का अपने आप पूर्ण समर्थन प्राप्त हो जाता है —

पूरयेद्वर्णत पश्चात्तद्रूपोचित यथा।
उज्ज्वल प्रोन्नते स्थाने श्यामल निम्नदेशत ।
एकवर्णेऽपि त कुर्यात्तारतम्यविशेषत । शि० र०
प्रकीर्णे चित्रपरिचये यथा भ ...नो व्यासस्य —
"अतथ्यान्यपि तथ्यानि दर्शयन्ति विचक्षणा ।
समे निम्नोन्नतानीव चित्रकर्मविदो जना ॥"

इसी प्रकार के काव्य-लक्ष्योदाहरण जसे हेमचन्द्र के काव्यानुशासन मे धनपाल की तिलक-मञ्जरी मे भी यही चित्र धारणा है। ति० म० का निम्न पद पढ़ें —

"दिनकरप्रभेव प्रकाशितव्यक्तनिम्नोन्नतविभागा"

इसी प्रकार जैसा ऊपर कहा है अन्य साहित्यिक सन्दर्भों मे भी ऐसे अनेक और उदाहरण मिलते हैं। इस लक्षण का काव्य-मय विलास ही नही, स्थापत्य-निदर्शनो मे जैसे अजन्ता, बाघ, सित्तनवसल अथवा तजौर आदि प्राचीन प्रासाद-चित्र-पीठों पर भी पहन महा विलास एव प्रोल्लास प्राप्त होता है। अत शिल्प-ग्रन्थो मे क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त का जो प्रतिपादन है, वही स्थापत्य मे भी पूर्ण प्रतिबिम्बन है।

अब प्रश्न यह है कि बिना रूढि-अवलम्बन (Adopting the Technique of Conventions) यह क्षय-वृद्धि, सादृश्य, भूलम्ब एव प्रमाण आदि षडग-चित्र का पूर्ण विधान कैसे सभव हो सकता है ? बिना रूढि-अवलम्बन (Conventions) के यह सर्व-प्रमुख अंग (क्षय-वृद्धि) मुखरित ही नहीं होता। सत्य तो यह है कि रूढि-प्रवलबन ही क्षय-वृद्धि का प्राण है, जिस से यथार्थवादी चित्र पनप सका। विष्य प्रतिमा के केश कैसे दिखायें, आखो का स्पन्दन कैसे विलसित हो, शरीर का घेरा, मोटाई, ऊचाई, विशालता आदि प्रमाण कैसे अकित हो सकते हैं—इन सब के लिए यह सिद्धान्त सापेक्ष्य-रूढि-अवलम्बन से तात्पर्य प्रतीकत्व-कल्पन है। जिस प्रकार काव्य मे ध्वनि को Suggestion कहते हैं, उसी प्रकार यह प्रतीकात्मक रूढि-अवलम्बन चित्र मे ध्वनि ही है। जिस प्रकार काव्य मे शब्दालकारादि की चमक केवल उसको कान्ति तो दे सकती है परन्तु व्यञ्जना नही। व्यञ्जना ही उसे नीचे से उठा कर उत्तुग शिखर पर केलि करा देती है। इसी प्रकार चित्र मे यह प्रतीकात्मक रूढि-अवलम्बन एक प्रकार की व्यञ्जकता ही है, जो चित्र को एक-मात्र मृदुता ही नही प्रदान करती वरन् नाना व्यग्यो का प्रेक्षको को आभास भी दिलाती है।

विद्वान् स्मरण करें कि जिस प्रकार काव्य मे व्यक्ताव्यक्त-कामिनी-कुच-कलश के समान अलकार एव ध्वनि की विनिवश-समीक्षा है, उसी प्रकार प्रतीकात्मक-रूढि-अवलम्बन-परम्परा चित्र मे भी यही विलास उपस्थित करती है।

प्रतिमा-स्थापत्य को भी देखें, जिनमे मुद्राओ (शरीर, पाद, हस्त मुद्राओ) के द्वारा समस्त ज्ञान, वैराग्य, उपदेश, आशीष, भर्त्सन, मगल, वरदान आदि सभी इसी प्रतीकात्मक रूढि-अवलम्बन से सद्य व्यञ्जित हो जाता है। अस्तु, इस उपोद्‌घात् का, हम विष्णु-धर्मोत्तर तथा स० सू० के निम्न प्रवचन से पूरा का पूरा समर्थन स्वत प्राप्त कर जाते हैं —

यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृति स्मृता।

दृष्टयश्च तथा भावा अंगोपांगानि सर्वश ॥
कराश्च ये महा (मया?) नृत्ते पूर्वोक्ता नृपसत्तम ।
त एव चित्रे विनेया नृत्त चित्र पर मतम् ॥
हस्तेन सूचयन्नर्थं दृष्टया च प्रतिपादयन् ।
सजीव इति दृश्येत् सर्वाभिनयदर्शनात् ॥
आंगिके चैव चित्रे च प्रतिमासाधनमुच्यते ।

इस उपोद्घात् के अन्त मे हमे पुन चित्र के सार्वभौमिक क्षेत्र पर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है :—

जगमा स्थावराश्चैव ये सन्ति भुवनत्रये ।
तत्तत्स्वभावतस्तेषा करण चित्रमुच्यते ॥

जब चित्र का इतना बड़ा विस्तार है तो बिना रूढियो के अवलम्बन, बिना प्रतीकत्व-कल्पन यह सब कैसे चित्र्य हो सकता है ?

रूप-निर्माण —विष्णु-धर्मोत्तर मे रूढि-निर्माण का बड़ा ही बहुल प्रतिपादन है। दैत्य, दानव, यक्ष किन्नर, देव, गन्धर्व, ऋषि, राजे महाराजे, अमात्य, ब्राह्मण किस प्रकार से चित्र्य हैं और उनके चित्रण मे कौन कौन से सिद्धान्त जैसे प्रमाण, सादृश्य, क्षय वृद्धि एव प्रतीकात्मक रूढि-अवलम्बन आवश्यक हैं—यह सब विधान निम्न तालिका से स्वत स्पष्ट हो जाता है —

	चित्र	वैशिष्ट्य
१	ऋषि-गण	जटाजूटोपशोभित, कृष्ण-मृग-चर्म धारण किए हुए, दुर्बल एव तेजस्वी ,
२	देव तथा गन्धर्व	शेखर-मुकुट धारण किए हुए , टि० श्री शिव राममूर्ति ने वि० ध० के 'शिखिरै रूपशोभिता " को नहीं समझा , अतएव अर्थ नहीं लगा सके। यह पद भ्रष्ट है अत यह 'शेखरैरूपशोभिता ' होना चाहिए—देखिए मानसार वहा पर शेखरो की नाना विधाओ मे शेखर-मुकुट भी एक विधा है।
३	ब्राह्मण	ब्रह्मवर्चस्वी एव शुक्लाम्बरधारी ,
४	मन्त्री, साम्वत्सर तथा पुरोहित	ये मुकुट-विहीन एव सर्वालकारो से युक्त तथा ठाठ बाठ के कपडो से परिवेष्टित हो, इनके साफा जरूर बधा हुआ होना चाहिए ,

५	दैत्य तथा दानव	भृकुटि-मुख, गोल-मटोल तथा गोल आख वाले, भयानक एव उद्धत-वेश-धारी,
६	गन्धर्व तथा विद्याधर	सपत्नीक, रुद्र-प्रमाण, माल्यालकार-धारी खड्ग-हस्त, भूमि पर अथवा गगन मे ,
७	किन्नर—द्विविध	नृवक्-क्त्र (नरमुख) तथा अश्वमुख—दोनो ही रत्न-जटित, सर्वालकार-धारी एव गीत-वाद्य-समायुक्त तथा द्युतिमान,
८	राक्षस	उत्कच, विकलाक्ष एव विभीषण,
९	नाग	देवाकार, फण-विराजित,
१०	यक्ष	सर्वालकारलकृत,
		टि० सुरो के प्रमथ-गण तथा पिशाच ये दोनों प्रमाण-विवर्जित हैं।
११	देवो के गण	नाना-सत्व-मुख, नाना-वेश-धारी, नाना आयुध-धारी, नाना-क्रीडा-प्रसक्त, नाना कर्म-कारी,
		टि० वैष्णव-गण एक ही कोटि के चित्र्य हैं। विशेषता यह है कि वैष्णव गण चतुर्धा हैं — वासुदेव-गण वासुदेव को, सकर्षण-गण सकर्षण को, प्रद्युम्न-गण प्रद्युम्न को तथा अनिरुद्ध-गण अनिरुद्ध को अनुगमन करते हुए चित्र्य हैं। ये सब अपने देवता का विक्रम प्रदर्शित करें। इनकी कान्ति नीलोत्पल-दल के समान हो और चन्द्र के समान शुभ्र हो, इनके आकार मरकत-सदृश हो और प्रभा सिन्दूर के सदृश हो,
१२	वेश्यायें	वेश उद्धत एव शृगार-सम्मत,
१३	कुल-स्त्रिया	लज्जावती;
		टि० दैत्यो, दानवो और यक्षों की पत्निया, रूपवती बनानी चाहिए। विधवायें पलित-सयुता, शुक्ल-वस्त्र-धारिणी, सर्वालकार-वर्जिता;
१४	कञ्चुकी	वृद्ध;
१५	वैश्य तथा शूद्र	वर्णानुरूप वेश-धारी,

१६	सेनापति	महाशिर, महोरस्क, महानाम, महाहनु, पीन-स्कन्ध, भुज-ग्रीव, परिमाणोच्छ्रिन, नितरग-ललाट, व्योम-दृष्टि, महाकटि एव दृप्त ,
१७	योधा-गण	भृकुटी-मुख, किञ्चन् उद्धत-वेश एव उद्धत-दर्शन ;
१८	पदाति	उछलती हुई गति से चलने वाले और आयुधो का धारण किए हुए—विशेषकर खड्ग-चर्म धारण किए हुए चित्र्य हैं। विशेष विशेषता यह है कि उनका कर्णाटक कोटि का होना चाहिए ,
१९	धनुर्धारी	नग्न जघा वाले, उत्तम बाण लिए हुए, जूते पहन हुए ,
२०	पीलवान	श्यामवर्ण, अलकृत, जटधारी,
२१	घुडसवार	उदीच्य-वेश ,
२२	बन्दि-गण	शाही वेष वाले, परन्तु सिरा-दर्शित-कंठ तथा उन्मुख दृष्टि ,
२३	आह्वानक	कपिल एव केकर के समान आस्य वाले ,
२४	दड-पाणि (द्वार-पाल)	प्राय दानव-सकाश ,
२५	प्रतीहार	दड-धारी, आकृति एव वेश न अधिक उद्धत न शान्त, बगल मे खड्ग तथा हाथ मे दण्ड ,
२६	वणिक्	ऊचा साफा बाधे हुए,
२७	गायक एव नर्तक	शाही वेष-धारी ,
२८	नागरिक (पौरजानपद)	शुभ्र-वस्त्र-विभूषित, पलित-केश एव निज भूषणो से विभूपित, स्वभाव से प्रिय-दर्शन, विनीत एव शिष्ट ,
२९	मजदूर (कमकर)	स्व-स्वकर्म-व्यग्र,
३०	पहलवान	उग्र, नीच-केश, उद्धत, पीन-ग्रीव, पीन-शिरोधर, पीन-गात्र तथा लम्बे ,
३१	वृषभ एव सिंह आदि तथा अन्य सत्व-जातिया	ये सब यथा-भूमि-निवेश विवश्य है ,
३२	स्त्रियाँ	स-शरीर-चित्रण मे वाहन-प्रदर्शन अनिवार्य है, पुन हाथो मे पूर्ण कुम्भ लिये हुए तथा घुटनो को लचाए हुए ,

३३	शैल	मूर्धा पर शिखर-प्रदर्शन आवश्यक है,
३४	पृथ्वी (भू-मण्डल)	सशरीरा, सद्वीप-हस्ता, टि० श्री शिव रामपूर्ति एवं डा० कैमरिश दोनो इन विद्वानो ने विष्णु-धर्मोत्तरीय इस लक्षण को नही समझा क्योकि हमारी परम्परा मे पृथ्वी, देवी के रूप मे विभावित है, अत जब वह चतुर्भुजा या अष्ट-भुजा गौरी, लक्ष्मी या अष्टमंगला के रूप मे विभाव्य है, तो उसके सातो हाथो मे सातो द्वीप करामलकवत् स्वय प्रदर्श्य है ।
३५.	समुद्र	रत्न-पात्रो से उसके शिखर-रूपी हाथ प्रदर्श्य हैं, प्रभा-मडल बनाकर सलिल-प्रदर्शन विहित हो जाता है,
३६	निधिया	कुम्भ, शख पद्म आदि लाछनो सहित इसके दिव्य (शख पद्म, निधि आदि) अवयव प्रदर्श्य हैं,
३७	आकाश	विवर्ण (Colourless), खगाकुल,
३८	दिव (Heavens)	तारका-मडित,
३९	धरा—त्रिविधा	१ जागल-(जगली), २ अनूपा (दलदली), ३ मिश्रा यथा-नाम तथा-गुणा ।
४०	पर्वत	शिला-जाल, शिखर, धातु, द्रुम, निर्झर, भुजग आदि चिन्हो से चिन्हित,
४१	वन	नाना-विध वृक्ष-विहग-श्वापद-युक्त,
४२	जल	अनन्त-मत्स्यादि-कच्छपो एवं जलीय जन्तुओं के द्वारा विभावित,
४३	नगर	चित्र-विचित्र-देवतायतनों, प्रासादो, आपणों (बाजारों) एवं भवनों तथा राज-मार्गों से सुशोभित;
४४	ग्राम	उद्यानों से भूषित और चारो ओर राहों से युक्त;
४५	दुर्ग	वप्र, उत्तुग अट्टालक आदि से परिवेष्टित,
४६	आपण-भूमि	पण्य-युक्त—दुकानों से घिरी हुई,

४७	आपान-भूमि	पीने वाले नरो से आकल,
४८	जुवारी	उत्तरीय-विहीन एव जुआ खेलते हुए,
४९	रण-भूमि	चतुरग सेना से युक्त, भयानक लडाई लडते हुए योधा-गणो से, और उनके अगो मे रुधिर की धारा बहती हुई और शवो से पूरित,
५०	श्मशान	जलती हुई चिता से प्रदश्य है जहा पर लकडी के ढेर और शव भी पडे हो,
५१	मार्ग	सभार उष्ट्रो सहित,
५२	रात्रि (अ)	चन्द्र, तारा, नक्षत्र, चौर, उलूक आदि से एव सुप्तो से,
	(ब)	प्रथमार्ध-रात्रि अभिसारिकाओ से,
५३	उषा	सारुणा, म्लान-दीपा, कुक्कुट-रुता,
५४	सध्या	नियमी ब्राह्मणो से,
५५	अधेरा	घर जाते हुए मनुष्यो की गति से,
५६	ज्योत्स्ना	कुमुदो के विकास एव चन्द्रमा से,
५७	सूय	क्लेश-तप्त प्राणियो स,
५८	बसन्त	फुल्ल-वृक्षो से, कोकिलाओ, भ्रमरो, प्रहृष्ट नर-नारियो से,
५९	ग्रीष्म	कनान्त नरो से, छायागत मृगो से, पकमलिन महिषो से, शुष्क-जलाशय-चित्रण से,
६०	वर्षा	द्रुम-सलीन पक्षियो स गुहा-गत सिह-व्याघ्रादि श्वापदो से, जल-घन बादलो से, चमकती हुई बिजली से,
६१	शरद्	फलो से लदे हुए वृक्षो से, पके हुए खेलो से, हसादि पक्षियो से सुशोभित सलिलाशयो से,
६२	हेमन्त	सारी की सारी सूनी (लूनी) धरती से, धुँधले वातावरण से (सनीहार-दिगन्तकम्),
६३	शिशिर	हिमाच्छिन्न दिग-दिगन्त स, वृक्षो मे पुष्प और फलो से और ठिठुरते हुए प्राणियो से ।

टि० —विशेष प्रवचन यह है कि वृक्षो के फलो-फूलो पर एकमात्र दृष्टिपात एव जनो का आन्दातिरेक—यही चित्र्य ऋतुओ के लिये काफी है ।

इस तालिका के उपरान्त अब इस स्तम्भ मे यह भी ग्रन्त मे समीक्ष्य एव विवेच्य है कि यह प्रतीकात्मक रूढि-अवलम्बन एक-मात्र क्षय-वृद्धि एव सादृश्य तथा भूलम्बादि चित्रागो पर ही आश्रित नही है, प्रमाण भी उसी प्रकार अनिवार्य है।

देव, ऋषि, गन्धर्व, दैत्य, दानव, राजे-महाराजे, अमात्य तथा सावत्सर, पुरोहित आदि सब भद्र-प्रमाण (दे० अनुवाद एव मूल —पच-पुरुष-स्त्री-लक्षण) मे चित्र्य है। विद्याधरो को रूद्र-प्रमाण मे, किन्नर, नाग, एव राक्षस मालव्य-प्रमाण में करना चाहिए। जहा तक वेश्याओ एव लज्जावती महिलाओ का प्रश्न है, वे रूचक एव मालव्य-प्रमाण मे क्रमश चित्र्य हैं। वैश्य भी रूचक मान मे प्रदर्शित हैं। शूद्र-मान शशक-मान विहित हैं। यह ग्रन्थ भी कुछ विशेष क्रमिक नही है। जहा तक अन्य शिल्प ग्रन्थ जैसे कामिकागम आदि, वहा मान-प्रमाण ताल-मान पर आश्रित हैं।

चित्र रस एव दृष्टिया

पीछे के स्तम्भो मे रेखा-करण, वर्तना-करण एव वर्ण-विन्यास इन सब पर कुछ न कुछ प्रतिपादन हो चुका है। निम्न लिखित प्रवचन पढिए —

"रेखा प्रशसन्त्याचार्या वर्णाढ्यमितरे जना
स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति वर्तना च विचक्षणा ॥"

तथापि वर्ण-विन्यास एक प्रकार से चित्र-कार और चित्र-दृष्टा दोनो के मन को अवश्य अभिभूत करता है। इसी मन स्थिति मे चित्र-कार एव चित्र-दृष्टा दोनो की कल्पनाओ का स्वत जन्म हो जाता है। अत काव्य और चित्र मे विशेष अन्तर नही है।

वैसे तो चित्र की विधाओं पर हमने मानसोल्लास और शिल्प-रत्न के रस-चित्रो का भी वहा पर प्रस्ताव किया है तथापि इन ग्रन्थों की दृष्टि मे रस-चित्र या तो द्रव-चित्र हैं या भाव-चित्र हैं। भरत के नाट्य-शास्त्र मे सबसे बडी विशेषता यह है कि कोई भी रस, यदि किसी चित्र मे चित्रित करना है, तो उस को अभिव्यञ्जक वर्ण-विन्यास से प्रणीत करना चाहिए। शृगार का अभिव्यञ्जक श्याम वर्ण है, हास्य का शुभ्र, करुण का ग्रे (Gray), रौद्र का रक्त, वीर का पीताभ शुभ्र, भयानक का कृष्ण, अद्भुत का पीत तथा बीभत्स का नीला है।

चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थो मे समरागण-सूत्रधार ही एक मात्र ग्रन्थ है जिसमे चित्र-रसो एव चित्र-दृष्टियों का वर्णन है। इस ग्रन्थ के लेखक भोजदेव ने शृगार

प्रकाश से हम परिचित ही हैं और संस्कृत-साहित्य मे महाराज भोजदेव की बडी देन है और वे एक ऊँचे साहित्य-शास्त्री (Aesthetician) थे। अतएव यह अध्याय उसी दिशा मे उनकी देन है। इस अध्याय का निम्न प्रवचन पढिए —

रसानामथ वक्ष्यामो दृष्टीनां चेष्ट लक्षणम ।
तदायत्ता यतश्चित्रे भावव्यक्ति, प्रजायते ।।

अस्तु, इस उपोद्घात् के अनन्तर अब हम इन रसों एवं रस-दृष्टियों की तालिका पाठकों के सामने रखते हैं। यद्यपि अनुवाद-खड मे रस-दृष्टि-लक्षण-शीर्षक अध्याय म इन सभी रसों एवं रस-दृष्टियों का प्रतिपादन वहां है ही तथापि रस का सरलीकरण एवं नवीन-रूप देकर यह दो तालिकाए उपस्थित की जाती है

एकादश चित्र रस

	संज्ञा	शारीरिक वृत्ति	मानसिक वृत्ति
१	शृंगार	स-भ्रूकम्प, प्रेमातिरेक	ललित चेष्टाय
२	हास्य	अपांग विकसित, अधर स्फुरित ,	लीला
३	करुण	अश्रुविलग्न कपोल, आखें शोक-सकुचित,	चिन्ता एवं सताप
४	रौद्र	आखें लाल, ललाट निर्माजित, अधरोष्ठ दन्त-दष्ट ,	
५	प्रमा	हर्षातिरेक सम्पूर्ण शरीर पर—अर्थलाभ, सुतोत्पत्ति एवं प्रिय-दर्शन से ,	
६	भयानक	लोचन उद्भ्रान्त, हृदय-सक्षोभ, यह सब वैरि-दर्शन एवं वित्रास से ,	
७	वीर		धैर्य एवं वीर्य
८			
९	वीभत्स		
१०	अद्भुत	तारकायें स्तमित अथवा प्रफुल्लित किसी असभाव्य वस्तु अथवा दशा से,	
११	शान्त	समस्त शरीरावयव अविकारि ,	अराग एवं विराग

अष्टादश चित्र-रस-दृष्टियां

क्रम सं०	संज्ञा	आश्रय रस
१	ललिता	शृंगार
२	हृष्टा	प्रेमा
३	विकसिता	हास्य
४	विकृता	भयानक
५.	भृकुटी	
६	विभ्रान्ता	श्रृंगार
७	संकुचिता	श्रृंगार
८	.	
९	ऊर्ध्वगता	
१०	योगिनी	शान्त
११	दीना	करुण
१२	दृष्टा	वीर
१३	विह्वला	भयानक तथा करुण
१४	शंकिता	भयानक तथा करुण

इस स्तम्भ में यह भी सूच्य है कि ये रस तथा रस-दृष्टियां संस्कृत काव्य-शास्त्र की कापी नहीं हैं। इन रसों और रस-दृष्टियों के लक्षण से अपने आप सिद्ध है कि ये लक्षण बहुत काफी परिमार्जित एवं परिवर्तित संस्करण में रक्खे गये हैं, जिससे भाव-चित्र-प्रतिमाओं में भी विहित हो सकें। यह हम जानते ही हैं कि काव्य में भावों का स्थान गौण है और रसों का स्थान मूर्धन्य है। बात यह है कि चित्र में भावों पर ही शारीरिक एवं मानसिक दोनों ही स्फूर्तियां क्रीडा करती हैं और यही चित्र का परम कौशल है।

अस्तु, अब हमें चित्र-कला में इस साहित्य-सिद्धान्त (Aesthetics) के परिवृत्त में दो प्रश्नों को लेना है। यद्यपि संस्कृत-साहित्य-शास्त्रीय अथवा संस्कृत-काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से रसों का साक्षात् सम्बन्ध मानवों (नर, नारी एवं शिशु) से ही है और उन्हीं के दिव्य रूपों यथा देव, दानव दैत्यों से ही है, परन्तु इस चित्र-कला में रसों को इस परिमित कोटि से बहुत आगे बढ़ा दिया गया है और इसका एक-मात्र श्रेय इसी ग्रन्थ को है। पाठक इस स० सू० के अध्याय का निम्न प्रवचन पढ़ें —

इत्यते चित्र-मयोगे रसा प्रोक्ता मलक्षणा ।
मानुषाणि पुरस्कृत्य सर्वसत्त्वेष्वु योजयेत ॥

मेरे लिए इस वाक्य ने इस अध्याय में बड़ी प्रेरणा प्रदान की। अतएव मैंने अपने अंग्रेजी ग्रन्थ (Hindu Canons of Painting) में इस वाक्य की सराहना करते हुए निम्न समीक्षा की है जो पाठकों के लिए पठनीय है। यहाँ पर यह उद्धृत की जाती है —

" Two important points in relation to the aesthetics in the pictorial art still need to be expounded Firstly all these rasas, though characteristic of only human beings—men women, and children and in their likeness, the anthropomorphic forms of the gods and demi gods and demons—they have an application to all sentient creations-Manusani Puraskrtya Sarvasatvesu Yojayet' 82 13 This statement goes to the very core of the art and shows that if birds and animals in paints could be shown manifesting the sentiments, it is realy the master-piece, the supreme achivement of the artist It becomes a new creation, a superio creation to that of Brahma, the Primordial Creator Himself If it is through the symbolism of Mudras—hand poses, bodily poses and the postures of the legs the mute gods speak to us,giving their vent to the sublimest of thoughts and noblest of expressions these so called brutes can also become our co sharers in the aesthetic experience It is the marvel of the art If poetry can create an idealistic world full of beauty and bliss alone, the plaining, her sister must also follow the suit "

अब आईये एक तुलनात्मक समीक्षा की ओर जिसमें हम नाट्य काव्य, रस और ध्वनि सभी को लेकर इस चित्र-कला की समीक्षा करेंगे।

चित्र-कला नाट्य-कला पर आश्रित है —विष्णु-धर्मोत्तर में मार्कण्डेय और वज्र के सवाद में चित्र-कला की मौलिक भित्ति वास्तव में नाट्य-कला है जो इस सवाद से स्वतः प्रकट —

मार्कण्डेय उवाच—नृत्य-शास्त्र के ज्ञान के बिना, चित्र-विद्या के सिद्धान्तों को समझना बड़ा ही कठिन है, इस लिए हे राजन् इस पृथ्वी का कोई भी कार्य इन दोनों विद्याओं के बिना असम्भव है"

वज्र उवाच—ओ ब्राह्मण ! नृत्य-कला और चित्र-कला के सम्बन्ध में मुझे पूरी तरह से समझाइये क्योंकि मैं भी यह मानता हूँ कि नृत्य-कला के सिद्धान्तों में चित्र-कला के सिद्धान्त स्वयं गताय हैं।

मार्कण्डेय पुनरुवाच—राजन् ! नृत्य का अभ्यास किसी के भी द्वारा दुष्कर है, जब तक वह संगीत को नहीं जानता तो फिर बिना संगीत के नृत्य का आविर्भाव ही असम्भव है।

अतएव इस विष्णुधर्मोत्तरीय महान विभूति का अनुगमन करते हुए महाराजाधिराज भोजराज इस समन्वय-दृष्टि से नृत्य-नाट्य-संगीत की भूमि पर पल्लवित, पुष्पित एवं फलित चित्र-विद्या को काव्य और साहित्य के प्लेट-फार्म पर लाकर खड़ा कर दिया है। इस रसाध्याय के निम्न प्रवचन पढ़िये —

हस्तेन सूचयन्नर्थं दृष्टया च प्रतिपादयन्।
सजीव इव दृश्यत सर्वाभिनयदर्शनात्॥
आंगिके चैव चित्रे च प्रतिमामाधनमच्यते।
(भवेदत्रायत ?) स्तस्मादनयोश्चित्रमाश्रितम्॥
प्रोक्त रसानामिदमत्र लक्ष्म दशा च संक्षिप्ततया तत्।
विज्ञाय चित्र लिखता नराणां न संशय याति मन कदाचित्।

इस प्रकार इन दोनों ग्रन्थों की अवतारणा से यह प्रकट हो गया है कि चित्र नाट्य पर आधारित है। मेरी दृष्टि में तो नाट्य तथा चित्र दोनों ही अन्योन्याश्रयी हैं। चित्र नाट्य का एक दृश्य है और नाट्य चित्रों की कड़ी (Succession of citras) है।

विष्णुधर्मोत्तर का पूर्वोक्त प्रवचन (विना तु नृत्य शास्त्रेण चित्रसूत्र सुदुर्विदमित्यादि) पढ़े तो जिस प्रकार नाट्य 'अनुकरण' पर आधारित है उसी प्रकार चित्र भी अनुकरण पर ही आधारित है। पुन जिस प्रकार नाट्य में हस्त-मुद्राएं अनिवार्य हैं, उसी प्रकार चित्र-शास्त्र एवं प्रतिमा-शास्त्र में भी इन मुद्राओं—*शरीर-मुद्राओं (ऋज्वागतादि), पाद मुद्राओं (वैष्णवादि स्थानक आदि)* तथा हस्त-मुद्राओं (पताका आदि) का भी इस चित्र-कला एवं प्रतिमा-कला में सामान्य प्रश्न है (दे० समरांगण-सूत्रधार का परिमार्जित संस्करण एवं अनुवाद षष्ट पटल)। यथाप्रतिज्ञात अब विष्णु-धर्मोत्तरीय प्रवचन को सामने रखता हूँ —

बिना तु नृत्यशास्त्रेण चित्रसूत्र सुदुर्विदम्।
यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृतिः स्मृता॥
दृष्टयश्च तथा भावा अङ्गोपाङ्गानि सर्वशः।

करास्च य महानृत्ते पूर्वोक्ता नृपसत्तम ॥
त एव चित्रे विज्ञया नृत्त चित्र पर मतम्

इन दोनो सदर्भों की अवतारणा के उपरान्त यह स्वत सिद्ध हो गया है कि चित्र जिस प्रकार से मुद्राओ के द्वारा बहुत कुछ व्यक्त अवश्य होते हैं परन्तु रसो और रस-दृष्टियो म वे साक्षात सजीव हो उठते है । जिस प्रकार व्याख्यान, वरद आदि मुद्राओ से प्रतिमाए व्याख्यान देने लगती है, उपदेश देने लगती हैं, वरदान देने लगती हैं, उसी प्रकार से य मुद्रायें चित्रो और प्रतिमाओ को अपने पूर्ण व्यक्तित्व मे अभिव्यक्त कर देती है। भाव-व्यक्ति जब रसाभिव्यक्ति मे परिणत हो जाती है तो यह कला न रह कर रस शास्त्र (*Aesthetics*) *बन जाती है। अब आद्य चित्रो को काव्य के रूप मे* देखें —

काव्य एव चित्र —वामन अलकारिक-परम्परा के प्रौढ आचार्य माने जाते हैं, उनके काव्यालकार-सूत्र मे बहुत से अलकार एव वत्तिया चित्र के रूप मे व्याख्यापित है। इसी महती दृष्टि मे काव्य की परिभाषा को चित्र म परिणत कर दिया हैं —

रीतिरात्मा काव्यस्य

और रीति को उन्होने जो वत्ति से व्याख्या की है वह भी कितनी मार्मिक है —

"एतासु तिसृषु रेखास्विव चित्र काव्य प्रतिष्ठितम्"

यत उन्होने काव्य की आत्मा 'रीति' मानी है उसी प्रकार से चित्र की आत्मा रेखायें है। विष्णु-धर्मोत्तर के उपरि-उद्धृत रेखा प्रशसन्त्याचार्या' भी यही परिपुष्ट करता है। पुन वामन अपने काव्यालकार-सूत्र-वृत्ति ३।१ मे रेखा से आगे बढ कर गुण मे आ जाते है —

यथा विच्छिद्यते रेखा चतुर चित्र-पण्डितै ।
तथैव वागपि प्राज्ञै समस्तगुणगुम्फिता ॥

यह उक्ति पुन विष्णुधर्मोत्तर की उक्ति का स्मरण कराती है —

'वर्णाढ्यमितरे जना'

निम्नलिखित थोडे से और उद्धरण पढिए, जिससे काव्य एव चित्र मे क्या कोई अन्तर है—यह सब अपने आप बोध-गम्य हो जावेगा —

"औज्ज्वल्य कान्ति —*यह काव्य के दश गुणो मे से* कान्ति भी प्राचीन आलकारिको के द्वारा माना गया है, अत कान्ति अर्थात् औज्ज्वल्य यथा पूर्व-

स्तम्भो मे चित्र गुणो मे ग्रौज्वल्य की समीक्षा कर ही चुका हूं यहाँ वामन के मत मे ग्रौज्वल्य काव्य गुण है। पुन उनके लक्षण एव वृत्ति को देखें —

" ग्रौज्वल्य कान्ति का सू० ३ १ २५

"यथा विच्छिद्यते रेखा चतुर चित्रपण्डितैः ।

तथैव वागपि प्राज्ञ समस्तगुणगुम्फिता । 'का सू० २ १

" ग्रौज्वल्य कान्ति "		का सू ३ २५

"बन्धस्य उज्ज्वलत्व नाम यत् ग्रसौ कान्तिरिति, तदभावे पुराणच्छायेत्युच्यत"

'ग्रौज्वल्य कान्तिरित्याहुर्गुण गुणविशारदा ।

पुराणचित्रस्थानीय तेन बन्ध्य कवेर्वच ॥

वामन ग्रपने काव्यालकार सूत्र (१ ३ ३०-३१) मे भी विष्णुधर्मोत्तर के समान ही नाट्य एव चित्र का क ही कोटि मे लाकर रख देते हैं —

"सन्दर्भेषु दशरूपक नाटकादि श्रय तद्धि चित्र चित्रपटवत् विशेषसाकल्यात्"

यही भरत के नाट्य-शास्त्र तथा भाव-प्रकाश मे भी समर्थित है—

"ग्रवस्थानुकृतिर्नाट्य रूप दृश्यतयोच्यते" भ० ना० शा०

'रूपक तद् भवेद् रूप दृश्यत्वात प्रेक्षकैरिदम' भा० प्र०

(स) ग्रतएव वामन ने जो "रीति रात्मा काव्यस्य"

कहा है उसी की सुन्दर टीका हमे राजशेखर के द्वारा भोज देव के सारस्वती-कण्ठाभरण मे प्रदत्त इस वामन के सूत्र की जो वहा व्याख्या मिलती है वह भी कितनी मार्मिक है

"यथा चित्रस्य लेखा प्रत्यङ्गलावण्योन्मीलनक्षमा, तथा रीतिरिति द्वितीये विस्तर "

भट्टतौत के शिष्य ग्रभिनवगुप्त ने भी ग्रपनी ग्रभिनव-भारती मे वामन के इस नाट्य एव चित्र के सन्दर्भ को भी समर्थित किया है, जो वहीं पर पठितव्य है।

(II) राजशेखर की ग्रपने बाल-भारत (प्रचण्ड-पाण्डव) मे प्रदत्त निम्न उक्ति को पढिये ग्रौर समझने की कोशिश कीजिये—

"विच्छिन्न स्तोकतम कलापकलनश्यामायमान मनाक्

धूम्रश्यामपुराणचित्ररचनारूप जगज्जायते '

(III) राजानक कुन्तक के वक्रोक्ति-जीवितम् के निम्न श्लोक

मञ्जनोफलकोल्लेखवर्णच्छायाश्रिय पृथक् ।
चित्रस्येव मनोहारि कर्तु किमपि कौशलम् ॥

इन दोनो सन्दर्भो से चित्र-विद्या एव काव्य-शास्त्र का कितना सुन्दर अन्योन्याश्रयिभाव प्रत्यक्ष है । राजानक कुन्तक यहा दो भूमि-बन्धनो (कुड्य एव पट्ट) की ओर सकेत ही नही करते, वरन् रेखा-कर्म के सिद्धान्तो—जैसे प्रमाण (anatomical), वर्ण, छाया-कान्ति आदि पर भी प्रकाश डालते है ।

चित्र एव रस चित्र-कला मे रसो एव रस-दृष्टियो के अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण स्थान का हम पहिले इस स्तम्भ मे विचार कर चुके हैं । यहाँ तो हमे सस्कृत के काव्याचार्यो का लेना था, अत निम्नलिखित दोनो उद्धरणो को पढिये । एक चित्र शास्त्री अभिलषितार्थ-चिन्तामणि के लेखक, महाराज सोमेश्वरदेव का तथा सस्कृत काव्य-शास्त्री चन्द्रालोक के लब्धप्रतिष्ठ लेखक जयदेव का—

शृङ्गारादिरसो यत्र दर्शनादेव गम्यते ।
भावचित्र तदाख्यात चित्रकौतुककारकम् ॥ अभि० चि०
काव्ये नाट्ये च कार्ये च विभावाद्यैर्विभावित ।
आस्वाद्यनानकतनु स्थायी भावो रस स्मृत. ॥—चन्द्रा०

अत यह पूर्ण प्रकट है जब चित्र नाट्य पर आश्रित है और नाट्य रसास्वाद अथवा रसाभिव्यक्ति पर ही आश्रित है तो उसी प्रकार काव्य भी तो रस-सिद्धान्त चित्र-कला का भी तत्सम सिद्धान्त है । आइये सर्वोपरि कोटि पर—ध्वनि-सिद्धान्त ।

चित्र एव ध्वनि —पीछे के स्तम्भ मे प्रतीकात्मक अवलम्बनो (Convention in depicting pictures) पर हम काफी कह चुके है, अत जिस प्रकार व्यञ्जना (Suggestion) उत्तम काव्य की मूल भित्ति है, उसी प्रकार आकाश, पृथ्वी, पर्वत, जुवारी, माग आदि कैसे बिना प्रतीकात्मक अवलम्बनो (Suggestions or symbols) के चित्र्य हो सकते हैं । आधुनिक काव्य एव कला के समीक्षक ललित-कला मे मुद्रा-सिद्धान्त (Symbolism in Art) को प्राण माना है तो प्राचीन आचार्यो ने पहले ही यह परम्परा प्रारम्भ कर दी थी । नाट्य, प्रतिमा एव चित्र मे बिना मुद्रा ये सब निष्प्राण हैं, अत जो मुद्रा है वही व्यजना है । रसध्वनि स्वशब्दवाच्यत्व से हमेशा दूर रहते हैं; तभी काव्य मे उत्तम काव्यता प्राप्त हो सकती है । उसी प्रकार चित्र भी काव्य एव

नाट्य के समान तभी ललित कला हो सकती है, जब व्यजना या प्रतीकात्मक अवलम्बन (Suggestion or symbol) उसमे पूर्ण प्रविष्ठत हो।

चित्र-शैलियाँ
(पत्र एव कण्टक के आधार पर)

जहा तक चित्र-शैलियो की बात है स्थापत्य की ही शैलियों मे इनको गतार्थ किया जा सकता है। अब तक किसी न भारत भारती Indology मे चित्रो के सम्बन्ध मे शैलियो का उपश्लोकन नही किया है। अनेक वास्तु-ग्रन्थो के अध्ययन के उपरान्त जब हम अपराजित-पृच्छा पर आए, तो इस ग्रन्थ के २२७-२२९ सूत्रो मे बडी ही मार्मिक एव नवीन उद्भावना प्राप्त की है।

चित्र-पत्र —अपराजित-पृच्छा में जिस प्रकार रेखा-कर्म, वर्ण-विन्यास, मान-प्रमाण चित्र के लिए अनिवार्य अग हैं, उसी प्रकार पत्र-विन्यास तथा कण्टक-स्फूर्ति भी एक प्रकार से चित्र की प्रोज्ज्वलता लाने के लिए एव छाया और कान्ति के लिए तथा प्रदीप्ति के लिए आवश्यक माने गए हैं। मेरी दृष्टि मे इन पत्रो और कण्टको का सम्बन्ध चित्रकला मे प्राकृतिक पृष्ठ-भूमि (Natural Background) से सम्बन्ध रखता है। दूसरी उद्भावना यह है कि ये पत्र और कण्टक चित्र-विशेष केन्द्रो के सम्भवत विशेष वशिष्ट्य हैं। अतएव पत्रो और कण्टका का निम्न तालिका मे जो इनकी शैलिया और विधा से सम्बन्ध है, इन वास्तुग्रन्था मे शैला का कहीं भी कीर्तन नही। जातिया ही वहा प्रतिपादित की गई है। इस लिए शैलिया और जातिया एक ही चीज हैं। इन पत्र-जातियो के सम्बन्ध मे अपराजित-पृच्छा में एक बडा ही मनोरजक और पौराणिक आख्यान है कि इन पत्रो और कण्टको का किस प्रकार से प्रादुर्भाव हुआ —

"समुद्र-मथन मे जब नाना रत्न निकले तो सुरतरू-कल्प-वृक्ष भी निकला, जिसमे नाना प्रकार के पुष्प-पत्र लदे थे। जो पदादि पूर्व में थे उसकी सज्ञा नागर हुई, जो दक्षिण में थे उनकी सज्ञा द्राविड हुई और जो उत्तर में थे वे वेसर हुए। पुन इन पत्रो को ऋतु से सम्बद्ध कर दिया अर्थात् वसन्त में नागर, ग्रीष्म में द्राविड तथा शरद् में वेसर। इन्ही पत्रो की जातियो को एक दूसरे से वैभिन्न्य प्रदान करने के लिए (To distinguish) इन पत्रो के जो कण्टक थे वे ही इनके घटक हुए।

अस्तु, इस उपोद्घात के बाद पहले हम पत्र तालिका पर आए :—

षड्विधा

१	नागर	४	वेसर	टि० इन पत्रो को हम ग्रन्थ मे नाना
२	द्राविड	५.	कलिग	पत्रो मे विभाजित किया है जिनकी
३	व्यन्तर	६	यामुन	सख्या सख्यातीत है, जैसे दिन-पत्र, ऋतु-पत्र, मेघ-पत्र, स्थल-पत्र आदि

अष्टविधा

चित्र-पत्र-कण्टक इन—कण्टको का अष्ट-विधा है —

१.	कलि	५	व्यावर्त
२	कलिका	६	व्यावृत्त
३.	व्यामिश्र	७	सुभग
४	निम्न कौशल	८	भग-चित्रक

अपराजित पृच्छा के निम्नाद्धरण से इन की आकृति भी विभाव्य है— अर्थात् कलि अगस्त्यपुष्पकाकार, कलिका वराहदष्ट्राकृति, व्यामिश्र वद्धपुष्पोद्भ-वाकार, मध्यकेशराकार, कौशल उकारसदृशाकार, व्यावृत्त व्याघ्रनखा-कार, सुभङ्ग क्रांताकृति एव भङ्ग बदरीफलाकार। जहा तक शैल्यनुरूप अर्थात् जातिपुरस्सर इन कण्टको की विचित्रता है वह इस तालिका से निभाव्य है —

नागर	व्याघ्रनखाकार
द्राविड	बदरी-केतकी-आकार
वेसर	अगस्त्य-पुष्पकाकार
कालिङ्ग	उकाराकार
यामुन	मध्यकेशराकृति
व्यन्तर	वराहदष्ट्राकृति—

पत्र एव कण्टको का चित्र-प्रोल्लास महाकवि बाण-भट्ट के काव्यो दे० हर्षचरित का निम्न प्रवचन जो इस चित्र-कौशल का पूर्ण प्रतिबिम्बन करता है —

"बहुविधवर्णदिग्धाटगुलीभिर्ग्रीवासूत्राणि

च चित्रयन्तीभिश्चित्रपत्रलतालेख्यकुशलाभि"

अन्त में इन शैलियो पर कुछ और भी विवेच्य है। वैसे तो चित्र-कला के तीन प्रमुख युग सम्प्रदायानुसार विभाजित किये गये हैं—हिन्दू चित्र-कला, बौद्ध चित्र-कला, तथा मुगल चित्र-कला। चूकि हम यहा हिन्दू स्थापत्य एव चित्र की शास्त्रीय समीक्षा कर रहे हैं अतः जहा तक हिन्दू युग- का सम्बन्ध है, उसमे ऐतिहासिक शैलियो का कोई विशेष महत्व नही, क्योकि इस युग की चित्र-कला एक ही आधार पर बनी है जो स्मारक निदर्शन से साक्षात् प्रतीत है।

तारानाथ ने बौद्ध चित्र-कला पर बडी ही मनोरंजक कहानी प्रस्तुत की है। तारानाथ ने बौद्ध चित्र-कला की तीन शैलियो की उद्भावना की है —

१ देव-शैली २ यक्ष-शैली ३ नाग-शैली।

देव-शैली—मगध देश (आधुनिका बिहार) की महिमा है, जिसका काल उन्होने ईसा-पूर्व छठी से लगाकर तीसरी शताब्दी तक रखा है। उस समय इस कला का महान् उत्थान बताया गया है जो चित्र महान आश्चर्य एव विस्मय के उदाहरण थे।

यक्ष-शैली—अशोक-कालीन प्रोल्लास है। अशोक के काल में अवश्य तक्षण एव चित्र का महान् विकास हो चुका था। अशोक-स्तम्भ स्मरणीय निदर्शन हैं।

नागर शैली—नागार्जुन (बौद्ध भिक्षु एव महान बौद्ध दार्शनिक तथा पण्डित) के समय में यह तीसरी शैली ने जन्म लिया। नागो की कला का हम कुछ संकेत कर ही चुके हैं। नाग जाति बडी ही तक्षण कुशल थी, अत. चित्र-कौशल में कैसे पीछे रह सकती थी। अमरावती का बौद्ध स्तूप नाग-तक्षको की ही कृति मानी गई है।

तारानाथ की यह भी आलोचना है कि ईसवीयोत्तर तृतीय शतक से बौद्ध चित्र-कला का ह्रास प्रारम्भ होने लगा था। पुनः बौद्ध चित्र-कला जाग उठी। उसका पूर्ण श्रेय महनीय-कीर्ति तक्षक एव चित्रकार बिम्बसार को था, जो महाराजा बुद्ध-पक्ष के राज्य काल में उत्पन्न हुए थे। वह मागध थे। उनका समय ५वीं अथवा ६वीं शताब्दी के बीच माना जाता है। उस समय तीन भौगोलिक चित्र-केन्द्र पनप रह थे। मध्य देश, पश्चिम देश, तथा पूर्व। बिम्बसार ने इस मध्य प्रदेश की चित्रकला को अति प्राचीन देव-चित्र-कला के अवतारण (Renaissance) में परिणत कर दी थी।

जहा तक पश्चिम केन्द्र की बात है, उसे हम राज-स्थानी केन्द्र के नाम से सकीर्तित कर सकते है। इस केन्द्र का लब्धकीर्ति चित्रकार शारगधर थे जो मारवाड मे पैदा हुए थे। उस समय राजा शील राज्य कर रहे थे। सम्भवत यह राजा उदयपुर के शिलादित्य गुहिल थे, जिनका समय ७वी ईसवी शती माना जाता है। तारानाथ के मत मे ये चित्र-कलाए अति प्राचीन यक्ष-कौशल पर आलम्बित थी।

अब आइये पूर्वी स्कूल पर। यह बगाल मे विकसित एव प्रोल्लसित हुआ था। राजा धनपाल तथा राजा देवपाल बगाल के बडे कला-सरक्षक नरेश थे। यह समय नवी शताब्दी माना जाता है। इसी प्रदेश मे नागो की शैली का पुनरुत्थान हुआ। इसका श्रेय उस केन्द्र के महाकीर्ति-शाली धीमन तथा उनके पुत्र विनपल को था जो दानो कुशल तक्षक एव चित्रकार के साथ साथ धातु-तक्षण मे भी अति प्रवीण थे।

इन प्रमुख चित्र-केन्द्रो एव तत्तद्देशीय शलियो के अवान्तर केन्द्र एव भेद भी प्रादुर्भूत हो गये। काश्मीर, नपाल, बर्मा, दक्षिण के बहुत से नगर इन सभी स्थानो पर उप केन्द्र विलसित हो गये। इस सम्भ मे हमें मध्य-कालीन चित्र कला की विशेष अवतारणा आवश्यक नही। मध्य-काल की चित्र-शैली को 'कलम' पर आधारित किया गया था। कलम से लेखनी नही ब्रुश समझे। देहली कलम आदि से हम परिचित है। उसी प्रकार राजपूताने के चित्र-कौशल मे जयपुर तथा कागरा ही आते है। पुन अब आइये उत्तरापथ की ओर तो हम बहुतो की प्रसिद्धि पाते है तथा कुछ नवीन कलमें जैसे लखनवी, दक्षिणी, काश्मीरी ईरानी पटना आदि आदि।

अस्तु, थोडे मे विहगावलोकन के उपरान्त अब हम चित्र-कार के चरणो पर पाठको को नत-मस्तक करने के लिए इच्छुक है, क्योंकि महाराजाधिराज सोमेश्वर देव ने चित्रकार को ब्रह्मा के रूप मे विभावित किया है।

चित्रकार एव उसकी कला

चित्रकार के सम्बन्ध मे कुछ लिखने के प्रथम हमे यहा पर यह भी थोडा इगित करना आवश्यक है कि भारतीय चित्र-कला तथा पश्चिमीय चित्र-कला मे क्या अन्तर है। सर्व-प्रमुख सिद्धान्त यह है कि इस देश की सभी कलाए क्या सगीत, क्या नृत्य, क्या नाट्य, क्या काव्य—यहा तक कि वास्तु एव शिल्प भी

सभी ये कलायें दर्शन की ज्योति से उद्दीपित थी। सगीत में नाद ब्रह्म, काव्य एवं नाट्य मे शब्द-ब्रह्म (दे० वैयाकरणो का स्फोट-ब्रह्म, जो उनके ग्रनुजो का भी वही ध्वनि-सिद्धान्त मे गतार्थ है) तथा रस ब्रह्म वास्तु मे वास्तु-ब्रह्म-ये सब कल्पनाएं कोरी कल्पनाएं नही ये कलाग्रो को सार्वभौमिक एव सर्वकालीन (Space and time) आभा से आभासित कर दिया था। जिस प्रकार सगीत अर्थात् Classical Music एक महती साधना है, उसी प्रकार चित्र भी उससे कम महती निष्ठा एव साधना से रहित नही है। चित्र एक मात्र मनोरंजन कला नहीं; वह काव्य, नाट्य एव वास्तु शिल्प के समान भी वह अध्यात्म से अनुप्राणित है एव महान् प्रेरणा को प्रदान करने वाली है। अजन्ता की गुफाओं मे सैकडो वर्ष किस महान् अध्यवसाय एव तप की साधना मे इनकी रचना हुई—देखिए महाभिनिष्क्रमण-चित्र, मार कर्म (Exploits of Mara) अप्सराओं की क्रीडायें, विद्याधर-यक्ष-गन्धर्व-किन्नरो के साथ देवगण, नाना पुष्प-पादप-पारिजात-वल्ली-गुल्म-लता वीरुध आदि प्रकृति—छाया-ये सब चित्र न केवल प्रशसा के लिए वरन् महती प्रेरणा के लिए भी हैं।

यद्यपि ललित कलाओं का सेवन सभी जातियों एव सभ्यताओं तथा सस्कृतियो का अभिन्न अग है तथापि भारत की इन कलाओं मे कुछ भिन्नता भी तथा विशिष्टता भी है। विशेषकर इस जगत मे पाश्चात्य एव पौर्वात्य मे ये ही दो सस्कृति-धारायें विशेष-रूप से समीक्ष्य हैं। भारत का कलाकार या चित्र-कार दार्शनिक पहले, कलाकार बाद में। पाश्चात्य चित्र-कला की विशेषता रेखा Mass है और पौर्वात्य चित्र कला की विशेषता रेखा Line है। पर्सी ब्राउन ने इन दोनो की जो समीक्षा की है वह बडी मार्मिक एव सार-गर्भित है—

As the painting of the West is an art of "mass" so that the East is an art of Line The Western artist conceives his composition in contiguous planes of light and shade and colour He obtains his effect by 'Play of surface' by the blending of one form into another, so that decision gives place to suggestion In Occidental painting there is an absence of definite circumscribing lines any demarcation being felt rather than seen On the other hand, much of beauty of Oriental painting lies in the interpretation of form by means of a clearcut definition, regular and decided in other words, the Eastern painter expresses from

through a convention—the convention of pure line and in the manipulation and the quality of this line the Oriental artist is supreme Western painting like western music, is communal, it is produced with the intention of giving pleasure to a number of people gathered together Indian painting, with the important exception of the Buddist frescoes is individual-miniature painting that can only be enjoyed by one or two persons at a time In its music, in its painting, and even in its religious ritual, India is largely individualist"—Brown

चित्र के दोष गुण

चित्र कला के प्राय सभी अगो (षडगो) पर हम विचार कर ही चुके है। अब आइये पुन. विष्णु-धर्मोत्तर की ओर जिसमे चित्र-दोषो एव चित्र-गुणो पर भी काफी प्रवचन प्राप्त होते है— देखिये ये निम्न प्रवचन —

चित्र-गुरा —स्थानप्रमाणभूलम्बो मधुरत्व विभक्तता ।
सादृश्य क्षयवृद्धिश्च गुणाश्चित्रस्य कीर्तिता ।।
रेखा च वर्तना चैव भूषाणा वर्णमेव च ।
विज्ञेया मनुजश्रेष्ठ चित्रकर्मसु भूषणम् ।।
रेखा प्रशसन्त्याचार्या वर्तनाँ च विचक्षणा ।
स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति वर्णाढ्यमितरे जना ।।
इति मत्वा तथा यत्न कर्तव्यश्चित्रकर्मणि ।
सर्वस्य चित्रग्रहण यथा स्यान्मनुजोत्तम ।।
स्वानुलिप्तावकाशा च निदेशा मधुका शुभा ।
सुप्रपन्नभिगुप्ता च भूमिस्मच्चिकमणि ।।
सुस्निग्धविस्पष्टसुवर्णरेख विद्वान्यथादेशविशेषवेशम् ।
प्रमाणशोभाभिरहीयमान कृत भवेच्चित्रमतीव चित्रम् ।।

चित्र दोषा —दौर्बल्यबिन्दुरस्त्वमविभक्तत्वमेव च ।
बृहद्गण्डौष्ठनेत्रत्वमविरुद्धत्वमेव च ।।
मानवाकरता चेति चित्रदोषा प्रकीर्तिता ।
दुरासन दुरानीत पिपासा चान्यचित्तता ।।
एते चित्रविनाशस्य हेतव परिकीर्तिता. ।

चित्रकार—अब आइये चित्रकार की ओर। हम इस स्तम्भ में पहले ही कह चुके हैं। महाराज सोमेश्वर देव जो लब्ध प्रतिष्ठ एक स्वयं चित्रकार भी थे, तथा प्रसिद्ध ग्रन्थ मानसोल्लास (अथवा अभिलषितार्थ-चिन्तामणि) के लेखक भी थे, वे चित्रकार के सम्बन्ध में लिखते हैं।—

प्रगल्भैर्भाविकैस्तज्ज्ञैः सूक्ष्मरेखाविशारदैः।
विधिनिर्माणकुशलैः पत्र-लेखन-कोविदैः॥
वर्णपूरणदक्षैश्च वीरणे च कृतश्रमैः।
चित्रकैर्लेखयेच्चित्रं नानारससमुद्भवम्॥

स सू का भी प्रवचन पढ़े

बुध्यन्ते केऽपि शास्त्रार्थं केचित् कर्माणि कुर्वते।
करामलकव (त्यास्य पर ?) द्वयमप्यद॥
न वेत्ति शास्त्रवित् कर्म न शास्त्रमपि कर्मवित्।
यो वेत्ति द्वयमप्येतत् स हि चित्रकरो वरः॥

प्राचीन भारत के थोड़े से ही चित्रकारों के सम्बन्ध में कुछ साहित्यिक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। पुराणों एवं ऐतिहासिक ग्रन्थों जैसे महाभारत में भारत का प्रथम चित्रकार एक नारी थी—चित्रलेखा। उसका वृत्तान्त प्रायः सभी को विदित है। बात यह है कि भारतीय चित्रकला अनभिधेय कला (Anonymous art) है। भारत के चित्रकार के विषय में एक प्रकार से बिल्कुल ही अज्ञान है। पश्चिम के चित्र-कलाकारों के पूर्ण वृत्तान्त ज्ञात हैं। मुगलों, राजपूतानों तथा अन्य प्रदेशों के चित्र ही चित्रकार के वृत्तान्त-जीवन साधना एवं कला—के मूक इतिहास हैं। हां बौद्धों की चित्र कला से यह अनुमान अवश्य लगा सकते हैं कि भिक्षु ही चित्रकार था। विदर्भी चित्रों को देखिये वे सब संघारामों चैत्यों एवं विहारों की कृतियां हैं। वही सत्य अजन्ता आदि प्राचीन बौद्ध पीठों की कथा है। जिस प्रकार भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों के लिए बौद्ध धर्म की नियमावली में जो दिनचर्यायें कल्पित थी वहीं चित्र-पटों, चित्र-पट्टों के कल्पन, सेवन एवं ज्ञानार्जन तथा उपदेश वितरण के लिए भी अनिवार्य चर्या थी। राजस्थान में जिस प्रकार ग्रामे ग्रामे नाना कलाकार—तन्तुवाय धातु-कार, कुम्भ-कार, प्रतिमा-कार थे उसी प्रकार उन्हीं श्रेणियों में सर्वत्र चित्रकार भी अपनी आराधना, अध्यवसाय-व्यवसाय से जीविकोपार्जन एवं जीवन-यापन करते थे। मुगल चित्र कार वास्तव में राज-दरबार का दरबारी चित्रकार होता था।

जिस प्रकार गुप्त-काल मे तथा धाराधिप भोज-देव के दरबार मे कवियो की श्रेणिया रत्नो के रूप मे विभाज्य थी, उसी प्रकार चित्रकार भी रत्न कहे जाते हैं। विक्रमादित्य के नौ रत्नो की गाथा एव श्रुति से हम परिचित ही हैं—उसी प्रकार उत्तर मध्यकाल मे यह मुगल-कालीन परम्परा अवध मे भी प्रचलित हो गई।

चित्र-कला के पुरातत्वीय एवं ऐतिहासिक निदर्शनों पर एक विहंगम दृष्टि

यद्यपि समरांगण-सूत्रधार का यह अध्ययन शास्त्रीय है तथापि जैसा कि समाज में और शिष्ट-मण्डली एवं पण्डित-मण्डली में यह उक्ति थी कि 'साहित्य समाज का दर्पण है' अतः कोई भी शास्त्र यदि समाज का दर्पण न भी हो तो वह समाज के लिए निश्चय ही आदर्श, प्रेरणाएं और पारिभाषिक शास्त्र एवं विज्ञान अवश्य प्रस्तुत करता है। हमारे देश में जिस प्रकार से सम्पूर्ण जीवन-चर्या नियम-बद्ध यापन करनी चाहिए उसी के लिए तो प्रभु-सम्मित वैदिक आदेश मिले (चोदनामूलो धर्मः)—चोदना-प्रणा उसी प्रकार हमारे मनु आदि धर्माचार्यों ने धर्मशास्त्र बनाये। इतिहास और पुराणों ने सुहृद्-सम्मित उपदेश के द्वारा यही कार्य सम्पादन किया और काव्य-नाटक भी पीछे नहीं रहे। उन्होंने भी कान्तासम्मित उपदेश एवं ज्ञान को ही ध्यान में रखकर आदि कवि वाल्मीकि एवं व्यास ऐसे तथा महाकवि कालिदास बाणा, भवभूति, श्री हर्ष आदि भी बहुत सी कलाओं, सामाजिक मान्यताओं एवं धार्मिक उपचतनाओं अर्थात् समस्त सांस्कृतिक मूलाधारों एवं रूढ़ियों को प्रश्रय देने में पीछे नहीं रहे। अस्तु, यदि साहित्य समाज का दर्पण है तो कला भी समाज का प्रतिबिम्ब है अतः हम इस अध्ययन में पुरातत्वीय चित्र-निदर्शनों को छोड़ना उचित नहीं समझते। पुनश्च उपर्युक्त महाकवियों की मार्मिक उक्तियां, जो चित्र से सम्बन्धित हैं, उनका परिशीलन भी इस अध्ययन में उपकारक होगा।

अब प्रश्न यह है कि हम इतिहास की दृष्टि से पहले पुरातत्व को लें या साहित्य को लें? वास्तव में कालानुरूप (Chronological) इन दोनों धाराओं का विवेचन असम्भव है—जहां तक परिनिष्ठित कला का प्रश्न है, क्योंकि कोई भी परिनिष्ठित कला बिना शास्त्र के कभी भी विकसित नहीं की जा सकती। पाषाण एवं धातु इन दोनों युगों में पर्वत की कन्दराओं में कोई न कोई उत्कीर्ण

चित्र अवश्य प्राप्त होते हैं। उसी प्रकार साहित्यक-सदर्भों को देखे तो हमारे इस देश मे सुदूर प्रतीत मे सभ्यता और सस्कृति का कला-सेवन एक अभिन्न अग था। इस प्रकार पूव-ऐतिहासिक, वैदिक तथा शैशव बौद्धकाल ये —सभी चित्रकला के सेवन मे प्रमाण उपस्थित करते है। महाभारत और पुराणो मे उषा और चित्र-लेखा की जो कहानी हम पढते हैं, उस समय चित्र कला कितनी प्रबद्ध कला थी। यह स्वत सिद्ध हो जाता है। ई० पूव रचित साहित्यक ग्रथ जैसे विनय-पिटक, वात्स्यायन का काम-सूत्र, कौटिल्य का अथशास्त्र, भास के नाटक कालिदास और अश्वघोष के महाकाव्य—इन सभी ग्रन्थो मे चित्र-कला का प्रोल्लास पद-पद पर दिखाई देता है।

आज का युग कागज और छपाई का युग है इस लिए जरा हम सोचें कि उस सुदूर अतीत मे जनता मे उपदेश वितरण करने के लिए, ज्ञानाजन के साधनो के लिए तथा विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायो म धर्म-चर्या के उपकरणो के लिए पट-चित्र, पट्ट-चित्र, कुड्य-चित्र—तीनो बहुत सुदर साधन थे। बौद्धो के अनेक चैत्यो और विहारो (दे० अजन्ता आदि बुद्ध-पीठ) मे कुड्य-चित्रो का निर्माण कोई मनोरजन-मात्र ही न था। बुद्ध-धम की शिक्षा, चर्या एव दशन की प्रत्यभिज्ञा और अभिख्या के लिए ही इन का उद्देश्य था। शूद्रक के मुद्राराक्षस का यम-पट इसी तथ्य का निदर्शन है। प्राचीन काल मे धम-गुरुओ एव उपदेशको के लिए चित्र ही बडे साधन थे, जिन से अज्ञो एव शिशुओ को उपदेश देते थे। हमारे देश मे ब्राह्मणो का एक सम्प्रदाय था जिसकी सज्ञा 'नख' (नख ब्राह्मण) थी, जो कुन्डली-चित्रो (portable frame work) की सहायता से ही, वे एक प्रकार से धम और अधर्म, पाप एव पुण्य, भाग्य एव दुर्भाग्य—इन सब का ज्ञान प्रदान करते थे।

हम पहले ही प्रतिपादन कर चुके हैं कि नाट्य और चित्र एक ही है तो जब नाट्य एक प्राचीनतम शास्त्र एव कला थी (नाट्य-वेद) तो फिर चित्र पीछे कैसे रह सकता है। अस्तु, अब कोई माप-दण्ड हमारे समक्ष नही रहा कि पुरातत्व को पहले प्रारम्भ करे या साहित्यक को अत हम पहले पुरातत्वीय निदर्शनो को लेते है।

पुरातत्वीय निदर्शन—ऐतिहासिक दृष्टि से चित्र के पुरातत्वीय स्मारको को हम दो कालो मे विभाजित कर सकते है—पूव-ईस्वीय तथा उत्तर-ईस्वीय।

पूर्व-ईसवीय को हम दो उप-कालों में विभाजित कर सकते हैं—प्रागैतिहासिक तथा ऐतिहासिक।

प्रागैतिहासिक—इस काल में जैसा हम ने ऊपर संकेत किया है वे सब पर्वत-कन्दराओं के ही भग्नावशेष हैं। जहां तक हमारे देश की इस कला का प्रश्न है, वह निम्नलिखित प्राचीन स्थानों में प्राप्य है:—

(अ) कामूरपर्वत-श्रेणी—मध्य भारत की इन पर्वत-श्रेणियों में कुछ कन्दरायें हैं जहां पर मृगया-चित्र पाये जाते हैं — पुरातत्वान्वेषण की यह विज्ञप्ति है।

(ब) विन्ध्य-पर्वत-श्रेणी—इन पर्वत-श्रेणियों की गुहाओं में उत्तर-पाषाण-कालीन चित्र-निदर्शन प्राप्त हुए हैं। ये निदर्शन एक विशेष विकास के निदर्शक भी हैं, कि वहां पर ऐसा प्रतीत होता है मानो ये Art Studio हैं, जहां पर वर्णों को कूटने छानने एवं विन्यास-प्रदानकर बनाने के लिए उलूखलादि पात्र पाये गये हैं। पर्सी ब्राउन (दे० उनकी Indian painting) ने इस को Neolithic art studio के रूप में उद्भावित किया है।

(स) अन्य पर्वत-श्रेणियां, विशेषकर माड नदी के पूर्वीय क्षेत्र की ओर जो रायगढ स्टेट (मध्य प्रदेश) में सिंहपुर ग्राम है, वहां पर अति प्राचीन चित्र प्राप्त हुए हैं, जिनमें रैखिक विन्यास, रक्ताभ वर्ण-विन्यास भी प्राप्य होता है। इन चित्रों में चित्र्य मानव एवं पशु दोनों ही के चित्र प्राप्त होते हैं। इन चित्रों को ब्राउन ने Heiroglaphics की संज्ञा में उद्भावित किया है।

पशुओं में हरिण, गज, खरगोश आदि के मृगया-दृश्य बड़े ही मार्मिक चित्र यहां प्राप्त होते हैं। महिष-घात-चित्र बड़ा ही भयानक एवं विस्मयकारी है जहां पर भालों से भैंसा मारा जा रहा है तथा जब वह मरणासन्न हो रहा है तो शिकारी आनन्दातिरेक से विभोर हो रहे हैं। ब्राउन की समीक्षा में इन चित्रों में haematite brush forms में रेखा-चित्रों एवं वर्ण चित्रों की प्राप्ति अनुभव हो रही है।

(द) मिर्जापुर (उत्तर प्रदेश) के समीप पर्वत-कन्दराओं के चित्र भी यहीं मृगया-चित्र-निदर्शन प्रस्तुत करते हैं। यहां पर गण्ड-शृंगी की मृगया विशेष विस्मयकारी है। अतः इन्हें भी हम Haematite drawing के रूप में ही विभाजित कर सकते हैं। प्रागैतिहासिक निदर्शनों के उपरान्त अब आइये ऐतिहासिक निदर्शनों की ओर।

ऐतिहासिक (पूर्व-ईसवीय)—पुरातत्त्वीय अन्वेषणों में प्राप्त ईसवीय-

पूर्व ऐतिहासिक निदर्शनो मे सर्वप्रथम निदर्शन मध्यभारत के सिरगुजा-क्षेत्रीय रायगड पर्वत मे स्थित प्रथित-कीर्ति जो जोगीमारा कन्दरा है, उसमे इन कन्दरा की दीवालो पर नाना चित्र प्राप्त होते हैं। आधुनिक विद्वानो के मत मे ये चित्र ईसवीय-पूर्व प्रथम शतक के कहे गये हैं। यद्यपि ये कुड्य-चित्र बडे ही प्रोज्ज्वल एव प्रकष नही तथापि ये Frescoes का श्रीगणेश ही नही करते वरन नेप्य-कम-कला (Plastic Art) की भी प्रक्रिया की स्थापना करते हैं। भवनो, ग्रामो, पुरो एव पत्तनो के चित्रो के साथ साथ विशषकर पशु, मृग जलीय-जन्तु—मकर-मत्स्य सभी प्राकृतिक दृश्य यहा चित्रित पाये जाते हैं। मेरी दृष्टि मे इस देश की आब-हवा चित्रो के चिर-काल-सहत्व के लिये अनुकूल नही है अत इन्ही श्रेणियो मे अन्य स्थान भी हैं जहा कुड्य-चित्र काफी विकास को प्राप्त कर चुके थ।

ईसवीयोत्तर—अस्तु इस किञ्चित्कर पूव-ईसवीय प्राग्ऐतिहासिक एव एतिहासिक दोनो के विहगावलोकन के बाद अब ईसवीयोत्तर काल की ओर चलते हैं, उन मे जैसा पहले स्तम्भ मे सकेत हो चुका है उसी के अनुरूप इस युग को निम्नलिखित तीन कालो मे बाट सकते हैं —

१ बौद्ध-काल,

२ हिन्दू-काल,

३ मुस्लिम-काल।

यहा पर बौद्धो को प्रथम तथा हिन्दुओ को द्वितीय स्थान देने का अभिप्राय यह है कि हिन्दू चित्र-कला मे राज-पूतो (राजस्थानी तथा पजाबी पहाडी राजपूतो) की कला से तात्पय है, जो बौद्धो के बाद विकसित हुई। दूसरी विशेषता यह है कि बौद्ध एव हिन्दू अर्थात् राजपूती चित्र-कला की पृष्ठ-भूमि धर्म एव दर्शन था। इन दोनो के अन्तस्तम म रहस्यवाद की छाया सवत्र दिखाई पडती है। जहा तक मुस्लिम काल की मुगल चित्र-कला का प्रश्न है, वह पूरी की पूरी धर्म-निरपक्ष (Secular) थी। इस मे यथार्थवाद विशेष रूप से दृश्य है।

यद्यपि राज-पूती चित्र-कला की विशेषता अर्थात् धर्माश्रयता पर हम सकेत कर ही चुके है, परन्तु इस कला मे बौद्ध चित्र-कला की अपेक्षा यह और व्यापक क्षेत्र की ओर बढ गयी थी। वह कवल धार्मिक नाटको, आख्यानो, उपाख्याना के ही चित्रण मे एकमात्र व्यस्त नही थी। इस चित्र-कला म ग्रामीण

जीवन, संस्कार, विश्वास, सभ्यता एवं संस्कृति का भी पूर्ण चित्रण किया गया है, जिस के द्वारा ये चित्र प्रत्येक गृहस्थ के लिये दैनिक चर्या में परिगणित हो गये। अब इस उपोद्घात के अनन्तर हम इन तीनों कालों को ले रहे हैं।

बौद्ध-काल—इस काल को हम ईसवीय उत्तर ५० से ७०० तक कल्पित कर सकते हैं और यह कला हमारे स्थापत्य एवं चित्र में स्वर्ण युग (Classical Renaissance) प्रस्तुत करता है। बौद्ध-धर्म ने न केवल भारत वरन् द्वीपान्तर भारत को भी महान् विश्व-व्यापी धर्म-चक्र से प्रभावित कर दिया है। सिंहल-द्वीप (लंका), जावा, स्याम, बर्मा, नेपाल, खोतान, तिब्बत, जापान तथा चीन आदि में प्राप्त पुरातत्त्वीय स्थापत्य एवं चित्र निदर्शन इस प्रभाव का पूर्ण प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करते हैं। जहाँ पर बौद्ध-धर्म का प्रसार हुआ वहां केवल धर्माचार्य, धर्मोपदेशक—भिक्षु एवं भिक्षुणी ही नहीं वरन् कलाकार भी साथ थे। प्राचीन धर्म-रूप कलम की बात नहीं,—वह लेखनी, तूलिका, विलेखा की बात थी। कुण्डलीय चित्र-पटों (Pictorial Scrolls) के द्वारा गौतम बुद्ध के धर्म के वितरण के लिये उस समय प्रमुख साधन था। अस्तु अब हम यहां पर बौद्ध-कला को भारतीय स्तर पर ही रखना उचित समझते हैं। इन में अजन्ता, सिगिरिया (सिंहली), बाघ ही विशेष उल्लेख्य हैं।

अजन्ता—अजन्ता के चित्र विश्व के अष्ट-विध आश्चर्यों में परिकल्पित किया जा सकते हैं। तारानाथ की दृष्टि में यह सब देव विनाश है। कोई मर्त्य इस प्रकार के विस्मय-कारक चित्र कैसे बना सका? अजन्ता का वातावरण देखिये—कितना शान्त, मनोमुग्धकारी, एकान्त, रम्य एवं अद्भुत प्रदेश है। इस स्थान पर अध्यात्म, देवत्व, धर्म, दर्शन, चर्या एवं नियम दीवालों पर अंकित कर दिये गये हैं। अजन्ता के भौगोलिक एवं अन्य विवरणों की यहां पर आवश्यकता नहीं। वैसे तो सारी की सारी सोलह गुफायें चित्रित की गयी थीं, परन्तु काल-चक्र एवं अन्य मौसमी तथा अन्य प्रभावों ने बहुतों को नष्ट कर डाला है। केवल छै गुफाएं चित्रित प्राप्त हुई हैं—यह बात १६१० ई० की है। ये सारे के सारे चित्र-निदर्शन एक व्यक्ति, एक समाज, एक काल के अध्यवसाय नहीं माने जा सकते। अतः हम इन चित्रों को निम्न तालिका में कालानुरूप विभाजित कर सकते हैं —

(अ) ६वीं तथा १०वीं गुफा-चित्र ईसवीय १००,

(ब) दसवीं गुफा के स्तम्भ चित्र ईसवीय ३५०,

(म) १६वीं तथा १७वीं गुफा के चित्र ईसवीय ५००,

(य) पहली तथा दूसरी गुफा के चित्र ईसवीय ६२६-६२८।

विषय—इन चित्रों में बौद्ध जातक साहित्य के ही मूर्धन्य एवं अविकल चित्रण हैं। वैसे कुछ चित्र समय का भी प्रतिबिम्बन करते हैं। अत कन्दरानुरूप इन विषयों का हम वर्ग उपस्थित करते हैं —

कन्दरा नं० १— १ शिवि-जातक,
२ राज-भवन-चित्र,
३ राज-भवन-द्वार पर भिक्षु-स्थिति,
४ राज-भवन,
५ राज-भवन-चित्र,
६ शंख-पाल-जातक—साँप की कहानी,
७ राज-भवन-चित्र—नर्तकियाँ (महाजन जातक),
८ महाजन-जातक—भिक्षु-उपदेश-श्रवण,
९ महाजन-जातक—अश्वारूढ राजा,
१० महाजन-जातक—पोत-मग्नता,
११ महाजन-जातक—राग एवं वैराग्य,
१२ अमरादेवी की कहानी,
१३ पद्मपाणि बोधिसत्व;
१४ बुद्धाकर्षण,
१५ एक बोधिसत्व,
१६ बुद्ध-मुद्रायें एवं विस्मय (Miracles) श्रावस्ती का विस्मय,
१७ वज्रपाणि—कमल-पुष्प-समर्पण,
१८ चाम्पेय-जातक,
१९ अनभिज्ञ चित्र,
२० राज-भवन-चित्र,
२१ दरबारी चित्र,
२२ भग-चित्र,
२३ वृषभ-युद्ध;

कन्दरा नं० २— १ महंत, किन्नर तथा अन्य गण जो बोधि-पत्र की पूजा कर रहे हैं;
२ बौद्ध भक्त-गण;
३ इन्द्र तथा चार यक्ष;
४ उड्डीयमान विद्य—पौलिक एवं भगिन चित्रों के साथ,
५ महिला-प्रवास (Exile),
६ महाहंस-जातक,
७ यक्ष एवं यक्षिणियां;
८ बुद्ध-जन्म,
९ पुष्प लिये हुए भक्त;
१० पुष्प लिये हुए भक्त,
११ नाग (अजगर), हंस तथा अन्य भगक चित्र,
१२ नाना मुद्राओं में भगवान् बुद्ध,
१३. मैत्रेय (बोधिसत्व)
१४ भगवान् बुद्ध नाना मुद्राओं में,
१५ भगक चित्र,
१६ अवलोकितेश्वर (बोधिसत्व)
१७ पुष्पसहित भक्त-गण;
१८ पद्मपाणि भक्त-गण;
१९ हारीति तथा पार्थिव;
२० विधुर-पण्डित-जातक,
२१ पूर्ण-अवदान-कथा—समुद्र-यात्रा;
२२. पूर्ण-अवदान-कथा—बुद्ध-पूजा;
२३ राज-भवन;
२४ राज-भवन-महिला बुद्ध राजा के चरणों पर,
२५. बोधिसत्व—उपदेशक-रूप;
२६ भग्न-चित्र;
२७ नाग, गण तथा अन्य दिव्य-चित्र।

कन्दरा नं० ३— १ बुद्ध का प्रथम-उपदेश (*First Sermon*);
२. द्वार-पाल तथा महिला आजा;

३ बुद्धाकर्षण ;
४ एक भिक्षु;
५ *द्वारपाल एवं नारी-प्रतिहारिणियां,*
६. श्रावस्ती का आश्चर्य ।

कन्दरा नं० ७—१ बुद्धोपदेश;
२ बुद्ध-जन्म,

कन्दरा नं० ६—१ नागराज—सगण-सेवक;
२ स्तूप की ओर जाते हुये भक्त;
३. चैत्य एवं विहार;
४ बुद्ध जीवन के दो दृश्य;
५ पशु-चित्र,
६ नाना मुद्राओं में भगवान् बुद्ध,

कन्दरा नं० १०—१ राजा का बोधि-वृक्ष-पूजार्थ आगमन,
२ राज-जलूस;
३ राज-जलूस,
४ श्याम-जातक-षड्दन्त—हस्ति-कथा,
५ छद्दन्त-जातक—षड्दन्त-हस्ति-कथा ।
६ बुद्ध-चित्र,

कन्दरा नं० ११— १ बोधि-सत्व—पद्मपाणि;
२ बुद्ध तथा अवलोकितेश्वर,

कन्दरा नं० १६— १ तुषिता स्वर्ग के चित्र—बुद्ध-जीवन;
२ सूत-सोम-जातक—सुदास-सिंहनी-प्रेम-कथा,
३ चैत्य-मन्दिर के सम्मुख दैत्य-गण,
४ महा-उम्मग-जातक,
५ मरणासन्ना राज-कुमारी (परित्यक्ता नन्द पत्नी),
६ नन्द का धर्म-परिवर्तन,
७ मानुष बुद्ध,

८ अप्सरायें तथा बुद्ध का उपदेशक-रूप;
९ बुद्ध-उपदेश-मुद्रा,
१० हस्ति-जुलूस;
११ संघोपदेश—बुद्ध,
११ बुद्ध-जीवन-चरित-दृश्य—मगध के राजा का [illegible]
बुद्ध का राजगृह में भ्रमण,
१३. बुद्ध-तपस्या—प्रथम ध्यान तथा चार मुद्रायें,
१४ राज-भवन,
१५. Conception;
१६ बुद्ध का शैशव,

कन्दरा नं० १७— १ राजा का दान-वितरण;
२ राज-भवन,
३ इन्द्र तथा अप्सरायें,
४ मानुष बुद्ध तथा यक्ष एवं यक्षिणियां,
५ बुद्ध की पूजा करती हुई अप्सरायें तथा गन्धर्व,
६ बुद्ध नीलगिरि हस्ति-राज का दृश्य;
७ बोधिसत्व अवलोकितेश्वर तथा भिक्षु-भिक्षुणी-वृन्द,
८ हस्तिनी के साथ यक्ष,
९ राजसी मृगया,
१० संसार-चक्र,
११ माता एवं शिशु—भगवान् बुद्ध एवं अन्य बौद्ध देवों के
चित्र;
१२ प्रथम धर्म-चक्र,
१३. मृग-चित्र;
१४. महाकपि-जातक;
१५ हस्ति-जातक,
१६. राज-[illegible]-प्रदान;
१७ दरबारी दृश्य;
१८. हंस-जातक;
१९ शार्दूल, अप्सरायें तथा बुद्धोपदेश;

२० विश्वन्तर-जातक—दानी राजकुमार,
२१ यक्ष, यक्षिणी एव अप्सरायें,
२२ महाकपि जातक (२)
२३ सुत-सोम-जातक,
२४ तुषिता मे बुद्धोपदेश—दो और दृश्य,
२५ बुद्ध के निकट मा और बच्चा,
२६ श्रावस्ती का महान् आश्चर्य;
२७ शरभ-जातक
२८ मातृ-पोषक-जातक,
२९ मत्स्य-जातक;
३० साम (श्याम)-जातक;
३१ महिष-जातक;
३२ एक यक्ष—राज-परिक्षक-रूप;
३३ सिंहल अवदान;
३४ स्नान-चित्र,
३५ शिवि-जातक,
३६ मृग-जातक;
३७ भालू-जातक,
३८ न्यग्रोध-मृग-जातक,
३९ दो वामन—वाद्य-यन्त्रो के सहित,
४० भग-चित्रण।

कन्दरा न० २१— १ कमल-वेलि तथा अन्य पुष्प-विच्छित्तिया।

कन्दरा न० २२— १ सघ को उपदेश करते हुए भगवान् बुद्ध।

सरक्षण—इस तालिका के उपरान्त किस राज्य-काल मे, किन कलाचार्यों के सरक्षण मे इन चित्रो का निर्माण हुआ यह भी विचारणीय है। तारानाथ की एतद्विषयणी उद्भावना का हम ऊपर सकेत कर चुके हैं, तथापि वह पुनरावृत्ति उचित है। जहा तक उत्तम कुड्य-चित्रो की रचना का सम्बन्ध है, वह देवो के द्वारा बनाई जाती है। पुन यह चित्रण यक्षो (पुण्यजनो) के द्वारा आगे चलता रहा, जो अशोक-काल (ई० पूर्व २५०) की गाथा है। तीसरी परम्परा नागो के

द्वारा सम्वद्धित हुई, जो नागार्जुन (ई० २००) के प्राधिपत्य में बनाई जाती है। लगभग ३०० वर्ष में यह लड़ी टूट गई। फिर बुद्धघोष (५वीं तथा ६ठी शताब्दी) के काल में बिम्बिसार नाम चित्राचार्य के द्वारा ये चित्र पुनः उसी देव-परम्परा में रचे जाने लगे।

अब आइये ऐतिहासिक समीक्षा की ओर। जहाँ तक नवीं तथा दसवीं कन्दरा के चित्रों का प्रश्न है, वह द्राविड़ नरेशों (आन्ध्र राजाओं) के काल का विकास है। इसे हम ई० पू० २७ से लगाकर २३६ ई० का काल मान सकते हैं। यह अजन्ता चित्रों का प्रथम वर्ग है।

दूसरा वर्ग (दे० गुहा नं० १६-१७) गुप्त-काल (३२० ई०) का प्रतिनिधित्व करता है। मेरी दृष्टि में यह कला गुप्तों की अपेक्षा वाकाटकों की विशेष देन है।

तीसरे वर्ग में जहाँ हम राजा पुलकेशिन द्वितीय को एक पर्शियन दूत से मिलते हुए पा रहे हैं, उससे यह वर्ग ६२६-६२८ ई० के समय का संकेत करता है। अब आइये द्रव्य एवं क्रिया की ओर।

चित्र-द्रव्य एवं चित्र-प्रक्रिया—जहाँ लेप्य एवं प्लास्टर आदि प्रक्रिया का सम्बन्ध है, वे यथा-प्रतिपादित शास्त्रीय विश्लेषणों के ही निदर्शन हैं। जहाँ तक इन कुड्य-चित्रों की व्यापक समीक्षा का प्रश्न है, उसमें भारतीय एवं योरोपीय-ऐशियाई दोनों पद्धतियों की तुलनात्मक समीक्षा आवश्यक है। यहाँ पर हम इतना ही संकेत कर सकते हैं कि ये कुड्य-चित्र भारतीय शास्त्रीय प्रक्रिया के पूर्ण प्रतिबिम्ब हैं। प्रत्येक वर्ग के चित्रों के लिये जैसा भूमि-बन्धन हमारे शास्त्रों में प्रतिपादित है वही यहाँ पर भी प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। चूँकि आधुनिक कला-समीक्षक हमारे शास्त्रीय विवरणों (चित्र-लक्षणों) से सर्वथा अपरिचित थे, अतः उनके मस्तिष्क में योरप-एशिया के प्रचलित चित्र-पीठों पर अर्पित ऐसे निदर्शनों के कारण उन के लिए संकट उपस्थित हो गया, अतः उन्हें इस तुलनात्मक समीक्षा की ओर जाना पड़ा और अन्त में उन्हें झख मार कर भारतीय पद्धति के निष्कर्षों पर पहुँचना पड़ा। इस तुलनात्मक समीक्षा में पर्सी ब्राउन ने विशिष्ट विवरण दिये हैं। ये उन्हीं के ग्रन्थ में एवं मेरे Hindu Canons of Painting or Citra-Laksanam and Royal Arts—Yantras and

Citras मे द्रष्टव्य है ।

वर्ण-विन्यास एव तूलिका-चित्रण—ये सब अपने ही शास्त्रो के प्रतीक है । विशेष विवरण यथा-निर्दिष्ट ग्रन्थो मे देखिये । अब आइये अन्त मे मेरी समीक्षा की ओर ।

शास्त्र एव कला—अजन्ता के चित्रो की सर्व-प्रमुख विशेषता रेखा-कम है । विष्णुधर्मोत्तर के निम्न प्रवचन का हम सकेत कर ही चुके हैं —

रेखा प्रशसन्त्याचार्या वतना च विचक्षणा ।
स्त्रियो भूषणमिच्छति वर्णाढ्यमितरे जना ॥

अत अजन्ता के चित्रो मे रेख -कम परम प्रकष का प्रत्यक्ष प्रमाण है । अजन्ता की चित्र-तालिका मे प्राप्त विषयो को लेकर इस महान प्रख्यात पीठ पर आइये और देखिये—महाहस-जातक-चित्र एव उसी चैत्य मे बोधिसत्व-अवलोकितेश्वर अथवा बुद्ध का वैराग्य (The Great Renunciation) जिन मे सर्वाधिक वैशिष्ट्य रेखा-कम है तथा वहा रूप-चित्रण (Modeling of Form) भी हमारे चित्र-शास्त्र के सव-प्रमुख क्षय-वृद्धि चित्र-सिद्धान्त का पूर्ण प्रतिबिम्बन कर रहा है ।

वर्ण-विन्याम भी हमारे शास्त्रीय पद्धति का अवलम्बन है । महा-हस-जातक-चित्र मे जो वर्ण-विन्याम विशेषकर नीली का विन्यास किया गया है, वह राजावर्त्ताभिघ वर्ण का प्रतीक है । राजावर्त्त-राजावर्त-लजावर लाजवर्दी के सम्बन्ध मे हम अपने पूर्व स्तम्भ मे पहले ही समीक्षा कर चुके हैं । जहा तक अन्य शास्त्रीय सिद्धान्तो के अनुगमन का प्रश्न है वहा प्रतिमा एव चित्र दोनो के सामान्य अग जैसे मुद्रायें वे भी इन चित्रो मे पूर्ण रूप से विभाव्य हैं । गुहा न० १ के राज-भवन-चित्र मे जो मुद्रा-विनियोग प्राप्त होता है, वह बडा आकर्षक है । इसी प्रकार अन्य चित्रो मे भी नाट्य, नृत्य, एव सगीत मुद्राओ का भी बहुत विनियोग प्राप्त होता है । अस्तु अजन्ता चित्रों के इस स्थूल समीक्षण के उपरान्त अब आइये दूसरे चित्र-पीठ की ओर ।

सिहल-द्वीप—सिगरिया—इस पीठ के चित्रो की सर्व-प्रमुख विशेषता है धर्म-प्रेरणा का अभाव । इन चित्रों मे लगभग बीस नायिका-चित्र हैं । ये चित्र

सिंहल-द्वीप के राजा काश्यप (४७९-४९७ ई०) के समय में चित्रित किये गये थे। मेरी धारणा है कि ये रानियों के चित्र हैं। जहाँ तक चित्रण-प्रकार एवं प्रक्रिया की बात है वे सभी शास्त्रानुरूप हैं। इन में सर्वाधिक वैशिष्ट्य सौन्दर्य है। इन चित्रों में लक्षण एवं चित्र-कौशल दोनों प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं। ब्रुश और छेनी दोनों की कला के ये मिश्रण हैं।

बाघ—वैसे तो अजन्ता से सीधी दिशा में लगभग १५० मील की दूरी पर यह चित्र-पीठ स्थित है, परन्तु नर्मदा दोनों के बीच बहती हुई इनको पृथक् भी कर रही है। अतः इन दोनों के संरक्षण की पृथक्ता भी सुतरां प्रकट एवं समर्थित है। इस पीठ पर न तो कोई शिला-लेख प्राप्त है, न कोई ऐतिहासिक सूचना। इस पहाड़ी के एक विशाल हाल में नाना चित्रों का चित्रण हुआ था। यह सभा-वेश्म लगभग ९० फुट चौकोर है। इसके स्तम्भ, कुड्य अर्थात् भित्तियां सभी चित्रों से चित्रित थे, परन्तु बहुत से चित्र नष्ट हो गये हैं। इन चित्रों में अजन्ता और सिगिरिया दोनों का मिश्रण प्राप्त होता है—एक ओर कुछ बौद्ध-धर्म-प्रदीप चित्र, दूसरी ओर धर्म-निरपेक्ष चित्र। बौद्ध चित्रों में बौद्ध-धर्म के इस देश में ह्रास कालीन अवस्था के चित्रण हैं। एक संगीत-नाटक (हल्लिसक) पूर्ण तत्कालीन स्वातन्त्र्य एवं स्वाच्छन्द्य का निदर्शन है। अब चलें हिन्दू काल की ओर, जहाँ महाकाल तथा श्री सत् अकाल के भी दर्शन हो सकते हैं, क्योंकि जैसा हम पहले संकेत कर चुके हैं कि हिन्दू चित्र-कला से तात्पर्य राज-पूत-कला का अर्थ है। और यह राजपूतानी कला न केवल राज-स्थान की देन है वरन् पंजाब (देखिये कांगड़ा) की भी प्रमुख देन है।

हिन्दू-काल (७००-१६००)—इस काल में नाना सम्प्रदायों एवं धर्मों के निदर्शन मिलते हैं। ये चित्र ताल-पत्र की प्रथम विशेषता हैं। इस का प्रारम्भ बंगाल से हुआ, जो १२वीं शताब्दी के निदर्शन हैं। पुनः १५वीं शताब्दी में जैन-ग्रन्थ-चित्रण (Book Illustration) काफी प्रसिद्ध एवं सिद्ध-हस्त चित्रकार भी थे। जहाँ तक ब्राह्मण-चित्रों की बात है वह १२वीं शताब्दी में एलोरा के गुहा-मंदिरों से प्रारम्भ हुई। इसी प्रकार और बहुत से इस काल में यत्र-तत्र-सर्वत्र चित्र प्राप्त हुए हैं, जो पूर्व-मध्य-काल एवं मध्य-काल की स्मृतियाँ हैं। राजपूती चित्र-कला तो उत्तर-मध्यकाल की कृतियाँ हैं। अब हम इस साधारण प्रस्तावना के उपरान्त वैदर्भिक निदर्शन प्रस्तुत कर रहे हैं।

जन-चित्र—ताल पत्र पर हस्तलिखित निशीथ-चूर्णी जो चित्रो से चित्रित है वह जैन-भाण्डागार मे प्राप्त है तथा यह कृति ११वी शताब्दी मे सिद्धराज जयसिह के राजत्व-काल मे सम्पन्न हुई। यह ताल-पत्र-चित्रण ११वी से लेकर १४वी तक चलता रहा। इन मे अग-सूत्र, त्रिषष्टि-शलाका-पुरुष-चरित श्री नेमिनाथ-चरित, श्रावण-प्रतिक्रमण-चूर्णी—ये सब ११वी से १४वी शताब्दी तक के निदर्शन हैं। अब आइये (१४००-१५००) जैन चित्रो की ओर। उनमे कल्प-सूत्र, कालकाचार्य-कथा तथा सिद्ध-हेम—ये सभी चित्रित हस्त-लिखित ग्रथ हैं जो पाटन आदि प्रसिद्ध जैन भाण्डागारो मे प्राप्त हैं। अभी तक हम ताल-पत्र पर चित्रित इन इलैस्ट्रटेड म्यनुस्क्रिप्ट्स की अवतारणा कर रहे थे। अब आइये कागज-पत्र पर चित्रित हस्त-लिखित ग्रन्थ। ज्यो ही १५वी ई० के उपरान्त कागज का निर्माण प्रारम्भ हुआ तो फिर जैन-चित्रो का एक नया युग प्रारम्भ हो गया। इन मे कल्प-सूत्र तथा कालकाचार्य-कथा असख्यो पत्र-चित्रणो के साथ साथ हिन्दू प्रेम-मय गाथा-काव्यो के भी चित्रण प्रारम्भ हो गये, जिनमे बसन्त विलास एव रति-रहस्य के साथ साथ स्तोत्र एव स्तुति-परक ग्रन्थ जैसे बालगोपाल-स्तुति तथा दुर्गा-सप्त-शती ऐसे प्रसिद्ध पौराणिक ग्रन्थ भी चित्रणों से भर गये। इन सभी चित्रो मे रैखिक चित्रो की सुन्दर आभा दर्शनीय है। ये Oblong Frame के निदर्शन हैं। रक्त, स्वर्णिम, पीत, श्याम, शुभ्र, नीली, हरित तथा अन्य सभी शुद्ध एव भिन्न वर्णों का पूर्ण विन्यास दर्शनीय है।

अस्तु, इस पूर्व एव उत्तर मध्यकाल मे यत तक्षण (मूर्ति-निर्माण) एव प्रासाद-वास्तु का चरमोन्नति काल था अत ये बेचारी चित्र कला एक प्रकार से कुछ धीमी पड गयी। तथापि यह कला मरी नहीं। यह कला द्वीपान्तर भारत एव सीमावर्ती देशो मे एक प्रकार से प्रयाण कर गई। वहा पर इस कला के बड़े ही प्रौढ निदर्शन प्राप्त होते हैं। पूर्वी तुर्किस्तान (खोटान) तथा तिब्बत मे जो चित्र-कला विकसित हुई उस पर अजन्ता की कारीगरी पूर्ण रूप से प्रति-बिम्बित दिखाई पडती है। स्टीन और ली काग के इन चित्र-अन्वेषणो ने समस्त ससार को मुग्ध कर दिया है कि एशियाई चित्र-कला कितनी प्रवद्ध थी। कुड्य-चित्रो के अतिरिक्त कुण्डली-चित्र-पट-चित्र एव पट्ट-चित्र सभी भेद इन चैत्यो, मन्दिरों एव विहारो विशेषकर तिब्बती पीठो मे काफी सख्या में प्राप्त होते हैं। अब आइये राजपूतानी चित्रकला की ओर।

राजपूत चित्र-कला—राजपूती तथा मुगली दोनो ही चित्र कलायें समानान्तर चलने लगी थीं। इन दोनों कलाओं का उद्भव १६वी ईसवी शताब्दी (१५५०) में प्रारम्भ हुआ था। राजपूती तो १९वी शताब्दी तक चलती रही, परन्तु मुगली १८वीं मे मर गई, क्योकि यही काल मुगलों के काल की इतिश्री थी।

राजपूती कला पर पूर्ण प्राचीन शास्त्र एव कथा दोनो का प्रभाव था। यद्यपि अजन्ता का प्रभाव अवश्य दिखाई पडता है तथापि नवीन उपचेतनाओं तथा उद्भावनाओं का भी इस मे प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत होता है। अत बुद्ध-धर्म एक प्रकार से इस समय खतम था तो हिन्दू धर्म के पुनरावर्तन (Revival) मे स्वाभाविक चेतनाओं के द्वारा इस कला का विकास स्वत सिद्ध है। यह युग शिव-पूजा, शिव-माहात्मय तथा विष्णु-पूजा एव विष्णु-माहात्म्य का था। भक्ति-धारा एक भागीरथी की उद्दाम गति से बहने लगी। राधा-कृष्ण-लीला का यह युग था, जिस मे रास-लीला, नायक-नायिका-लीला बडे ही प्रकर्ष को प्राप्त हो गयी। शिव-पार्वती, सन्ध्या-गायत्री, रामायण एव महाभारत के आख्यान चित्र ये सब राजस्थानी कला के परम निदर्शन हैं। अत ये सब चेतनायें जन-भावना की प्रतीक थीं। अत यह चित्र-कला राजस्थान मे एक प्रकार से दैनिक व्यवसाय तथा अध्यवसाय हो गया था। राजस्थान का प्रमुख नगर जयपुर इस राजपूती-कला का केन्द्र बन गया। अतएव इस राजस्थानी चित्र-कला को जयपुर कलम की सज्ञा से चित्रकार पुकारने लगे। ये राजस्थानी चित्रकार दरबार के अभिलाषुक थे। पुन मुगल दरबार की राजधानियों उप-राजधानियों जैसे दिल्ली, आगरा, लाहौर आदि नवाबी शहरो मे भी यह कला अपनी विशिष्टता से पूर्ण होती रही।

राजपूती चित्र-कला सर्वाधिक प्रकर्ष पजाब की हिमाचल उपत्यकाओं मे एक नवीन प्रकर्ष पर आसीन हो गयी। कागरा की चित्र-कला इस युग की महती देन मानी गयी है। जिस प्रकार जयपुर कलम, उसी प्रकार कागरा कलम ने यह राजपूती चित्रकला विश्रुत हुई। इस पजाबी राजपूती कला मे रैखिक कर्म, वर्ण-विन्यास तथा प्रोज्ज्वल मगिमा छाया-कान्ति आदि सभी षडग-चित्र के सिद्धान्तो एव प्रक्रियाओं का पूर्ण आभास एव विलास प्राप्त होता है।

इस कागरा केन्द्रीय राजपूती चित्र-कला की सब से बड़ी विशेषता

राजश्रय थी प्रदेशीय (Local) ग्रावश्यक्ताग्रो एव चेतनाग्रो तथा रस्म-रिवाजो का भी इन चित्रणो मे साक्षात् प्रतिबिम्बन है। पहाडी राजाग्रो की ग्राज्ञा ही चित्रकार के लिये उसका सब से बडा ग्रध्यवसाय था। ग्रतएव इन चित्रो मे राजसी–राजा रानियो के बहुत से चित्र प्राप्त होते है। साथ ही साथ पौराणिक एव भागवतिक चित्र भी प्रचुर सख्या मे प्राप्त होते हैं।

दुर्भाग्य का विलास था कि धर्म-शाला के भू-कम्प-विप्लव से इन समस्त चित्र-केन्द्रो एव उनमे विनिर्मित, सग्रहीत ग्रसख्य चित्र नष्ट हो गये, भूगर्त मे विलीन हो गये तथा यह बडी थाती नष्ट-प्राय हो गई। यह घटना १६०५ ई० की है। ग्रब ग्राइये मुगल कला की ग्रोर।

मुगल चित्र-कला—राजपूती चित्र-कला धार्मिक, जनोपयिक तथा रहस्यवादी कला थी, जहा मुगली चित्र-कला नवाबी तथा यथार्थवादी कही जा सकती है। मुगल सम्राट ग्रकबर के दरबार मे यह कला प्रारम्भ हुई, क्योकि कला-सरक्षक ग्रकबर की इन कलाग्रो मे बडी रुचि थी, ग्रतएव ग्रनेक विदेशी कलाकार तथा चित्रकार ग्रकबर के दरबार मे ग्रा विराज। ईरान, फारस, समरकन्द ग्रादि स्थानो मे प्रोल्लसित चित्र-कला-केन्द्रो मे शिक्षित एव दीक्षित चित्रकार इस दरबार के रत्न बन गए। ग्रबुल फजल की ग्राइने-ग्रकबरी मे इन चित्रकारो की बडी सख्या का निर्देश है। फर्रुख, ग्रब्द-ग्रल-समद, शेराजी, मीर सय्यद ग्रादि ग्रकबरी दरबार के चित्रकार-रत्न थे। जहागीर ने भी इस कला को बहुत प्रोत्साहन दिया और उस समय समरकन्द के कई चित्रकार यहाँ ग्रा पहुचे। शाहजहा विशेषकर स्थापत्य मे तल्लीन हो गया तो इस चित्र-कला का ह्रास प्रारम्भ हो गया। पुन ग्रौरगजेब तो इन कलाग्रो का पूर्ण उन्मूलन का दोषी बना।

यद्यपि मुगल चित्र कला पर ईरान का ग्रमिट प्रभाव है, तथापि देश की सस्कृति एव जनीन धारा का प्रखर प्रभाव कभी कोई हटा नही सकता। ग्रत यह कला इस देश की इन दोनो धाराग्रो मे समन्वित होकर विलसित हुई। बहुत से मुगल चित्र-कला के विख्यात हिन्दू चित्रकार भी इस कला को प्रोल्लास देने के श्रेय-भागी हैं। इन मे बसवन, दशवन्त, केशोदास ग्रादि चित्रकार विशेष उल्लेखनीय हैं।

इन मुगली चित्रो की सबसे बडी विशेषता चित्र-फलक हैं। मृगया एव

युद्ध भी इन चित्रों के प्रमुख अंग हैं। दरबार तथा ऐतिहासिक इतिवृत्त भी इन चित्रों के पूर्ण अंग हैं। यद्यपि इस कला का प्रथम विकास ईरानी कलम से प्रारम्भ हुआ, परन्तु कालान्तर पाकर इस कला का प्रोल्लास, जैसा पहले हम सूचित कर चुके हैं, देहली कलम, लखनवी कलम, पटना कलम काश्मीरी कलम, आदि अवान्तर कलमों में प्राप्त होता है। अत मुगली कला काफी प्रवृद्ध एवं प्रोल्लसित हो गयी।

एक प्रश्न यह है कि क्या मुगल कला ने ही Portrait Pain ing का प्रारम्भ प्रदान किया —नहीं। चित्र-फलक-चित्रण महाभारत की कहानी से स्पष्ट है। चित्र-लेखा (प्रथम चित्रकार) ने अपनी सहेली उषा के स्वप्न-युवक का प्रथम फलक-चित्र Portait Painting का श्रीगणेश किया था। बौद्ध इतिहास से भी हम अपरिचित नहीं कि जब भगवान बुद्ध के घोर अनुयायी एवं भक्तप्रवर महाराज अजातशत्रु ने अपने मास्टर के चित्र की प्रार्थना की तो उन्होंने केवल अपनी पट पर पड़ती हुई छाया के चित्र को चित्रित करने के लिये ही स्वीकृति प्रदान की तो तत्कालीन प्रबुद्ध चित्रकार ने उस छाया में इस विधा के चित्र को तूलिका के द्वारा वर्ण-विन्यास में परिणत कर ऐसे चित्र का निर्माण कर दिया। अजन्ता के भी ऐसे Portraits को देखें जिनकी महिमा पर पहले ही कुछ इंगित कर चुके हैं।

इस किञ्चित्कर व्यक्ति-चित्रों के इतिहास पर इस थोड़े से उपोद्घात के अनन्तर हम यह अवश्य मानेंगे कि मुगलों की चित्र-कला ने इस चित्र-विधा पर बड़ी भारी उन्नति की। राजाओं, महाराजों, नवाबों, रानियों, दरबारियों, के वैयक्तिक चित्रों में जो आभा प्रदर्शित की है, वह सर्वप्रमुख इन चित्रों की विशेषता है। पूरा आकार-प्रतिबिम्बन इस प्रमुख विशेषता के साथ महापुरुष लाञ्छन (मण्डल-प्रभ) तथा राज चिन्ह आदि भी इन चित्रों के बड़े अस्पर्धायक अंग हैं। इन मुगल-कालीन चित्रों में नर्तकियों, वेश्याओं साधुओं सन्तों, सिपाहियों, दरबारियों सभी के वैयक्तिक चित्रों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार यह मुगल चित्र-कला यथानाम मुगलकला नहीं है इसे हम राष्ट्रीय चित्र-शाला के नाम से पुकार सकते हैं और इसकी अभिख्या अन्तराष्ट्रीय कीर्ति-प्रस्तर पर मूल्यांकन हो सकती है।

१८वीं शताब्दी (१७६० ई०) में जब यह मुगल-कला मुगल-साम्राज्य के साथ ह्रास को प्राप्त हुई, तो यहां के कुछ समझदार कला-प्रेमियों ने इसके

पुनरुत्थान के लिए प्रयत्न किया। कला का पुनरुत्थान जब इस आधुनिक युग मे प्रारम्भ हुआ तो इस मे सबसे बड़ी प्रेरणा रसास्वाद-आदर्श (Aesthetic Ideal) की ओर था। अवनीन्द्र नाथ टैगोर को ही इस उदभावना का श्रेय है। इस प्रकार बगाल के साथ साथ दिल्ली, लखनऊ, पजाबी पहाड़ी इलाके—पजाब खास कर लाहौर तथा अमृतसर, पटना इन उत्तरापथ प्रदेशो के साथ साथ दक्षिण भारत मे भी जैसे औरंगाबाद, दौलताबाद, हैदराबाद और निकोटा म भी यह आधुनिक कला अपने पुनरुत्थान पर पहुच गई। तारानाथ ने अपने चित्र-कला-इतिहास मे दक्षिण के प्रसिद्ध-कीर्ति तीन चित्र-कारो मे जय, प्रजय तथा विनय का नामोल्लेख किया है। इनके बहुत से अनुगामी भी थे। दुर्भाग्य-वश इनक समय के सम्बन्ध मे कोई ऐतिहासिक प्रमाण नही उपस्थित होता। आगे चलकर इस दक्षिण भारत के दो प्रसिद्ध चित्र-पीठ पनप उठ जिनको तन्जौर और मैसूर क नाम से कीर्तित करते है।

अवनीन्द्र नाथ ने यद्यपि इस दिशा मे स्तुत्य प्रयत्न अवश्य किया, परन्तु मुझे यह कहने मे सकोच नही है, कि उन्होने अपनी पुरानी थाती अर्थात शास्त्रीय सिद्धान्त एव परम्परागत कला-प्रक्रिया इन दोनो को चन्द्र-हस्त देकर योरप के अनुगामी होने का बीड़ा उठाया। इस कदम ने भारत की चित्र-कला को इस नवीन सम्प्रदाय ने एक प्रकार से धूल-धूसरित कर दिया। पौर्वात्य एव पाश्चात्य इन दोनो कलाओ की अपनी अपनी मूल भित्तिया थी और दोनो मे काफी मौलिक भेद भी थे। अत इन दोनो का मिश्रण कला-सिद्धान्त एव कला-प्रक्रिया की दृष्टि से यह बहुत बडा गलत कदम था। अत इस युग मे हमारे पुराने चित्र नही रहे। मुझे यह कहने मे सकोच नही कि आज जहा भी विश्वविद्यालय अथवा चित्र-विद्यालय अथवा कला-विद्यालय की ओर जाइये वहा सभी स्थानो पर न तो किसी को प्राचीन चित्र-शास्त्रीय सिद्धान्तो का ज्ञान है न आस्था है। वे भी पश्चिम के पीछे परछाई की दौर प्रयास कर रहे हैं। यह सब विडम्बना है। आशा है आज नही तो कल वे अपने इस पुराने अत्यन्त प्रवृद्ध पारिभाषिक ज्ञान का सहारा लेकर ही अपनी कला को विश्व के सामने रखने मे समर्थ हो सकेंगे।

साहित्य-निबन्धनीय चित्र-कला के इतिहास पर एक सिंहावलोकन

उपोद्घात :—ग्रीक माइथोलोजी मे म्यूजज आफ फाइन आर्टस् भूतल पर एक के बाद एक नही उतरी । अत हमारे देश मे भी महामाया भगवती सरस्वती तथा महामायिक भगवान् नटराज शिव भी क्या एक के बाद दूसरे स्वर्ग से भूतल पर उतरे ? ताण्डव नृत्य अतिप्राचीन है। काव्य, नाट्य, सगीत भी अतिप्राचीन है। तथैव वास्तु, शिल्प एव चित्र भी उतने ही प्राचीन हैं। ये ललित कलायें सभ्यता एव सस्कृति के अभिन्न अग हैं । अत पुरातत्वीय उपोद्घात मे हमने सकेत किया है कि यह मनोरम-कला चित्र-कला—क्या साहित्यिक क्या पुरातत्वीय दोनो स्तरो पर एक प्रकार से समानान्तर सुदूर अतीत से चली आ रही है ? पुरातत्व स्तर से इसकी समीक्षोपरान्त, अब हम साहित्यिक-निबन्धनीय इतिहास पर आते हैं हमने अपने अग्रजी के ग्रन्थ मे जो निम्न आकूत प्रस्तुत किया है उसको पाठक एव विद्वान् दोनो ही अवश्य ही समर्थन करेंगे—

If the savages could work sculpture and build branch-houses, prepare implements, paint the cavewalls (their refuse) and do many other things, painting and allied arts must have been the time-honoured companions in the progress of civilisation throughout the ages

अस्तु अब हम वैदिक वाड्मय से प्रारम्भ करते हैं।

वैदिक वाड्मय —ऋग्वेद की बहुत सी ऋचाओ मे चित्र-कला की स्पष्ट भावनायें प्राप्त होती हैं। उपनिषदो मे बहुत से ऐसे वाक्य प्राप्त होते हैं जैसे छान्दोग्य मे इसो का ४ ४ पढे तो वहा पर रक्त, शुभ्र, श्याम वर्णों पर यद्यपि उनकी प्रोज्ज्वलता से ऐदम्पर्य नही परन्तु 'रूप' से है जो कि चित्र-कला का प्रमुख अग है।

पाली वाड्मय—विनय-पिटक मे वर्णित राजा प्रसेनजित के विलास-भवन में चित्रागारो के बडे सुन्दर वर्णन प्राप्त होते हैं। विनय-पिटक का समय ईसवीय पूर्व तीसरी या चौथी शताब्दी है। सयुत्त-निकाय मे पट्ट-चित्रों पर चित्रित पुरुष एव स्त्री चित्रों के सुन्दर वर्णन प्राप्त होते हैं। विविध चित्र-प्रकारो पर यह सदर्भ अति प्राचीन माना जा सकता है। जातक-साहित्य मे भी इस प्रकार के बहुत से सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। अब आइये रामायण और महाभारत की ओर।

रामायण एव महाभारत—आ दि-कवि वाल्मीकि-कृत रामायण पढिये,

जिस में कोई भी ऐसा विमान, सौध, प्रासाद का वर्णन बिना चित्र-भूषा के नहीं पाया गया है। राज-भवनो के विन्यास मे चित्रागार अभिन्न अग थे। महाभारत में कुमारस्वामी ने लगभग १०० चित्र-सन्दर्भों का सकलन किया है। तारानाथ को इस सम्बन्ध मे हम ने इस ग्रन्थ मे दो तीन बार स्मरण किया है। तारानाथ तिब्बती इतिहास-लेखक १७वी शताब्दी मे पैदा हुए थे, जिन्हो ने चित्र-कला को अति-प्राचीन माना है अर्थात् देवो की चित्रकला, यक्षो की चित्रकला तथा नागो की चित्रकला।

पुराण—पुराणो मे चित्र-कला के सम्बन्ध मे असख्य सदर्भ भरे पडे हैं। पुराणो की चित्र-कला के शास्त्रीय प्रतिपादन मे सब से बडी देन पुराणो की है। महा-विष्णु-पुराण के विष्णु-धर्मोत्तर के चित्र-सूत्र से सभी कला-विज्ञ परिचित हैं।

शिल्प-शास्त्र—शिल्प-शास्त्रीय चित्र-प्रतिपादन मे हम इस अध्ययन के प्रथम स्तम्भ मे पहले ही सकेत कर चुके हैं। अब आइये कवियो और काव्यो पर। वैसे तो प्राय सभी नाटको तथा काव्यो मे चित्र-कला के सम्बन्ध में बहुत से सन्दर्भ प्राप्त होते हैं परन्तु कालानुरूप हम केवल कवि-पुगवो को लेते हैं जो निम्नतालिका से विवेच्य हैं —

१	कालिदास	२	बाणभट्ट	३.	दण्डी
४	भवभूति	५	माघ	६	हर्ष-देव
७	राजशेखर	८	श्रीहर्ष	९	धनपाल
१०	सोमेश्वर सूरि				

कालिदास—कालिदास के तीनो नाटको मे तीनो प्रमुख कलाओ का पूर्ण प्रतिबिम्बन प्राप्त होता है। मालविकाग्नि-मित्र नृत्य का, विक्रमोर्वशीय सगीत का तथा अभिज्ञान-शाकुन्तल चित्रकला का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन तीनो नाटको से उद्धृत निम्न अवतरणो को पढिए, जिन से पूरे का पूरा शास्त्र एव तदनुप्राणित कला करामलकवत दिखाई पडती है ' चित्राचार्य, चित्रागार, चित्र-प्रकार, वर्तिका-नैपुण्य, चित्र-भूमि-बन्धन, वर्ण-विन्यास तूलिका-लेखन, छाया-भान्ति, क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त, चित्रो मे मुद्रा-विनियोग आदि आदि सभी विषयो पर य उदाहरण साक्षात् मूर्तिमान् चित्र-विज्ञान के प्रत्यक्ष निदर्शन हैं —

चित्रशाला

'चित्रशाला गता देवी प्रत्यग्रवणरागा चित्रलेखामाचार्यस्यावलोकयन्ती तिष्ठति'— माल १

'विद्युत्वं त ललितवनिता सेन्द्रचाप सचित्रा ......प्रासादास्त्वा तुलयितु-मलम्.—मेघ०

चित्राचार्य

'चित्रलेखामाचार्यस्यावलोकयन्ती तिष्ठति'—माल०

चित्र

(क) फलक-चित्र (Portraits) —

'तेनाष्टौ परिगमिता समा कथञ्चिद्बालत्वादवितथसूनृतेन सूनो ।
सादृश्यप्रतिकृतिदर्शनै प्रियाया स्वप्नेषु क्षणिकसमागमोत्सवैश्च,'॥'—रघु०
'बाष्पायमाणो बलिमान्निकेतमालेख्यशेषस्य पितुर्विवेश ।'—रघु०
'सखि ! प्रणम मर्तार, य पार्श्वत पृष्ठत दृश्यते ।'—माल०

(ख) भावगम्य-चित्र —

'मत्सादृश्य विरहतनु वा भावगम्य लिखन्ती ।'—अभि०

(ग) याथातथ्य-चित्र .—

'अहो राजर्षेर्वर्तिकानिपुणता । जाने मे सखी अग्रतो वर्तत इति'—अभि०

(घ) प्रकृति-चित्र .—

'कार्या सैकतलीनहसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावना ।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यध
शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयन कण्डूयमाना मृगीम्' ॥—अभि०

(ङ) पत्रालेखन-चित्र —

'रेवा द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णाम् ।
भक्तिच्छेदैरिव विरचिता भूतिमङ्गे गजस्य ॥—मेघ०

(च) अग-लेखन-चित्र —

'इरे कुमारोऽपि कुमारविक्रम सुरद्विपास्फालनकर्कशागुलौ ।
भुजे शचीपत्रविशेषकाकिते स्वनामचिन्ह निचखान सायकम् ॥'

महेन्द्रमास्थाय महोक्षरूप य सयति प्राप्तपिनाकिलील ।
चकार बाणैरसुराङ्गनाना गण्डस्थली प्रोषितपत्रलेखा ॥

मूमि-बन्धन (पट्ट-चित्रीय) —
'त्वामालिख्य प्रणयकुपिता धातुरागैं शिलायाम्
आत्मान ते चरणपतित यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्त्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सगम नौ कृतान्त ॥'—मेघ०

मूमि-बन्धन (कुड्य-चित्रीय)—
चित्रद्विपा पद्मवनावतीर्णा करेणुभिर्दत्तमृणालभगा ।
नखाकुशाघातविभिन्नकुम्भा सरब्धसिंहप्रहृत वहन्ति ॥—रघु०

वर्तना-प्रक्रिया

(अ) भूमि-बन्धन —
'ततः प्रकोष्ठे हरिचन्दनाङ्किते प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीम् ।
रघु शशाङ्कार्धमुखेन पत्रिणा शरासनज्यामलुनाद्विडौजस ॥

(ब) अण्डकवर्तन एव मानसिक-कल्पन '—
'चित्रे निवेश्य परिकल्पित सत्वयोगा रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु ।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्या ॥'

तूलिका-उन्मीलन

'उन्मीलित तूलिकयेव चित्र सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम ।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्त नवयौवनेन ॥—कुमा० १ ३२

क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त

'स्खलतीव मे दृष्टिर्निम्नोतप्रदेशेषु'—अभि० ४

वर्तिका

दे० अभि० शा० 'वर्तिकानिपुणात्' ।
दे० अभि० शा० 'वर्तिकोच्छ्वासा व' अक ६।

चित्र-द्रव्य -

देखिये अभि० शा० अ० ६ — 'वर्णिका-करण्ड —A Colour Box to preserve colours in it

चित्र-वर्णा —शुद्ध-वर्णा

पातामितारकसितैं सुराचलप्रान्तस्थितैर्धातुरजोभिरम्बरम् ।
अमरनगधवपुरोदयभ्रम बभार भून्नोत्पतितैरितस्तत ॥ —कुमा०
'नेत्रा नीता सततगतिना यद्विमानाग्रभूमी-
रालेख्याना स्वजलकणिकादोषमुत्पाद्य सद्य ।
शङ्कास्पृष्टा इव जललवमुचस्त्वादृशो जालमार्गे-
र्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति ॥'—मेघ०
'स्विन्नाङ्गुलिविनिवेशो रेखाप्रान्तेषु दृश्यते मलिन ।
अश्रु च कपोलपतित लक्ष्यमिद वर्तिकोच्छ्वासात् ॥'—अभि०

चित्र-मुद्रा

ध्यूह्यस्थित किञ्चिदिवोत्तरार्धमुन्नद्धचूडोऽञ्चितसव्यजानु ।
आकर्णमाकृष्टमबाणधर्वा व्यरोचतास्त्रे स विनीयमान ॥—रघु० १३ ५१
'स दक्षिणापाङ्गनिविष्टमुष्टि नतासमाकुञ्चितसव्यपादम्' —कु० ३
तस्य निर्दयरतिश्रमालसा कण्ठसूत्रमपदिश्य योषित ।
अध्यशेरत बृहद्भुजान्तर पीवरस्तनविलुप्तचन्दनम् ॥—रघु० १९ ३२

चित्र्यावयव

व्यूढोरस्को वृषस्कन्ध सालप्रांशुर्महाभुजः ।
आत्मकर्मक्षम देह क्षात्रो धर्म इवाश्रित ॥'—रघु० १ १३
युवा युगव्यायतबाहुरसल कपाटवक्षा परिणद्धकन्धरः ।
वपु प्रकर्षादजयद् गुरु रघुस्तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत ॥—रघु० ३ ३३
वृत्तानुपूर्वे च न चातिदीर्घे जङ्घे शुभे सृष्टवतस्तदीये ।
शेषाङ्गनिर्माणविधौ विधातुर्लावण्यमुत्पाद्य इवास यत्न ॥—कुमा० १ ३५
दीर्घाक्ष शरदिन्दुकान्तिवदन बाहू नतावंसयो
सक्षिप्त निविडोन्नतस्तनमुर पार्श्वे प्रमृष्टे इव ॥

मध्य पाणिमितो नितम्बिजघन पादावरालागुली ।
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनस श्लिष्ट तथास्या वपु ॥—माल० २ ३

चित्र-प्रतीकावलम्बन

"राजा—वयस्य ! अन्यच्च, शकुन्तलाया प्रसाधनमभिप्रेतमत्र विस्मृत-मस्माभि ।

विदूषक—किमिव ?

सानुमती—वनवासस्य सौकुमार्यस्य च यत् सदृश भविष्यति ।

राजा—कृत न कर्णापितबन्धन सखे शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम् ।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमल मृणालसूत्र रचित स्तनान्तरे ॥—अभि०

'इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणा मण्डन नाकृतीनाम्'—अभि० १

'सखि, रोचते ते ऽेय मुक्ताभरणभूषितो
नीलाशुकपरिग्रहोऽभिसारिकावेश '—विक्र० ७

'वेणीभूतप्रतनुसलिलासावतीतस्य सिन्धु ।
पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्र शिभिर्जीर्णपर्णै ॥

सौभाग्य ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती ।
कार्श्य येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्य ॥'—मेघ०

'त्वमेव तावत्परिचिन्तय स्वय कदाचिदेते यदि योगमर्हत ।
वधूदुकूल कलहसलक्षण गजाजिन शोणितबिन्दुवर्षि च ॥– कुमा० ५ ६७

'आमुक्ताभरण स्रग्वी हसचिन्हदुकूलवान् ।
आसीदतिशयप्रेक्ष्य स राज्यश्रीवधूवर. ॥—रघु० ११ २५

'सुरगज इव दन्तैर्भग्नदैत्यासिधारैर्नय इव पणबन्धव्यक्तयोगैरुपायै ।
हरिरिव युगदर्घैर्दोर्भिरशैस्तदीयै पतिरवनिपतीना तैश्चकाशे चतुर्भि ॥'
—रघु० १० ८६

'वित्तेशाना न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति ।'—मेघ०

'सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद्वीणिभिर्मुक्तमार्ग ।'—मेघ०

'न दुर्वहश्रोणिपयोधरार्ता भिन्दन्ति मन्दा गतिमश्वमुख्य. ॥—कुमा० १

चित्र-विषय-क्षेत्र-उद्देश्य

'सखि ! तदा ससभ्रममुत्कण्ठिताह् भर्तुरूपदर्शनेन तथा न वितृष्णास्मि

यथाद्य विभावितश्चित्रगतदर्शनो भर्ता ।'—माल० ४

'अये ! अनुपयुक्तभूषणोऽयं जनश्चित्रकर्मपरिचयेनाङ्गेषु ते आभरण-विनियोग करोति ।''—अभि० ४

'प्रतिकृतिरचनाभ्यो दूतिसंदर्शिताभ्य समधिकतररूपा शुद्धसतानकामै ।
'अधिविविदुरमात्यैराहृतास्तस्य यून प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवौ राजकन्या ।''
—रघु० १८ ५३

चित्र-दर्शन (Philosophy of the Fine Arts)

'यद्यत्साधु न चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा ।
तथापि तस्या लावण्यरेखया किञ्चिदन्वितम् ॥'—अभि०
'चित्रगतायामस्या कान्तिविसवादशकि मे हृदयम् ।
सप्रति शिथिलसमाधि मन्ये येनेयमालिखिता ॥'—माल० २,
'पात्रविशेषे न्यस्त गुणान्तर व्रजति शिल्पमाधातु ।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलता पयोदस्य ॥'—माल० १

बाण-भट्ट

हमने अपने इस अध्ययन में पहले ही लिख दिया है कि 'बाणोच्छिष्ट जगत्-सर्वम्' का क्या अर्थ है ? बाण-विरचिता दिव्या कादम्बरी तथा उसकी हर्षचरित—इन दोनो महाकाव्यो मे चित्रों का विलास पद पद पर दिखाई पड़ता है । बाण का वर्ण-चित्रण वर्णों-भेद शिल्प-रत्न के निम्न उद्घोष का पूर्ण प्रमाण है —

जगमा स्थावरा वा ये सन्ति भुवनत्रये ।
तत्तत्स्वभावतस्तेषा करण चित्रमुच्यते ॥'

बाण-भट्ट ने अपनी जीवनी पर (देखिये ह च) जो लिखा है, उसमें बाण के साथियो की तालिका देखिये, उसमे चित्रकृद्वीर-वर्मा का उल्लेख है । अत उनका पर्यटन बिना चित्रकार के पूर्ण नही था ।

बाण-भट्ट के राज-भवनो के वर्णन में जो चित्र-शालायें वर्णित हैं, वे विमान-शैली पर निर्मित प्रतीत होती हैं । नारद-शिल्प में जो चित्र-शाला का शास्त्रीय विवेचन है, उसी के आधार पर ये विभाव्य हैं । निम्न उद्धरणों को पढ़िये जिस में चित्र-विषय, चित्र-प्रकार, भूमि-बन्धन, द्रव्य-प्रक्रिया, वर्ण-

विन्यास आदि आदि सभी शास्त्रीय सिद्धान्त मूर्तिमान् दिखाई पड़ते हैं

चित्र-शाला-निर्माण

'सरासुरसिद्धगन्धर्वविद्याधरोरगाध्यासिताभिश्चित्रशालाभि
. दिव्यविमानपक्तिभिरिवालकृता ।'—का. पृ ९६

चित्र-शिल्पाचार्य

'सकलदेशादिश्यमानशिल्पिसार्थागमनम् ।'—ह च १४२
'चित्रकुसुमविलेपनवसनसत्कृतै सूत्रधारै ।'—ह च १४२

चित्र-प्रकार

कुड्य—'चित्रलेखादर्शितविचित्रसकलत्रिभुवनाकाराम् '—का १७६
'आलेख्यगृहैरिव बहुवर्णचित्रपत्रशकुनिशतसशोभितै '—का २४७
'प्रविवेश च द्वारपक्षलिखितरतिपतिदैवतम् ।'—ह १४८
'सुप्तया वासभवने चित्रभित्तिचामरग्राहिण्योऽपि चामराणि चालयाञ्चक्रु ।'
—ह १२७
'आलेख्यक्षितिपतिभिरप्यप्रमणद्भि सतप्यमनचरणौ ।'—ह १३६
'दिवसावसानेषु—चित्रभित्तिविलिखितानि चक्रवाकमिथुनानि ॥'—का ४४६

फलक (Portraits) —
प्रत्यग्रलिखितमङ्गल्यालेख्योज्ज्वलितभित्तिभागमनोहाराणि' ।—का १३६
'चतुरचित्रकरचक्रवाललिख्यमानमङ्गल्यालेख्यम् ॥—ह १४२
'चित्रावशेषाकृतौ काव्यशेषनाम्नि नरनाथे ।'—ह १७५
'प्रविशन्नेव—चित्रवति पटे—कथयन्त यमपट्टिक ददर्श'—ह १५३

पट-चित्र —
'वासभवने मे शिरोभागनिहित कामदेवपट पाटनीय ।'—का. ३३६

पट्ट-चित्र :—
'यमपट्टिका इवाम्बरे चित्रमालिखन्त्युद्गीतका ।'—ह १३८

शिला-चित्र —
'अत्र च स्नानार्थमागतया—विलिखितानि त्र्यम्बकप्रतिबिम्बकादि
बन्दमाना ।'—का २९१

चित्र-द्रव्य-वर्ण-कूर्चक

वर्तिका—कालाञ्जन-वर्तिका :—

'रूपोलेख्योन्मीलनकालाञ्जनवर्तिका ।'—का ४५५

वर्णसुधाकूर्चकैरिव करैर्धवलितदशाशामुखे चन्द्रमसि ।'—का ५२७

कूर्चक — 'इन्दुकरकूर्चकैरिवाक्षालिताम् ।'—का २४६

वर्ण-शुद्ध-कूर्चक :—'वही' ।

तूलिका '—'अवलम्बमानतूलिकालाबुकाश्च ।''—ह २१०

वर्ण-पात्र (वर्ण-करण्डक) —'अलाबु' ।

चित्र-प्रक्रिया-आधार—भूमि-बन्धन

कुड्य-भूमि-बन्धन —

'उत्थापिताभिनवभित्तिपात्यमानवहलवालुकाककण्ठकालेपाकुलाले-पकलोकम् ।'—ह १४२

'उत्कूर्चकैश्च सुधाकर्परस्कन्धैरधिरोहिणीसमारूढैर्धवलीक्रियमाणप्रासाद-प्रतोलीप्राकारशिखरम् ।'—ह

चित्र-फलक-बन्धन —

'आलिखिता चित्रफलके भूमिपालप्रतिबिम्बम्'—का १७२

प्रमाण एव अण्डक-वतन —

'वत्सस्य यौवनारम्भसूत्रपातेरखा ।'—का ४६६

छाया-कान्ति—चित्रोन्मीलन

'रूपालेख्योन्मीलनकालाञ्जनवर्तिका ।'—का ४५५

'प्रातश्च तदुन्मीलित चित्रमिव चन्द्रापीडशरीरमवलोक्य ।'—का ५४८

पत्र-लेखनादि —

'उभयतश्च—पुरन्ध्रिवर्गेण समधिष्ठितम् ।'—१४३

'बहुविधवर्णकादिग्धागुलीभिर्ग्रीवासूत्राणि च—सम तात्सामन्तसीमन्तिनी-भिर्व्याप्तम्—ह १४३

चित्र-वर्ण-विन्यास-बाहुल्य

मूल-वर्ण—शुद्ध-वर्ण —

शुभ्र-वर्ण —'हरितालशैलावदातदेह'

'हंसधवला चरण्यामपतज्ज्योत्सना'
'हिमकरसरसि विकचपुण्डरीकसिते'
'अभिनवसितसिन्दुवारकुसुमपाण्डरैः'
'कर्णिकारगौरेण धौध्रकञ्चुकच्छन्नवपुषा'
'बकुलसुरभिनि श्वसितया चम्पकावदातया'
'दन्तपाण्डरपादे शशिमय इव'
'पीयूषफेनपटलपाण्डरेण'
'शङ्खक्षीरफेनपटलपाण्डरम्'
'विकचकेतकीगर्भपत्रपाण्डर रज सधातम्'

रक्त-वर्ण —

'तस्य चाधरदीधनयो विकसितबन्धूकवनराजय '
'कुङ्कुमपिञ्जरितपष्ठस्य चरणयुगलस्य'
'कुसुम्भरागपाटल पुलकबन्धचित्रम्'
'रुधिरकुतूहलिकेसरिकिशोरकलिह्यमानकठोरघातकीस्तवके'
'लोहितायमानमन्दारसिन्दूरसीम्नि'
माञ्जिष्ठरागलोहिते किरणजाले'
बालातपपिञ्जरा इव रजन्य '
'पारावतपादपाटलराग '

हरित-वर्ण -

'शुकहरितै कदलीवनैः'
'मरकतहरिताना कदलीवनानाम्'
'तरूणतरतमालश्यामलै'

भूरा (gray) वर्ण —

'कृष्णाजिनेन नीलपाण्डुभासा—धूमपटलैनेव'
'रासभरोमधूसरासु'
'वनदेवताप्रासादाना तरूणा-तपोवनाग्निहोत्रधूमलेखासु'
'कपोतकण्ठकर्बुरे—तिमिरे'
'शफरोदरधूसरे रजसि'

भूरा (brown) वर्ण :—

'गोरोचनाकपिलश्रुति'

'हरितालकपिलपक्ववेणुविटपरचितवृतिभिः।'

'सन्ध्यानुबन्धताम्रे परिणततालफलत्विषि कालमेघमेदुरे'

'धूसरीचक्रु क्रमेलककचकपिला: पांसुवृष्टय.'

'गोधूमधामाभि स्थलीपृष्ठैरधिष्ठिता'

श्याम वर्ण —

'जरन्महिषमषीमलीमसि तमसि'

'गोलाङ्गूलकपोलकालकायलोम्नि नीलसिन्धुवारवर्णे वाजिनि'

'चापपक्षत्विषि तमस्युदिते'

शबल-वर्ण —

'आचमनशुचिशचीतिमुच्यमानार्चनकुसुमनिकरशारम्'

'आभरणप्रभाजालजायमानानीन्द्रधनु सहस्राणि।'

'पाकविशराहराजमाषनिकरकिर्मीरितैश्च'

'शबलशार्दूलचर्मपटपीडितेन'

'तिर्यङ् नीलधवलांशुकशाराम्।'

मिश्र-वर्ण– अन्तरित वर्ण —

स्कन्धदेशावलम्बिना कृष्णाजिनेन नीलपाण्डुभासा तपस्तृष्णाविपीतेनान्तर्निपतता धूमपटलेनेव परीतमूर्ति'

'सरस्वत्यपि शप्ता किञ्चिदधोमुखी धवलकृष्णशारा दृष्टिमुरसि पातयन्ती'

'आकुलाकुलकाकपक्षधारिणा कनकशलाकानिर्मितमप्यन्तरगतशुकप्रभाश्यामायमान मरकतमयमिव पञ्जरमुद्वहता चाण्डालदारकेणानुगम्यमानम्'

'आमत्तकोकिललोचनच्छविर्नीलपाटल कषायमधुर प्रकाममापीतो जम्बूफलरस'

शरीरावयव –चित्रवर्ण (anatomical delineation) —

चक्षु कुरङ्गकैर्घोणावंश वराहै स्कन्धपीठ महिषै प्रकोष्ठबन्ध व्याघ्रै पराक्रम केसरिभिर्गमन–माधवगुप्तम्

'सद्य एव कुन्तली किरीटी कुण्डली हारी केयुरो मेखली मुद्‌गरी खंगी च भूत्वावाप विद्याधरत्वम

'देवताप्रणामेषु मध्यभागभङ्गो नातिविस्मयकर '

'अङ्गभङ्गबलनान्योन्यघटितोत्तानकरवेणिकाभि '

दण्डिन

दशकुमार-चरित का निम्न वाक्य पढिए, जिस मे भूमि-बन्धन और वर्ण-विन्यास का प्रतिविम्बन प्रत्यक्ष है —

मणिसमुद्‌गात् वर्णवर्तिकामुद्धृत्य .

—दश० च० उ० २

भवभूति

भवभूति के उत्तर-राम-चरित मे प्राकृतिक चित्रो की भरमार है। हमे ऐसा प्रतीत होता है कि Landscape Artist के लिए जो Principles of Perspective विशेष महत्त्व रखते है, उनके पूर्ण प्रतिविम्ब यहा पर दिखाई पड़ते हैं। उदाहरण के लिए शृगवेर पुर के निकट इड्‌गुदी-पादप का वर्णन, भागीरथी गगा का वर्णन, चित्रकूट के मार्ग पर स्थित श्याम वट-वृक्ष का वर्णन, प्रश्रवण-पर्वत का भव्य वर्णन, पञ्चवटी की पृष्ठ-भूमि पर शूर्पणखा के चित्र का विलास-वर्णन पम्पा-सरोवर के वर्णन—ये सब वर्णन एक-मात्र काव्य-मय नही है, ये पूरे के पूरे चित्रमय हैं।

माघ

माघ को तो कालिदास और भवभूति से भी बढकर पण्डित-मण्डली ने भी निम्न युक्ति से परिकल्पित किया है—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।

दण्डिन. पदलालित्य माघे सन्ति त्रयो गुणा ॥

यह ठीक है या नही ? परन्तु इन के विरचित शिशुपाल-वध के तृतीय सर्ग के ३६वे श्लोक को पढिए जिस मे भूमिबन्धन के लिए कितना सुन्दर मार्मिक विधान है। अतिश्लक्ष्णता अर्थात् बहुत चमकता चिकना एव आलेख्य कर्म के लिए भूमि बन्धन समीचीन नही—

यस्यामतिश्लक्ष्णतया गृहेषु विधातुमालेख्यमशक्नुवन्तः ।
चक्रुर्युवानः प्रतिबिम्बितांग सजीव चित्रा इव रत्नभित्ती ॥

हर्षदेव—हर्षवर्धन

इन के तीनो नाटक-नाटिकाओं—नागानन्द, रत्नावली, प्रियदर्शिका मे सभी परिचित ही हैं। बाण के 'अलाबु' कालिदास के वर्णिका-करण्डक का हम उल्लेख कर ही चुके हैं। हर्षदेव की रत्नावली को पढिए :—

"गृहीतसमुद्गकचित्रफलवर्तिका"

इस मे षड्-चित्रांगो मे वर्ण-पात्र, चित्र-फलक तथा चित्र-लेखनी इन तीनों पर पूर्ण प्रकाश प्राप्त होता है।

राजशेखर

राजशेखर की काव्य-मीमांसा मे विशेष कर उनके बाल भारत मे निर्यद्रासर इस सन्दर्भ मे चित्र-वर्ण-रसायन पर बडा ही पारिभाषिक वैशिष्ट्य प्रतीत होता है। अब आइये श्रीहर्ष की ओर—

श्रीहर्ष का समय ११वीं तथा १२वीं शताब्दी

उत्तर—मध्यकालीन चित्रकला का साहित्यिक-निबन्धन-इतिहास उद्दाम तथा तीव्र गति से उल्लसित प्रस्तुत करता है। चित्र-कला मे वर्ण-विन्यास को अक्षर-विन्यास मे जो परावर्तन प्रारम्भ हुआ, वह श्रीहर्ष के नैषधीय-चरित महाकाव्य के निम्नलिखित सदर्भों मे प्राप्त होता है। यहा पर 'ॐ' इस शब्द के दोनो दल बिन्दु तथा अर्धचन्द्र—चारो के साथ दमयन्ती के दोनों भौहों (दोनो दल), तिलक (बिन्दु) अर्द्ध-चन्द्र वीणा-क्कोण से तुलना की गई है। इसी प्रकार इस निम्नोद्धत श्लोक में विसर्ग की कितनी सुन्दर समीक्षा एव तुलना है —

शृंगवद्बालवत्सस्य बालिकाकुचयुग्मवत्
नेत्रवत्कृष्णसर्पस्य स विसर्ग इति स्मृत ।

अब हम चित्र-शास्त्रीय-सिद्धान्तो तथा चित्र-प्रक्रिया की पृष्ठ-भूमि मे नैषध के नाना उद्धरणो को पेश करते हैं, जिनमे चित्र प्रकार, चित्र-प्रक्रिया, विशेष कर मान-प्रमाण, अण्डक-वर्म, चित्र-वर्ण, वर्ण विन्यास एव शरीरावयव-मुख, नासा, चिबुक, कर्ण, ग्रीवा, केश, नितम्ब गुल्फ, एडी, तथा अगुलिया-

सभी पर बड़े ही प्रौढ़ वर्णन प्राप्त होते है। श्रीहर्ष के इन निदर्शनो मे सबसे बड़ी विशेषता नल चित्रकारी मुद्रा-भंगिमा विशेष सूच्य है।

चित्र-प्रकार

कुड्य-चित्र-'ते तत्र भैम्याश्चरितानि चित्रे चित्राणि पौरे पुरि लेखितानि। निरीक्ष्य निर्युदिवम निशा च तत्स्वप्नसभोगकलाविलासै ॥१० ३५॥

द्वार-चित्र पुरि पथि द्वारगृहाणि तत्र चित्रीकृतान्युत्सववाञ्छयेव। नभोऽपि किर्मीरमकारि तेपा महीभुजामाभरणप्रभाभि. ॥१० ३१॥

प्रेमी प्रेमिका चित्र—प्रिय प्रिया च त्रिजगज्जयिश्रियौ लिखाधिलीना गृहभित्तिकावपि।

इति स्म सा कारुवरेण लेखित नलस्य च स्वस्य च सरयमीक्षते ॥१ ३८॥

चित्र मे योज्यायोज्य

'भित्तिचित्रलिखिताखिलक्रमा यत्र तस्थुरितिहाससकथा'। पदमनन्नदसुतारिरसुतामन्दसाहमहसन्मनाभुव ॥१८ २०॥

वतना

सूत्रपात-लेखा—गौरीव पत्या सुभगा कदाचित्कर्तेयमप्यर्धतनूसमस्याम्। इतीव मध्ये विदधे विधाता रोमावलीमेचकसूत्रमस्या ॥७ ८३॥

अपागमालिरय तदीयमुच्चकैरदीपि रेखाजनिताञ्जनेव या। आपाति सूत्र तदिव द्वितीयदा वय श्रिया वर्धयितु विलोचने ॥१५ ३४॥

हस्त लेखा—पुराकृति स्त्रणमिमा विधातुमभूद्विधातु खलु हस्तलेख। येयमवद्भावि पुरन्ध्रिसृष्टि सास्यै यशस्तज्जयज प्रदातुम्' ॥७ १५॥

अस्यैव सर्गस्य भवत्करस्य सरोजसृष्टिर्मम हस्तलेख। इत्याह धाता हरिणक्षणाया कि हस्तलेखाकृतया तयास्याम् ॥७ ७२॥

हस्तलेखमसृजत् खलु जन्मस्थानरेणुकमसौ भवदर्थम्। राम राममधरीकृततत्तल्लेखक प्रथममेव विधाता ॥२१ ६९॥

वर्ण-विन्यास

चार मूल रग-'विरहपाण्डिम राग, तमोमषीशिनम तन्निजगौनिम वर्णक दश दिश खलु तद्दृगकल्पयल्लिपिकरो नलरूपकचित्रिता ॥४ १५॥

"पीतावदाताऽरुणनीलभासा देहोपदेहादिकरणैर्मणीनाम् ।
गोरोचनाचन्दनकुङ्कुमैणनाभीविलेपान्पुनरुक्तयन्तीम् ॥१०.९७॥
विभिन्न मिश्र वर्ण—यस्य मन्त्रिपु स राज्यमादरादाराराध मदन प्रियासख।
नैकवर्णमणिकोट्टिकुट्टिमे हेमभूमिभृति सौधभूधरे ॥८ ३॥
वर्ण-विन्यास— स्थितिशालिसमस्तवर्णता न कथ चित्रमयी बिभर्तु या।
स्वरभेदमुपेतु या कथ कलितानल्पमुखारवा न वा ॥२ ९८॥

शरीरावयवज्ञान

ऋणीकृता किं हरिणीभिरासीदस्या सकाशान्नयनद्वयश्री ।
भूयोगुणेय सकला बलाद्यत्ताभ्योऽनयाऽलभ्यत विस्मितोभ्य ॥
नासीदसीया तिलपुष्पतूण जगत्त्रयव्यस्तशरत्रयस्य ।
श्वासानिलामोदभरानुमेयो दधद्द्विबाणी कुसुमायुधस्य ॥
बन्धूकबन्धूभवदेतदस्य मुखेन्दुनानेन सहोज्जिहाना ।
रागश्रिया शैशवयौवनीया स्वमाह्न सध्याधरोष्ठलेखा ॥
विलोकितास्या मुखमुन्नमय्य किं वेधसेय सुषमासमाप्तौ ।
धृत्युद्भवा यच्चिबुके चकास्ति निम्ने मनागुलियन्त्रयेव ॥
इहाविशद्येन पथातिवक्त्र शास्त्रौघनिष्यन्दसुधाप्रवाह. ।
सोऽस्या श्रव पत्रयुगे प्रणालीरेखेव धावत्यभिकणकपम् ॥
ग्रीवादभूतेवावटुशोभितापि प्रसाधिता माणवकेन सेयम् ।
आलिम्य तामप्यवलम्बमाना मुक्ताभाभाविलोर्ध्वकाया ॥
कविद्बगानाप्रियवादसत्या यस्या विधाता व्यधितावकण्ठम् ।
रेखात्रयन्यासमिषादसीया वासाय सौऽय विबभाज सीमा ॥
रज्जन्नखस्याङ्गुलिपञ्चकस्य मिषादसौ हैठेनपद्मतूण ।
हैमैकपुङ्ख्यास्ति विशुद्धपर्वं प्रियाकरे पञ्चशरी स्मरस्य ।
चक्रेण विश्वे युधि मत्स्यकेतुः पितुर्जित वीक्ष्य सुदर्शनेन ॥
जगज्जिगीपत्यमुना नितम्बमयेन किं दुलभदर्शनेन ।
भूश्चित्रलेखा च तिलोत्तमास्या नासा च रम्भा च यदूरुसृष्टि
दृष्ट्वा तत. पूरयतीयमेकानेमकाप्सर: प्रेक्षणकौतुकानि ।
यानेन तन्व्या जितदन्तिनाथौ पादानराजौ परशुद्धपार्ष्णी ॥
जाने न शुश्रूषयतु स्वमिच्छ नतेन मूर्ध्ना कतरस्य राज्ञ ।

एष्यन्ति यावद्भणनाहिगन्तान्नृपाः स्मरार्ता. शरणे प्रविष्टम् ।
इमे पदारत्ने विधिनापि सृष्टास्तावत्य एवाङ्गुलयोऽत्र लेखा ॥
प्रियानखीभूतवतो मुदेव व्यधाद्विधिः साधुदशत्वमिन्दो ।
एतत्पदच्छद्मसरागपद्मसौभाग्य कथमन्यथा स्यात् ॥

तल-चित्र (Mosaic Floor-painting)

कुत्रचित् कनकनिर्मिताखिल क्वापि यो विमलरत्नज किल।
कुत्रचिद्रचितचित्रशालिक क्वापि चारिस्थरविवैन्द्रजालिक.॥'—१८ ११

पत्र-भग-चित्रण

स्तनद्वये तन्वि पर तथैव पृथौ यदि प्राप्स्यति नैषधस्य ।
अनल्पवैदग्ध्यविवर्धिनीना वलना समाप्तिम् ॥"—३ ११८

हस्त-लेख

दलोदरे काञ्चनकेतकस्य क्षणान्मसीभावुकवणलेखम् ।
तस्यैव यत्र स्वमनङ्गलेख लिलेख भैमीनखलेखिनीभि. ॥—३ ६३

चित्र-मुद्रा

क्रमाद्गता पीवरताधिजघ वृक्षाधिरूढ विदुषी किमस्या ।
अपि भ्रमीमग्निभिरावृताग वासो लतावेष्टितकप्रवीणम् ॥—७ ९७

चित्रकार

'चित्रतत्तदनुकार्यविभ्रसाव्याय्यननेकविधरूपरूपकम् ।
वीक्ष्य य बहु धुन्विशिरो परावातको विधिरकल्पि शिल्पिराट् ॥—१८ १२

सोमेश्वर सूरि—इन के यशस्तिलक-चम्पू मे न केवल चित्र-शास्त्रीय सिद्धान्तो एव प्रक्रियाओ का ही पूर्ण प्रोल्लास प्राप्त होता है, वरन् जिस प्रकार बाण की रचनाओ से तत्कालीन चित्र-कला-सेवन एक प्रकार से दैनिक-चर्या थी, उसी प्रकार 'यशस्तिलक' के पन्नो मे तत्कालीन चित्र-कला के सामाजिक, वैयक्तिक एव गार्हस्थ्य सेवन पर भी पूरा प्रकाश प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में चित्र-कला का नया विकास प्रारम्भ पाया जाता है, जिसको हम पत्रालेखन की सज्ञा से पुकार सकते हैं । पत्रालेखन से तात्पर्य लता-विच्छित्ति चित्रण हैं जो नरो, नारियो, पशुओ एव पक्षिओ के अगो पर चित्रणीय है । कालिदास ने ही सबसे पहले इस

परम्परा का अपने मेघदूत में श्रीगणेश किया था, 'रेवा द्रक्ष्यसि॰ आदि'।

परन्तु पुनः इन का पुनरुत्थान 'यशस्तिलक' के सन्दर्भो में प्राप्त होता है। यहा पर वे कालिदास से भी आगे बढ गए हैं। उन्होने शख, स्वस्तिक, ध्वजा, नन्द्यावर्त आदि लाछनो से गज की भूति को विकसित किया है यह पत्रलेखन एक प्रकार से बड़ा ही विरला है। आगे चल कर नायिकाओ के अग प्रसाधन मे, शृ गार मे अगों की भूति-प्रदर्शनार्थ नाना अगोपाग, अन्तराग प्रसाध्य हैं। निम्नलिखित उद्धरण पढिए

'ऊर्ध्वनखरेखालिखितनिखिलदेहप्रसादम्'

अस्तु, इस थोडे से साहित्य–निबन्धनीय एव ऐतिहासिक सिंहावलोकन के उपरान्त अब हम चित्रकला के अन्तिम स्तम्भ पर आते हैं।

ग्रन्थ-चित्रण—चित्रकला को हम तीन धाराओं में बहती हुई पाते हैं। पहली हुई पुरातत्वीय दूसरी हुई साहित्यिक। अब इस तीसरी धारा को हम ग्रन्थ-चित्रण के रूप मे विभावित कर सकते है। समरागण-सूत्रधार का यह निम्न प्रवचन इस तीसरी धारा की ओर भी सकेत करता है —

'चित्र हि सर्वशिल्पाना मुख लोकस्य च प्रियम्"

यह धारा विशेषकर गुजरात मे पनपी और इसके निदर्शन हस्त-लिखित जन-ग्रन्थ ही मूर्धन्य उदाहरण हैं। जैन-चित्र-कल्पद्रु म से ही नही वरन् अन्य अनेक जैन-हस्त-लिखित चित्रित-ग्रन्थो से भी यही प्रमाण प्रस्तुत होता है। हीरानन्द शास्त्री ने अपने Monograph (Indian Pictorial Art as developed in Book Illustrations) मे भी यही प्रमाण पूर्ण रूप से परिपुष्ट किया है।

द्वितीय खण्ड

अनुवाद

प्रथम पटल

प्रारम्भिका

द्वितीय पटल

राज-निवेश एव राज-उपकरण

तृतीय पटल

शयनासन

चतुर्थ पटल

यन्त्र-घटना

पचम पटल

चित्र-लक्षण

षष्ठ पटल

चित्र एव प्रतिमा—दोनो के सामान्य अङ्ग

प्रथम पटल

प्रारम्भिका

विषयानुक्रमणी—शेषांश

वेदी-लक्षण

वेदियां चार हैं जो पूर्व ब्रह्मा के द्वारा कही गयी हैं उन्हीं का अब हम नाम, संस्थान और मान से वर्णन करते हैं ॥१॥

पहली चतुरश्रा दूसरी सर्वभद्रा तीसरी श्रीधरी और चौथी पद्मिनी नाम से स्मृत की गई है ॥२॥

यज्ञ के अवसर पर, विवाह में और देवताओं की स्थापनाओं, सब नीराजनों में तथा नित्य-बलि-होम में, राजा के अभिषेक में और छत्रध्वज के निवेशन में राजा के योग्य ये बतायी गयी हैं और वर्णों के लिए भी यथाक्रम समझनी चाहिये ॥३-४॥

चतुरश्रा वेदी चारों तरफ से नौ हाथ होती है। आठ हस्त के प्रमाण से सर्वभद्रा बतायी गई है। श्रीधरी वेदी का मान सात हाथ समझना चाहिए और शास्त्रज्ञों ने नलिनी नाम की वेदी का छह हाथ का विधान किया है ॥५-६॥

चतुरश्रा वेदी को चारों ओर चौकोर बनाना चाहिए और सर्वभद्रा को चारों दिशाओं में भद्रों से सुशोभित करना चाहिए। श्रीधरी को बीस कोनों से युक्त समझना चाहिये और नलिनी यथानाम पद्म के संस्थान को धारण करने वाली समझना चाहिए। अपने अपने विस्तार के तीन भागों में उन सब की ऊंचाई करनी चाहिए तथा मन्द-पुष्प-... के द्वारा उन का चयन करना चाहिए ॥७-९॥

यज्ञ के अवसर पर चतुरश्रा विवाह में श्रीधरी देवता के स्थापन में सर्वभद्रा वेदी का निवेश करना चाहिए। अग्नि-कार्य-सहित नीराजन में तथा राज्याभिषेक में पद्मावती वेदी कही गई है और छत्रध्वज-उत्थान में भी इसी का विधान है ॥११॥

चतुर्मुखी वेदी का विशेष यह है कि चारों दिशाओं में सोपानों से चतुर्मुखी बनाना चाहिए। *उन प्रतीहारों में युक्त और अर्धचन्द्रों से उपशोभित* चार खम्भों से युक्त चार घड़ों से शोभित तथा सुवर्ण, रजत, ताम्र अथवा मृत्तिका से बने हुए कलशों से सुशोभित करना चाहिए। और वे घड़े प्रत्येक कोने

पर सुंदर वानरों के चित्रों से भूषित विन्यस्त करना चाहिए। वेदिया के स्तम्भों का प्रमाण छाद्य (छप्पर) के अनुकूल करना चाहिए ॥१२-१४॥

एक, दो अथवा तीन आमलसारक छाद्य के द्वारा स्तम्भ के मूल भाग को गुड, शहद अथवा घृत से चिकना कर अथवा श्रेष्ठ अन्न से चिकना कर उनका यथास्थान विन्यास करे। पुन देवताओं की पूजा कर के ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन करवाना चाहिये ॥१५-१६॥

वेदिका का लक्षण जो चार प्रकार का यहा बताया गया है वह सारा का सारा जिस स्थपति के मन में वर्तमान होता है, वह ससार में पूजित होता है और राजा की सभा में स्थपति शोभा को प्राप्त करता है और उसका शुभ्र यश फैलता है ॥१७॥

पीठ-मान

अब देवो के और मनुष्यो के पीठ का प्रमाण कहा जाता है । एक भाग की ऊचाई वाला पीठ कनिष्ठ (छोटा) पीठ डेढ भाग वाला मध्यम और दो भाग की ऊचाई वाला उत्तम—इस प्रकार पीठ की ऊचाई कही गई है ॥१-२½॥

महेश्वर, विष्णु और ब्रह्मा का पीठ उत्तम होना चाहिए और अन्य देवो का पीठ बुद्धिमान के द्वारा वैसा नही करना चाहिए और ईश्वर का (राजा का) पीठ इच्छानुसार विचक्षण स्थपतियो के द्वारा बनाना चाहिये ॥२½-३॥

जिस पीठ पर ब्रह्मा और विष्णु का निवेश करना चाहिए वहा सब जगह ईश्वर का निवेश किया जा सकता है । ऐसा करने पर दोष नही और देवो की पीठ की ऊचाई एक भाग से प्रकल्पित है । जिस का जिस विभाग मे वास्तु मान विहित है उसका उसी भाग से पीठ की ऊचाई भी करनी चाहिए । मनुष्यो के घरो के पीठ देव पीठो के तुल्य (बराबर) करने चाहिए अथवा देवो के पीठ अधिक करने पर दवना लाग वृद्धि करते है ॥३-७½॥

पुर के मध्य भाग म ब्रह्मा जी का उत्तम मन्दिर निर्माण करना चाहिए उसको चतुर्मुख बनाना चाहिए, जिस मे वह सब पुर को देख सके । सब वेश्मो से तथा राज-प्रासाद से भी उसे बडा बनाना चाहिए ॥७½-८॥

और देव-मन्दिरो से राज-प्रासाद अधिक भी प्रशस्त कहा गया है क्योकि लोकपालो मे श्रेष्ठतम पाचवा लोकपाल राजा कहा गया है ॥९॥

इस प्रकार म देवो के इन सपूर्ण पीठो का वणन किया गया । अब ब्राह्मणादि के क्रम स चारो वर्णों के पीठा का वणन करता हू ॥१०॥

३६ अगुल की ऊचाई का पीठ ब्राह्मण के लिय प्रशस्त कहा गया है और अन्य वर्णों के पीठ चार चार अगुल म छोटे हो ॥११॥

चारो वर्णों के पीठो और गृहो को विप्र भोग करता है और तीन वर्णों का क्षत्रिय, दो का वैश्य और शूद्र केवल अपने पीठ का भोग करता है ॥१२॥

इस प्रकार पीठो का विभाग गृह-स्वामी का कल्याण चाहता हुआ और राजा की समृद्धि के लिए स्थपति परिकल्पित करें ॥१३॥

प्रमाण के अनुसार स्थापित किये गये देव पूजा के योग्य होते हैं ॥१३३॥

ब्रह्मा, विष्णु, शङ्कर तथा अन्य देवों के पीठों का जो नियत प्रमाण कहा गया है वह सब वर्णित किया गया। तदनन्तर विप्र आदि वर्णों का भी पीठ-प्रमाण बताया गया। इस लिए कल्याण चाहने वाले स्थपतियों के द्वारा उस सम्पूर्ण पीठ-मान की योजना करनी चाहिए ॥१४॥

द्वितीय पटल

राज-निवेश

चौंसठ पद पर प्रतिष्ठित पुर निवेश यथाविधान, यथाङ्गोपाङ्ग का विधान करने पर अर्थात् यहां पर परिखाओं प्राकारों गोपुरों, अट्टालकों के निर्माण करने पर, गलियों का विभाग तथा चारों और चबूतरों का विभाग कर लेने पर और भ्रमन्त अन्दर और बाहर बनाए हुए देवताओं की स्थापना करने पर पूर्व दिशा में जल बहुल प्रदेश में अथवा पूर्व में आगे के दरवाजे के उन्नत प्रदेश पर यश श्री, विजय वाले मंत्र-पद-प्रतिष्ठित यथा-वर्णनमायात समान चारों कोन वाले शुभ पुर के मध्य भाग में उत्तर दिशा में स्थित राजा के महल को बनाना चाहिये ॥१-४।

दुर्गों में राज-महल उत्तर दिशाओं में भी अथवा जहां उचित भू-प्रदेश प्राप्त हो वहां निविष्ट किया जा सकता है और वहां पर विवस्वन् भूधर अथवा अयमा के किसी अन्यतम निर्दिष्ट पद निवेश विहित माना गया है ॥५॥

दो सौ तैंतालीस चापों से युक्त पद से ज्येष्ठ प्रासाद कहा गया है और मध्यम प्रासाद एक सौ बासठ और अन्तिम एक सौ आठ का होता है ॥६॥

ज्येष्ठ पुर में ज्येष्ठ राज-निवेश का विधान है मध्यम में मध्यम और छोटे में छोटा है ॥७॥

यह राज-मार्ग पर आश्रित होता है और इसके वास्तु द्वार का मुख पूर्व की ओर होता है। चारों ओर प्राकारों एवं परिखाओं से रचित सुन्दर कान्ति वाले अङ्कक्रमों से निर्मित अर्थात् भवन विच्छित्तियों एवं सुदृढ़ अट्टालकों से युक्त इक्यासी पदों में विभक्त नृप-मन्दिर का निर्माण करना चाहिए। इसी युक्ति से अन्य दिशाओं में आश्रित पदों पर निर्माण करना चाहिये इसको गोपुर-द्वार भल्लाट-पद-वर्ती दृष्ट माना गया है ॥८-१०।

उस पुर के द्वार के विस्तार की ऊंचाई के समान कल्याणकारी महेन्द्र-द्वार महीधर शेष नाग पर निवेश्य कहा गया है। वैवस्वत में पुष्पदन्त, अयमा में गृहक्षत, और दूसरे प्रदक्षिण पदों में अपरन इसी प्रकार से अन्य दूसरी अपनी अपनी दिशाओं में द्वारों का निर्माण करना चाहिए। सब आभिमुख्य होने पर ये सब गोपुर-द्वार प्रशस्त कहे गये हैं ॥११-१३॥

उन नगर द्वारों मे बीस पदों को छोड़कर सुग्रीव, जयन्त और पुष्प के पदों पर पक्ष-द्वारों का निर्माण करना चाहिए। अथ च उसी प्रकार से विनय में प्रदक्षिण क्रमों का निर्माण करना चाहिए ।।१८-१५½।

देवताओं के पद-समूहों मे पुर के समान वास्तु पद में विभक्त होने पर मैत्र पद पर राजा के निवेश के लिए पूर्व-मुख प्रमुख पृथ्वी-जय प्रासाद का यथावत निवेश करना चाहिये ।।१५½ १६।।

श्रीवृक्ष, सर्वतोभद्र, अथवा मुक्तकोण इनमे से जिस किसी को राजा चाहे उस शुभ-लक्षण राज-प्रासाद का निर्माण करावे ।।१७।।

अब आइये नाना विध राज-प्रासाद-निवेशों का सविस्तर वर्णन किया जाता है। शालायें एवं कर्म-चारियों के अपने अपने पृथक् पृथक् निवेशों के साथ राज गृह निवेश होता है। प्राची दिशा मे आदित्य भगवान् सूर्य्य के पद से सचिव राज गृह होना है। सत्य मे धर्माधिकरण-व्यवहार निरीक्षण का स्थान विहित है और मृग मे कोष्ठागार और अम्बर में मृग एवं पक्षियों का निवास बताया गया है ।।१८-१९ ।।

अग्नि की दिशा मे प्रारम्भ कर वायु की दिशा की ओर रसोई पूषा मे सभाजनाश्रय तथा भोजन-स्थान का निवेश बताया गया है ।।२०।।

सावित्र्य से वाद्यशाला और सविता मे वन्दि गणों का निवास बताया गया है। वितथ मे चर्मो का एवं उसके योग्य शस्त्रों का विधान विहित है। सोना, चांदी के वासों का गृहक्षत मे निवेश करना चाहिए। दक्षिण दिशा में पुष्टि कोष्ठागार बनाना चाहिये ।।२१-२२।।

प्रेक्षा सगीत और वास-वेश्म गन्धर्व में स्थापित करने चाहिए। रथ-शाला और हस्ति-शाला का निर्माण वैवस्वत में करना चाहिए ।।२३।।

पश्चिमोत्तर भाग मे वापी का निर्माण करना चाहिए ।।२४½।।

गन्धर्व के बाहर वायु और सुग्रीव के पदों मे प्राकार के वलय में आवृत अन्तःपुर का स्थान बनाना चाहिए। अथच अन्तःपुर के गोपुर-द्वार का निवेश जय पर तथा उसका मुख उत्तराभिमुख बनाना चाहिए। भृङ्ग में कुमारी-भवन तथा क्रीडा एवं दोला गृहों का भी निवेश करना चाहिये। स्थपति के द्वारा अपराङ्मुख वाले ऐसे प्रासाद का भी निर्माण करना चाहिए। मृग मे नृप का अन्तःपुर और पित्र्य मे अवस्कर अथच यथास्थान राजाओं की स्त्रियों का उपस्थान भी इन्द्र-पद मे कहा गया है ।।२४½-२७ ।।

सुग्रीव पद मे आश्रित अरिष्टागार कल्याणकारी होता है एवं उसका

निवेश जयन्त तथा सुग्रीव पदों मे विशेष विहित है ।। २८ ।।

मनोहर अशोक-वन के स्थान के लिए एवं धारा-गृह एव लता मण्डपो से युक्त लता गृह भी यही पर होने चाहिए । सुन्दर लकड़ी के पर्वत, वापियाँ, पुष्प-वीथियाँ भी होनी चाहिए । पुष्पदन्त मे पुष्प-वेश्म तथा अन्तःपुर के कर्मादिक निवेश करने चाहिए ॥२६—३०॥

वरुण के पद मे वापी और पान-गृह बनाने चाहिए । असुर मे काष्ठागार, शोष मे आयुध गृह विहित बताये गये है । ॥३१॥

रौद्र नामक सुन्दर पद मे भाण्डागार का निर्माण करना चाहिए और पाप-यक्ष्मा के पद पर उलूखल, शिलायन्त्र-भवन अर्थात् ओखली और चक्की के स्थान बनाने चाहिए ॥३२॥

राजयक्ष्मा मे लकड़ी के काम वाला घर कल्याणकारी होता है । वायु-दिशा मे रोग पद पर औषधियों का स्थान होना चाहिए । विद्वानो के द्वारा नागो का स्थान नाग के पद पर शुभ कहा गया है और मुख्य मे व्यायाम, नाट्य और चित्रो की शालाओं का विधान बताया गया है ॥३३-३४॥

भल्लाट-नामक पद मे गौवो का स्थान तथा क्षीर-गृह होने चाहिए । सौम्य के उत्तर-प्रदेश मे पुरोहित का स्थान कहा गया है । और च यहीं पर राजा का अभिषेचन-स्थान तथा दान, अध्ययन और शान्ति के स्थान भी विहित बताये गये है । भूधर अर्थात् नृप नाग के पद पर चामर तथा छत्र के घर एवं मन्त्र वेश्म भी प्रतिष्ठाप्य है और यहीं पर बैठ कर राजा को अपने अधिकारियों के कार्यों का निरीक्षण करना चाहिए । ३५-३७½॥

उत्तर भाग मे आश्रित घोड़ों की वाजि शाला होती है और वह महीधर के पद पर ही दक्षिणामुखी यथोचित रूप मे राज-प्रासाद के अनुरूप सर्वत्र वाजिशाला बनानी चाहिए । राजा अपने प्रासाद मे जब प्रवेश करता है तो दक्षिण मे वाजिशाला पड़नी चाहिए और वाम भाग मे गजशाला पड़नी चाहिए । चरक नामक पद मे राज पुत्रो के घरों का निर्माण करना चाहिए, और यहां पर इन लोगो की पाठशालाओं का निवेशन भी करना चाहिए । और च नृप की माता का निवेशन अदिति के स्थान मे करना चाहिए । यहीं पर पृथक स्थान पर पालकी और शय्या के घर अलग अलग कहे है ॥३७½—४१½॥

राजाओं के हाथियों की शालाओं का निर्माण आप पद पर उचित कहा गया है । यहीं पर गजो के अभिषेचनक स्थान विहित है ॥४१½—४२½॥

आपवत्स के पद पर हंस क्रौंच, सारस पक्षियों से वर्जित, और जहां पर

कमल-वन खिले हुए हैं, ऐसे स्वच्छ सलिल वाले तालावो का निर्माण करना चाहिए ॥४२½–४३½॥

चाचा, मामा आदि के घर दितिपद मे होना चाहिए।

राजा के अन्य सामन्त आदि ऊचे अधिकारियो के भी घर यही पर विहित हैं ॥४३½–४४½॥

ऐशानी दिशा मे अनल-स्थान पर ऊचे ऊचे खम्भो एव उत्तुङ्ग वेदिकाओ से युक्त अच्छी अच्छी मणियो से बने हुए सुन्दर देव-कुल का निर्माण करना चाहिये ॥४४½–४५½॥

पर्जन्य के पद पर ज्योतिषी का घर कहा गया है ॥४५॥

सेनापति को विजय देन वाले घर का निर्माण जयाभिध-पद पर करना चाहिए तथा इस भवन को अर्यमा के पद मे प्राकार-समाश्रित द्वार प्रशस्त कहा गया है। और यही पर पूर्वदक्षिणाभिमुखीन शास्त्र-कर्मान्त शास्त्र-भवन भी उचित है ॥४६–४७½॥

राज-प्रासाद-निवेश में इन्द्र-ध्वज-युत ब्रह्मा का स्थान किसी भी निवेश्य के लिये वर्जित बताया गया है। इसी स्थान पर केवल अशुभ वेश्मो का विधान है और यही पर असुखावह गवाक्ष एव स्तम्भ-शोभिनी शालाओ का भी विधान विहित है ॥४७½–४८॥

राज-प्रासाद की रक्षा के लिये यथादिक् प्रभवा सभा का निवेश बताया गया है। साथ ही साथ राज-प्रासादो के सम्मुख गजशालायें अनिवार्य हैं, अथवा पृष्ठ भाग मे भी विहित हैं ॥४९–५०½॥

इस प्रकार के शास्त्रानुकूल विधान के अनुसार देव प्रसाद तुल्य राज भवन का जो राजा अनुष्ठान करता है वह सप्तद्वीप सप्तसागर-पर्यन्ता मही का प्रशासन करता है तथा अपने पराक्रम से सभी शत्रुओ पर विजय प्राप्त करता है ॥५१॥

राज-गृह

१०८ कर अर्थात् हस्त वाला ज्येष्ठ, ९० हस्त वाला मध्यम ७० हस्त वाला निकृष्ट राज-वेश्म बताया गया है अत महान विभूति एव सम्पदा को चाहने वाला इससे हीन मान से राज-वेश्म का निर्माण न करावे ।।१–२½।।

क्षेत्र के चौकोर बना लेने पर, दश भागो मे विभाजित कर आदि कोण मे आश्रित दीवाल आध भाग मे कही गयी है ।।२½—३½।।

चार खम्भो से युक्त मध्य मे चार भाग वाले अलिन्द का निर्माण करे और बाहर का अलिन्द बारह खम्भो से आवृत निर्माण करे । तदनन्तर बीस श्रेष्ठ खभो से युक्त दूसरा अलिन्द होता है और तीसरा भी २८ खभो वाला होता है और ३६ खभो से चौथा अलिन्द विहित है । इस प्रकार से पृथ्वी-जय नामक राज-वेश्म मे १०० खभ विद्वानो के द्वारा बताये गये है ।।३½—६½।।

इस के चार दरवाजे होते है जो कि पञ्चशाख-द्वार विहित है । उसके चारो निर्गम (निकास) प्रत्येक दिशा मे होते है वे सब बराबर होते है । और इसी प्रकार से चारो दिशाओ मे भद्राओ का निवेशन विहित है ।।६½–७।।

बीच की दीवाल के आधे से तीनो भद्रा मे दीवाल होती है, प्रत्येक भद्र मे २८ २८ खम्भे कहे गये है ।।८।।

मुख भद्र वेदिकाओ और मत्तवारणो से युक्त कहा गया है । शेष भाग का उदय आदि भूमि के फलक तक कहा गया है ।।९।।

आदि भूमि की ऊंचाई के आधे मे इस का पीठ कल्पित होना चाहिए । नव भागो मे ऊंचाई करके एक भाग मे कुम्भिका बनानी चाहिए ।।१०।।

चारो भागो मे आठ अंश से युक्त स्तम्भ-निर्माण करना चाहिए, पाद युक्त एक भाग मे उत्कालक बनाना चाहिए ।।११।।

पाद-रहित भाग मे हीर-ग्रहण करना चाहिए । खम्भ से युक्त सपाद एक भाग का पट्ट निर्मेय है । पट्ट के आधे से जयन्तियो का निर्माण करना अभिप्रेत है । अन्य भूमियो पर यही क्रम है, परन्तु निर्मित भाग की ऊंचाई मे आधा छोड

दिया जाता है अर्थात् तलभूमि में ऊपर की भूमियों का ह्रास आवश्यक है। पञ्च भाग का प्रमाण वाला नवा तल सच्छाद्य होना है। वेदिका का नीचे का छाद्य साढे तीन भागों का प्रमाण वाला और वह कण्ठ से युक्त बनाना चाहिए जिससे वेदिका ढक जाए अथ च उस का कण्ठ बीच में डेढ भाग में बनाना चाहिए ॥१२–१५॥

वेदिका का विस्तार अर्धसप्तम भागों में करना चाहिए और वेदिका के ऊपर घण्टा साढे चौदह भाग में, पाद सहित दो भागों से कण्ठ, पाच से पट्ट, चार से दूसरा और फिर तीन से तीसरा शोभा के अनुसार इच्छानुसार वेश्म-शीर्ष देना चाहिए। क्षेत्र-भाग के बराबर चूलिका का कलश बनाना चाहिए ॥१६–१८॥

भूमि की ऊचाई के आधे से अन्तरावकाश में तल होना चाहिए और उसका सुशोभित पीठ जैसा अच्छा लगे वैसा बनाना चाहिए। इसकी खुर-वरण्डिका ढाई भाग से, जघा चार भाग से, उसके बाद छाद्य-प्रवृत्त करे ॥१९–२०॥

एक पाद कम दो भागों से छाद्य पिण्ड बताया गया है और इसके ऊपर हस नाम का निर्गम चार हाथ वाला बताया गया है ॥२१॥

उसके बाद दूसरा छाद्य एक पाद कम एक भाग से, प्रासाद की जघा चार भागों से प्रकल्पित करे ॥२२॥

चौथी भूमिका के सिर पर फिर मुण्डों का निवेश करे और शेष भूमिकाए क्षण-क्षण प्रवेश से बनानी चाहियें। पूर्वोक्त प्रकार से वर्णित क्रम से घण्टा सहित और कलशों से युक्त वेदिका होनी चाहिए और रेखाओं की शुद्धि से सब मुण्ड ठीक तरह से बनाना चाहिए ॥२३–२४॥

ऊचाई के आध के तीन भाग करके और फिर तीसरे भाग के दश भाग करें—वामन, आतपत्र, वृषेश, अमरावली, हसपृष्ठ, महायोगी, नारद, शम्बुक जय और दसवा अनन्त स्थपति मुण्ड की रेखाओं की प्रसिद्धि के लिए इन उदयों का निर्माण करें ॥२५–२७½ ॥

इस प्रकार अग्रवेदिका, जाल और मत्तवारणों से शोभित वितर्दिकाओं और निर्यूहों से युक्त चन्द्रशाला से विभूषित, कर्माढ्य और वह्नचित्र उस पृथ्वी-जय नाम का प्रासाद निर्माण करे ॥२७½–२८॥

जो बडे बडे प्रासाद कहे गये है वे बराबर ऊचाई वाले बनाने चाहियें। अवाक् कोण से ऊचाई के आधे से छोटे हो यह क्रम है ॥२९॥

आठ भाग से ऊचाई क्षेत्र-विस्तार युक्त दसरा प्रासाद कहा गया है। इसका नाम विभूषण (क्षोणी-विभूषण) है ॥३०॥

जिन मे बहुत से निकास हो उन मे आगन दिया जाता है। पहिली

रेखा अथवा दूसरी रेखा में या फिर तीसरी रेखा मे सम्वरण बनाये गये है। दश भाग वाले क्षेत्र में इस तरह से भूमि का उदय करना चाहिए। कम और अधिक विभक्त क्षेत्र होने पर यथोचित करना चाहिए ॥३१—३३½॥

अब क्रम-प्राप्त मुक्तकोण नामक प्रासाद का लक्षण कहा जाता है ॥३३॥

क्षेत्र के चौकोर कर लने पर द्वादश भागो मे विभाजित करने पर इस के मध्य भाग का चार खम्भो से विभूषित करना चाहिए, एक भाग से अलिन्द १२ खम्भों से युक्त होता है और इसी के समान दूसरा अलिन्द भी बीस, घरो से धारित कहा गया है। तीसरा अलिन्द २८ घरो से और चौथा अलिन्द ३६ से, ४४ घरो से पाचवा कहा गया है ॥३४–३७½॥

आधे भाग से दीवाल बनवावे, डेढ भाग का छोड़कर फिर तीन भाग करे। उस से प्राग्रीव का दैर्घ्य और विस्तार बनावे। इन के विस्तार और निर्गम एक भाग से भद्र का निर्माण करे। उसमे एक भाग छोड कर इस का दूसरा भद्र होता है। भाग निर्गम और विस्तार का सभी दिशाओं में यही क्रम है ॥३७½ ३९॥

५४ खम्भो से युक्त एक एक भद्र युक्त होना है और इस क मध्य मे १४४ खम्भ विहित है अथवा २१६ दोनो मिला कर इस प्रकार से सब घरो की सख्या ३६० (१४४+२१६=३६०) है। यहा पर शेष निर्माण पृथ्वी जय के समान ही दृष्ट होता है ॥४०–४२½॥

सम्पूर्ण निकासा मे तीसरी भमिका क ऊपर आगनो का निर्माण करना चाहिए। यह विशेष यहा पर फिर बता दिया गया है ॥४२½–४३½॥

इसी प्रकार सर्वतोभद्र सज्ञक तथा शत्रुमर्दन-सज्ञक राज वेश्म मे यही विधान करना चाहिए। और यही मण्डरेखा-प्रसिद्धि क लिए क्रम है ॥४३½–४४½॥

श्रीवत्स के भी मध्य म मुक्तकोण के समान स्तम्भ आदि प्रकल्पन करें। डेढ भाग को छोड कर तीन भागो से विस्तृत एक भाग से निकला हुआ इसका प्राग्रीव होता है और इस का भी मुक्तकोण के समान ही मध्य भद्र का विधान है। यह विधि सम्पूर्ण दिशाओं मे है। शेष पूर्ववत है। हर एक भद्र में ३० दृढ शुभ खम्भ होते हैं सब घरो की सख्या १२० होती है और इसी प्रकार से सब स्तम्भो की सख्या २६४ होती है ॥४४½–४८॥

सर्वतोभद्र नामक वेश्म का अब लक्षण कहते है। चौकोर क्षेत्र को १४ भागो मे विभाजित करने पर चार खभो से विभूषित और इसका चतुष्क एक भाग वाला कहा गया है और द्वादश खभो से युक्त प्रथम अलिन्द बीस से दूसरा

२८ स्तम्भो मे तीसरा, ३६ से चौथा, ४४ से पाचवा, ५२ मे छठा प्रलिन्द विहित है। सब ओर से सुदृढ और घन आधे भाग से दीवाल कही गयी है ॥४९—५३॥

डेढ भाग को छोड कर तीन भागो से विस्तृत कर्णों का प्राग्ग्रीवक विहित है और एक भाग मे निर्गम ॥ ५४ ॥

भाग निर्गम-विस्तृत इसका भी भद्र करना चाहिए। दो भागो से निकला हुआ मध्य मे भद्र बनाना चाहिए। इसका भी बीच मे तीन भागो से विस्तृत भद्र होना चाहिए। एक भाग से निर्गम अन्तर भाग से निर्गत कहा गया है। भाग-विस्तार से युक्त दूसरा भद्र प्रकल्पित करना चाहिए। भद्रो के प्रकल्पन मे यह विधान सब दिशाओ मे बताया गया है ॥५५-५७॥

इस राज-प्रासाद के मध्य भाग मे स्तम्भो की सख्या १९६ होनी चाहिए और इन सभी भद्रो मे १६० स्तम्भ होवे इस प्रकार सब स्तम्भो की सख्या ३५६ होती है। परन्तु इसकी जघा तीन भूमिकाओ वाली बतायी गई है ॥५८-६०½॥

शत्रु-मदन नामक राज वेश्म का अब लक्षण कहते हैं। पृथवी-जय के समान मध्य मे इसकी दीवाल उसी प्रकार होनी चाहिए। डेढ भाग को छोड कर एक भाग से आयत और विस्तृत और उस के बीच मे तीन भागो से विस्तृत भद्र बनावे और इसी प्रकार तीन भागो से निकला हुआ भद्र बनावे। दोनो ओर का भद्र आयति और विस्तार मे तीन भागो से विस्तार और एक भाग म निगम विहित है। वहा पर भी मध्य भद्र एक भाग से आयत और विस्तृत यही क्रम इस की सिद्धि के लिए सभी दिशाओ मे करनी चाहिए ॥६०½—६४॥

इसकी ऊपर की भूमिया पृथ्वी जय के समान ही करनी चाहिये और प्रति भद्र ४८ स्तम्भो से युक्त कहा गया है ॥६५॥

इसके मध्य म सब सुदृढ और शुभ खभे बनाये जाय। इस तरह इसके २७६ खभें होते हैं ॥६६॥

इन पाचो राज-भवनो का ८०० हाथो का उत्तम मान, उत्सध और विस्तार विहित है। अत कल्याण चाहने वाले के द्वारा यह मान सम्पादित किया जाना चाहिए। मध्यम एव अधम का मान पृथ्वी-जय म बता ही दिया गया है ॥६७—६८½॥

अब राजाओं के क्रीडा के लिए और पान भवन बताये जाते हैं। पहला है क्षोणी-विभूषण दूसरा पृथिवी तिलक तीसरा प्रताप वर्धन चौथा श्री-निवास और पाचवां लक्ष्मी-विलास। इस प्रकार से ये पाच राज-वेश्म वर्णित किये

गये हैं ॥६८३—७०१॥

क्षेत्र के चौकोर करने पर दश भागों में विभाजित कर मध्य में चार खम्भों वाला चतुष्क बनाना चाहिए। बाहर का अलिन्द एक भाग और अन्त में अग्र-त्रय से आयत, तीन भागों में विस्तृत कर्ण-प्रासादों का निर्माण करना चाहिए। उनके मध्य में षट दारुक होना चाहिए। आधे भाग के प्रमाण में युक्त दीवाल और उसका चतुष्क बहिर्भाग-निष्क्रान्त और भद्र में एक भाग से विस्तृत तीन प्राग्रीवों से युक्त और एक भाग के अलिन्द से वेष्टित और आधे भाग की भित्ति से वेष्टित होना है। इस प्रकार यह मनोहारी अवनि शखर (क्षोणी विभूषण) राज प्रासाद होता है। ७०३—७४॥

क्षत्र के चौकोर कर लेने पर १२ भागों में विभाजित कर मध्य में एक भाग से चतुष्क और दो भागों से बाहर के दो अलिन्द, कर्णों में नवकोष्ठक-प्रासादों का सन्निवेश करे और उनके अंदर षट्दारुक का सन्निवेश भी अनिवार्य है। तब बाहर सब तरफ आधे भाग से दीवाल बनानी चाहिए। भद्र में एक भाग से आयत चारों दिशाओं में भाग निष्क्रान्त होना चाहिए। और इस का चतुष्क एक भाग वाले अलिन्द से वेष्टित कहा गया है और इसकी तीन भद्रायें भाग विस्तार और निगम वाली बनाना चाहिए और वे आधे भाग की भित्ति से वेष्टित हों। ऐसा विधान है—कर्ण कर्ण में विस्तीर्ण भाग निर्गत २ भद्र चाहियें। इस प्रकार का राज-प्रासाद भुवन-तिलक नाम से सङ्कीर्तित किया गया है॥७५—८०३॥

क्षत्र को चौकोर कर लेने पर उस को १२ भागों में बांट देने पर चार खम्भों वाला चतुष्क मध्य में एक भाग से निर्मित कर और उसके बाहर वाला अलिन्द एक भाग से और दूसरा भी एक भाग से। कर्णों में नवकोष्ठक-प्रासादों का विनिवेश करें और उसके अन्दर षड्दारुकों का लगाव। उसके बाद बाहर सब तरफ आधे भाग से दीवार बनावें। भद्र में एक भाग से आयत भद्र विनिष्क्रान्त चार खंभों वाला चतुष्क होता है और वह एक भाग वाले दो अलिन्दों से परिवेष्टित होना है। तीन भागों से विस्तृत एक भाग विनिर्गत बाहर का भद्र होता है। दोनों तरफ ऐसे भद्र एक भाग से बराबर करने चाहिये और भद्र के चारों तरफ बाहर की आधे भाग से भित्ति कही गई है। चारों दिशाओं में इस प्रकार विधान कहा गया है और यह प्रासाद विलास-स्तवक के नाम से प्रसिद्ध है ॥८०१—८६॥

कर्ण के दो दो प्राग्रीव और शाला के दो प्राग्रीव जब इसके हों तो

इसका नाम कीर्ति पातक कहा गया है ॥ ८७ ॥

इसी की पीठ पर चारो तरफ आठ निर्मुक्त शालाओ मे परिवेष्टित एव शालायें एक दूसरे से सम्बन्द्ध कर्ण-प्रासादो से युक्त शालोद्भित कोनो से युक्त प्रासादो मे सुन्दर भुवन-मण्डन जानना चाहिए ॥८८—८६॥

तल-छन्द ये बताये गये, जो जघा, मवरण आदि और भूमि मान आदि सब पृथ्वी-जय के समान होते हैं ॥६०॥

अब क्षोणी-भूषण वेश्म का लक्षण कहता हू ॥ ६१½ ॥

५५ हाथो से कल्पित चौकोर भूमि को आठ भागो में विभक्त कर, चार खभो से युक्त चतुष्क बताया गया है और इसका अलिन्द पहला १२ खम्भो से और दूसरा २० और तीसरा २८ से युक्त होना है ॥६१½–६३ ॥

भित्ति के डेढ भाग को छोड कर एक भाग से निर्गत, पाच भाग स विस्तीर्ण भद्र कहा गया है और दूसरा मध्य भद्र भी तीन भागो से विस्तृत और एक भाग से निर्गत बनाना चाहिए। उसके आगे के भद्र एक भाग से विस्तृत और एक भाग से निर्गत कहे गये है। इस प्रकार से इसकी सिद्धि के लिए यह विधि सब दिशाओ मे बनायी गयी है। सारदारू से निर्मित एव १८ हाथ के प्रमाण से ६४ मध्य-स्तम्भो स युक्त प्रत्यक भद्र का निर्माण करे। इस तरह यहा पर सब जगह खभा की सख्या १३६ होती है। इसक चार दरवाजे करने चाहियें जो यश, लक्ष्मी और कीर्ति के वर्धन करने वाले होते हैं ॥६४—६८॥

अब पृथिवी-तिलक का लक्षण कहा जाता है। ४० हाथ वाले क्षत्र का तीन भागो मे विभक्त कर भीतर क चार खभो से भूषित एक भाग म चतुष्क और अलिन्द भी बारह खभो से युक्त एक भाग वाला होता है और दूसरा अलिन्द बीस से और इसकी भित्ति एक पाद वाली (पादिका) कर्ण मे तीन भागो स निर्गत आयत प्रासाद (कर्ण-प्रासाद) कहा गया है ॥६६-१०१॥

एक भाग निर्गत एव विस्तृत इसके दोनो भद्रो का निर्माण करना चाहिए। कर्ण और प्रासाद के मध्य मे पाच भागो से विस्तृत और एक भाग से निर्गत मध्य भद्र कहा गया है। तीन भाग से विस्तीर्ण एक भाग से निर्गत मध्य मे दूसरा भद्र बनाया गया है। इस प्रासाद के भीतर ३६ खभे और भद्रो पर २०८ खभे बताये गये हैं ॥१०२—१०४॥

अब इसके बाद श्रीनिवास का लक्षण कहता हू। इसका मध्य पृथ्वी-तिलक के समान परिकल्पित किया गया है। सपाद भाग छोड कर तीन भाग से विस्तृत, एक भाग से निर्गत इसका पहला भद्र होना है। उस के भी मध्य

भाग वाला दूसरा भद्र एक भाग से निगत व विस्तृत, सुदृढ़ दश खभो से युक्त कहा गया है। सभी दिशाओ मे इसी प्रकार की भद्र-कल्पना की जानी चाहिए। इकट्ठी सख्या म इसके ७६ खम्भें होते हैं ॥ १०५—१०८ ॥

अब इसके बाद प्रताप-वधन का लक्षण कहा जाता है। साढे अट्ठाईस हाथो मे विभक्त होने पर मध्य मे चार धरो (खम्भा) से सम्पन्न और भागैकविहित चतष्क और इसका अलिन्द १० खभो से युक्त एव भागैकविहित बताया गया है। इसकी भित्ति पादिका होती है और इसका भद्र भाग–निगम-विस्तार वाला चार स्तम्भो से भषित होता है। इसकी सिद्धि के लिए समग्र दिशाओ में यही विधि करनी चाहिए। बाहर भीतर के ३२ स्तम्भ कहे गये हैं और सभी धरो (खभा) की गणना ६४ कही गयी है ॥१०६—११३½ ॥

अब लक्ष्मी-विलास का ठीक तरह से लक्षण कहता हू। प्रताप वधन की तरह ही इसका मध्य प्रकल्पित करे। प्रताप वधन के समान ही सब तरह मे यह कहा गया है। परन्तु इसके भद्र के कोना मे ही पाश्व-भद्र करना चाहिए और दोनो पार्श्वों मे भी भद्रो का सन्निवेश कहा गया है। इन भद्रो का निगम एक भाग का होना है–यह विशेष कहा गया है। इसका भद्र १० खम्भा मे और मध्य भद्र १६ धरो मे विहित बताया गया है। चारो दरवाज़े इच्छानुसार क्षणम-ध्यग और अपने पद मे सुशोभित दसरा दरवाजा बनावे ॥११३½—११७ ॥

अब विशेष उल्लेखनीय विधि यह है कि साढे छै भमिया मे क्षोणी-भूषण का निर्माण करें और पवित्र तिलक-सज्ञक वेश्म साढे आठ भूमिया म, श्रीनिवास साढे पाच भूमियो म लक्ष्मी-विलास भी साढे पाच भमियो मे तथा प्रताप-वधन साढे चार भूमियो मे विनिर्मेय है। ११५-१२०½ ॥

राजाओ क पथ्वी-जय आदि निवास-भवन और भोगी-विभूषण आदि विलास-भवन जो राजाओ के निवास और विलास क लिए कहे गये है उन पृथ्वी-जय आदि राज-वश्मा के दरवाजा का अब मान कहा जाता है ॥ १२०½—१२०½ ॥

५८ अगुल सहित तीन हाथ से विस्तत द्वार का उदय अर्थात ऊचाई कही गयी है, उसके आधे म उसका विस्तार और उसके उदय के तीसरे भाग म खभा का पिण्ड कहा गया है ॥ १२०½-१२३ ॥

सपाद, सचतुष्कर, सत्ताइसवा गृह भाग राज वेश्मो की पहिली भूमि कही गयी है ॥ १२४ ॥

भूमि की ऊचाई के नौ भाग म विभक्त करने पर उसके चार अशो मे निगम

दो अंशों में छाद्यक और पाद क्रम से ऊंचाई विहित बतायी गयी है ॥ १२५ ॥

इसी प्रकार से भीतर की जमीन छाद्यक-उच्छ्राय-निगत हर्गीग्रहण-पिण्डाग्र-बाहुल्य करने पर वह प्रशस्त होती है। उसका अपना ही बाहुल्य पादक्रम विस्तृत कहा गया है। अन्तरावणिका के समान मदला का विनिर्गम बनाया गया है। अपने निगम से उनकी पाद-सहित ऊंचाई होती है और इसकी भूमि की ऊंचाई के नवें भाग के पाद से इसका पिण्ड इष्ट होता है। तीन भाग से कम भूमि के नौ अंशों से मदला का विस्तार कहा गया है। लुमा-मूल का विस्तार खभा का आधा कहा गया है। वह तीन अंश से अग्रभाग में विस्तीर्ण और आठ से मूल मे विहित बतायी है ॥ १२६-१३०½ ॥

मनीषियो ने तुम्बिनी, लुम्बिनी, हेला, शान्ता कोला मनोरमा तथा आध्माता—ये सात लुमायें बताई है। उनमें से तुम्बिनी सीधी होती है और आध्माता कर्णगा बताई गयी है। क्रमश अन्तराल में पाच अन्य लुमायें कही गयी है ॥१३०½ १३२½॥

स्तम्भ मे हाथ धरने के लिए दृढ शुभ मदला रक्खे। स्तम्भ के अभाव में फिर उसके कुड्य-पट्ट पर बुद्धिमान रक्खे। मल्ल-नामक छाद्य में सात अथवा पाच या तीन लुमायें कही गयी है। इनके कोनों में इन के अलावा अन्य प्राजल और सम बनानी चाहियें। छाद्य मे कर्णो मे कहीं कहीं उनको मत्स्य-आनन-अलङ्करण से विभूषित बनाना चाहिए। य शिखावरों मे युता और कही पर गजतुण्डिका-युता (सूड वाली) बनाना चाहिए ॥१३२½—१३५½॥

इस सकुम्भिक-स्तम्भ का उदय तीन प्रकार से विभाजित कर उस मे दो भागों को आधे आधे चार भाग करे। वहा पर पादक्रम भाग से राजितासनक अलकृत होता है और उसके बाद उत्कालक-सहित सालभजिका वही विनिर्मित होती है ॥१३५½—१३७½॥

यहा पर कूटागार के तुल्य अगाध से आसन-पट्टक बनाना चाहिए। वह अभीष्ट विस्तार वाला एक भाग से ऊंचा मत्तवारण होता है और अपने उदय के तीसरे भाग से इसका निगम होता है ॥१३७½-१३८॥

रूपकों से और करण आदि और सुपुत्रों से भी सुशोभित इस का सुदर पत्रों से निचित वेदिका आदि शुभ होती है और उसका लोह की शलाको और नालों मे दृढ कर देना चाहिए ॥१३६ १४०½॥

इन निरूपित पृथ्वी-जय-प्रभृति १६ राज -निवेशनो के जो स्थपति लक्षण सहित परिमाण जानता है, वह राजा के सन्तोष का भाजन बनता है ॥१४१॥

राज-निवेश-उपकरण

१ सभाष्टक
२ गज-शाला
३ अश्व-शाला
४ नृपायतन

सभाष्टक—आठ सभा-भवन

आठ प्रकार की सभाये (सभा भवन) होती है—नन्दा, जया, पूर्णा, भाविना दक्षा प्रवरा और विदुरा ।।१।।

क्षेत्र को चौकोर कर, सोलह भागो मे विभाजित कर मध्य म चार पद हो और सीमालिन्द एक भाग वाला हो । उसी प्रकार आदि का आलिन्द और उसी प्रकार प्रतिसर नामक अलिन्द भी विहित है । और प्राग्रीव नामक तीसरा अलिन्द क्षेत्र के बाहर चारो दिशाओ म होना चाहिए ।।२—३।।

राज भवन की चारो दिशाओ मे सभा भवन बनाने चाहिये । क्रमश तब नन्दा भद्रा जया पूर्णा य सभाये होती है ।।४।।

क्षेत्र को षड भागो म विभाजित करने पर कर्ण-भित्ति का निवेशन करे तो प्राग्रीव वाली भाविना नाम की पाचवी सभा होती है । इन पाचो सभाओ म ३६ खम्भो का निवशन करे और प्राग्रीव से सम्बन्धित खम्भो को इन से अलग अलग विनिवेशित करे ।। ५—६ ।।

दक्षा नाम वाली छठी सभा चारो तरफ से तृतीय अलिन्द से वेष्टित कही गयी है और प्रवरा नाम की सातवी यह सभा द्वारा से युक्त परिकीर्तित की गयी है । प्राग्रीव और द्वार स युक्त आठवी विदुरा नाम की सभा कही गयी है । इस तरह इन आठो सभाओ का लक्षण बताया गया है ।। ७—८ ।।

इस प्रकार स आठो सभाओ का ठीक तरह स दिशा-सम्बन्धित अलिन्द-भेद से लक्षण बताया गया है । उसी प्रकार से द्वार और अलिन्द के सयोग के जानने पर राजाओ का स्थान-योग भी सम्पादित होता है ।। ९ ।।

गज-शाला

अब गज-शालाओं का लक्षण कहता हूं ॥१॥

चौकोर क्षेत्र बना कर फिर आठ भागों से विभक्त कर मध्य में दो भागों से विस्तृत हाथी का स्थान बनावे। प्रासाद के समान क्रमश ज्येष्ठ, मध्यम और अधम गजशालाओं के भागों का प्रकल्पन करे ॥१—२॥

उसके बाहर एक भाग में अलिन्द और उसके भी बाहर दूसरा अलिन्द, एक भाग में भित्ति का निर्माण भी दूसरे अलिन्द से बाहर करना चाहिये ॥३॥

उस गजशाला के दरवाजे पर दो कपोतों का निर्माण करना चाहिये और दूसरे अलिन्द के सहारे कर्ण-प्रामाणिका का निर्माण करना चाहिए ॥४॥

दीवाल में चारों दिशाओं में दो दो गवाक्षों का निर्माण करना चाहिए। अग्रभाग में प्राग्रीव होना चाहिए। इस शाला का नाम सुभद्रा बताया गया है ॥५॥

जब इसी शाला के सामने दो पक्ष-प्राग्रीव होते हैं, तब इस शाला का नंदिनी नाम चरितार्थ होता है। यह हाथियों की वृद्धि के लिये शुभ कही गयी है ॥६॥

इसी शाला के दोनों तरफ जब दोनों प्राग्रीवों का सन्निवेश किया जाता है तो गज-शाला का यह तीसरा भेद सुभोगदा नाम से परिकीर्तित किया जाता है ॥७॥

इसी शाला के पीछे जब दूसरा प्राग्रीव निर्माण किया जाता है तो गजशाला का यह चौथा भेद हाथियों को पुष्टि देने वाली भद्रिका नाम से विख्यात होती है ॥८॥

पांचवी गज-शाला चौकोर होती है और वह वर्धिणी नाम से कीर्तित होती है। इसके अतिरिक्त छठी गजशाला प्राग्रीव, अलिन्द, नियूह से हीन बतायी गयी है। धान्य, धन और जीवन का अपहरण करने वाली, यह प्रमाणिका नाम की शाला होती है। इस लिए इस का वर्जन किया गया है और अन्य सब गज-शालाओं का सकल मनोरथ-सम्पादन के लिए निर्माण करना चाहिए ॥९—१०॥

—

वास्तु-शास्त्र मे इस प्रमारिका नाम की जो शाला कही गई है वह जीवन, धन और धान्य के नाश का कारण होती है। इस लिए उसको न बनाए और जो श्रेष्ठ शालायें कही गई है उनको जीवन और धन की वृद्धि के लिए अवश्य बनावें ॥११॥

—

अश्व-शाला

अब अश्व-शाला का लक्षण विस्तार-पूर्वक कहता हूं। अपने घर की वास्तु अर्थात् राज प्रासाद के गन्धर्व-संज्ञक पद में अथवा पुष्पदन्त-संज्ञक पद में घोड़ों के रहने के लिए स्थान बनावे ॥१–२½॥

ज्येष्ठा शाला सौ अंगुलियों (हाथों) के प्रमाण की, मध्यम ८० और अधम ६० की कही गई है ॥२½–३½॥

सुपरिस्कृत प्रदेश से मांगलिक स्थान पर घोड़ों का शुभ स्थान बनाना चाहिए। यह प्रदेश ऐसा हो जिसका स्थल-प्रदेश अर्थात् मैदान काफी बड़ा हो वह स्थान गुप्त हो, सुन्दर और शुचि होना चाहिए, बराबर चौकोर, और स्थिर भी विहित है ॥३½—४॥

नीचे के गुल्म अर्थात् क्षुद्र झाड़ियों और सूखे वृक्षों, चैत्य और मन्दिर तथा बावी और पत्थरों से वर्जित प्रदेश में घोड़ों के स्थान का सन्निवेश करे।

निस्संग, कांटों से रहित (शल्य-हीन) पूर्वाभिमुख जल-सम्पन्न प्रदेश में ठीक तरह से देखदाख कर उसका निर्माण करे ॥५-६॥

ब्राह्मणों के द्वारा बनाये गये किसी शुभ दिन स्थपतियों के साथ भूमि के विभाग को देख कर सुभग एवं शुभ वृक्षों को लाना चाहिए जिनकी लकड़ी से अश्व शाला के सभार प्रतिष्ठाप्य होंगे। ऐसे वृक्ष नहीं लाने चाहियें जो श्मशानों में, देवतायतनों में अथवा अन्य निषिद्ध स्थानों में उत्पन्न हुए हों ॥७—८॥

गृह-स्वामी के घर के समीप प्रशस्त वृक्षों को लाकर फिर प्रशस्त और अप्रशस्त भूमि की परीक्षा करे ॥९॥

श्मशानों में, बांबी प्रदेशों में, ग्रामों में और धान्य के कूटन खल स्थलों में और विहार-स्थानों में घोड़ों का निवेशन-स्थान नहीं बनाना चाहिए ॥१०॥

गावों में और धान्यखला में अश्व-शाला के निवेशन करने से स्वामी को पीड़ायें प्राप्त होती हैं। श्मशान में वाजि-वेश्म-निवेशन से मनुष्यों की मृत्यु कही गयी है ॥११॥

विहारों और वल्मीकों में बनाया गया अश्व-स्थान अनर्थकारी, तथा

तपस्वियों के लिए नित्य सताप-कारी और विनाश कारी होना है ॥१२॥

चैत्य मे उत्पन्न होने वाले वृक्षा के द्वारा निर्मित वाजि सदन देवोपघात का जन्म करने वाला, स्त्रियो का नाश करने वाला और भूता का भय देन वाला होना है ॥१३॥

काटे वाले पेडो मे विहित होने पर स्वामी के लिए रोग-कारक होना है। फटी हुई और उन्नत जमीन पर करने स वह क्षयावह होनी है ॥१४॥

नीची भूमि मे बनाया गया वाजि-मन्दिर क्षुधा और भय का कारण कहा गया है। इस लिए उसको प्रशस्त भूमि मे घोडा की वृद्धि के लिए करना चाहिए ॥१५॥

शुभ और रमणीय मनोज्ञ और चौकोर स्थान मे बनाया गया वाजि-सदन सदा कल्याण कारक होना है। स्थपति वाजियो का निवेशन इस प्रकार करे कि मालिक के निकलने पर उसके वाम पार्श्व मे घोडे हो। अन्त पुर-प्रदेश (रनिवास) के दक्षिण भाग पर उसका निर्माण करना चाहिए जिस से राजा के अन्त पुर मे प्रवेश करने पर दाए तरफ उनका हिनहिनाना सुनाई पडे ॥१६–१८॥

स्वामी के हित के लिए घोडो की शाला उचित करनी चाहिए और उस का मुख (दरवाजा) तोरण सहित पूर्व की ओर या उत्तर की ओर बनावे। १६॥

प्राग्रीव से युक्त चार शालाओ वाला और खुला हुआ दश अरत्नि ऊचा और आठ अरत्नि विस्तृत, नागदन्तो (खूटियो) से शोभित सामने आधी कडय से युक्त हो, वहा पर इस प्रकार के वाजि स्थान की कल्पना करे और वहा पर घोडो के थाने बनाने चाहिए जो पूर्व मुख हो अथवा उत्तर-मुख हो। आयाम मे एक किष्कु और विस्तार मे तीन किष्कु ॥२० २२॥

उनके उपर के भागो को लम्बे ऊँचे और चौकोर बनाना चाहिए। उन मे आगे से ऊँची सुख-सचार भूमि की प्रकल्पना करे। सूत्र के मध्य-भाग मे एक हाथ स्थान चारो तरफ मजबूत, बराबर चिकन और घन फलको से बिछा दे। ॥२३—२४॥

धातकी, अर्जुन, पुन्नाग, कुकुम आदि वृक्षा से विनिर्मित आठ अगुल ऊँचे आधे आधे हाथ विस्तृत बिना छेद वाले दोनो पार्श्वों पर लोहे से बद्ध और सघन जन्तु-रहित लकडियो से शुभ नियहो से खूब विस्तीर्ण घास अथवा भूसे का स्थान होना चाहिए। वह एकान्त मे सुसमाहित और तीन किष्कुओ से ऊँचा होवे ॥२५—२७॥

खाने की नाद दो हाथा के प्रमाण की बनानी चाहिए। यह विस्तार और ऊँचाई मे बराबर, बिना दुर्गन्ध और सुपरिष्फ्त होना चाहिए ॥२८॥

घोडो के पीछे से क्रमश पश्चिम दिशा की तरफ जाता है। कल्याणार्थियो को घोडो का पूर्व-मुख स्नान, सजावट (अधिवासन), पूजा तथा अन्य श्रेष्ठ मागलिक कार्य करने चाहियें ॥४५-४६॥

ऐसा करने पर राजा को भूमि, सेना, मित्र और यश वृद्धि को प्राप्त होते है। इसलिए प्राची दिशा ही प्रशस्त कही गयी है ॥४७॥

वाछित अर्थ को देने वाला स्वामी की वृद्धि करने वाला ग्राम का स्थान दक्षिणाभिमुख शाला मे विहित है। सूर्य के पद मे बनाया गया घोडा का स्थान होता है क्योकि वह दिशा अग्नि से अधिष्ठित कही गयी है और अग्नि घोडो की आत्मा कही गयी है। वहा पर बधा हुआ घोडा अजर और बहुभोक्ता होता है और उत्तर मुख वाले वाजि मदन मे भी घोडे कल्याण प्राप्त करते है। इस प्रकार से घोडो के स्थित होने पर सूर्य दहिने उदय होता है फिर उन को दहिने करके अस्त होता है। घोडो के वाम भाग से निकलता है। इसलिए उनको उत्तराभिमुख स्थापित करना चाहिये। उनको इस प्रकार से बाधे जिस से चन्द्र और सूर्य के सम्मुख हिनहिनाये। राजा जय, सिद्धि, पुत्र और आयु को प्राप्त करता है और अश्व नीरोग रहते है और सन्तति का बढाते है ॥४८-५३॥

दक्षिणाभिमुख उनको कभी न करे क्योकि दक्षिण दिशा पितृ कार्य के लिए कही गयी है। अत वह इस काम के लिए वर्जित है। इसी दिशा मे सब प्रेत प्रतिष्ठित है और सूर्य बाये से उदय होता है और दक्षिण मे अस्त होता है ॥ ५४-५५ ॥

चन्द्रमा पीछे हो जाता है जिससे घोडे देव-पीडा से पीडित होते है और विविध ग्रहो के विकारो से अरति-विह्वल व बेचारे पीडित होते है। भय और व्याधियो से दुखित वे घास को नही खाने की इच्छा करते है और मालिक की पराजय, असन्तुष्टि अनर्थ उपस्थित करते है इसलिए कभी भी उनको दक्षिणाभिमुख न बाधे ॥५६-५८॥

पश्चिम दिशा मे अर्थात पश्चिमाभिमुख घोडो को बाधने पर सदैव सूर्य पृष्ठ-भाग मे उदय होता है और सामने से अस्त होता है। इस तरह तत्-पृष्ठ-वर्ती स्वामी की विजय नहीं होती और इन्द्र के पृष्ठ-वर्ती होने के कारण और सूर्य की प्रतिकूल दिशा होने के कारण देह को विनाश करने वाली व्याधिया उन घोडो के लिए शीघ्र ही कुपित होती है। उन से वे घोडे घबराते हैं कापते है, और जल मे डरते है और घास को नही खाते है और सब प्रकार से पृथ्वी

भेषजागार के पास अरिष्ट-मन्दिर बनवाना चाहिए। रोगी घोड़ो के लिए व्याधित-भवन भी बनाने चाहियें ॥ ७७ ॥

ये चारो वेश्म पूर्व-निर्दिष्ट वेश्म के समान सुगुप्त एवं सम्बद्ध विहित करें। चूने के बंध से मजबूत दीवालो मे प्राग्रीव और उच्च तोरण के सहित व चारो विशाल (बिना शाला) और सुगम बनवावें और इस प्रकार के वेश्मो मे घोडा को स्थापित कर उनका परिपालन करे ॥ ७८–८०½ ॥

आयतन-निवेश

यहां पर आयतन का अर्थ सम्भवत छोटा मन्दिर या छोटा राज-प्रासाद है। इस प्रकार से राज-प्रासाद के कर लेने पर अथवा भूमि के क्लृप्त होने पर अनुजीवी यदि देव-प्रासादो पर अपने प्रासादों का नृप-प्रासाद की परिधि मे निर्माण करना है तब उन के दिग्भाग, विन्यास, स्थान एव मान का क्रमश सब लोगो की वृद्धि के लिए वर्णन किया जाता है ॥१–२॥

राजाओ के आयतन के श्रेष्ठ, मध्यम और अधम तीन भेद होते हैं। इन तीनो आयतनो का क्रमश मान दश-शत चाप, अष्ट-शत चाप तथा षट्-शत चाप होता है ॥३॥

इस प्रकार राजा के आयतन के चारो ओर चौकोर क्षेत्र बना कर वहा पर स्वामि-वत्सल वीर अपने तीन प्रकार के आयतन बना सकते हैं। राजा के जो लोग सम्मत हैं और वृद्ध हितैषी लोग हैं अथवा जो कुल म पैदा हुए हैं तो अनुजीवियो के आयतनो का क्रमश १२ अश से हीन प्रमाण से निर्माण करना चाहिए ॥४–५॥

उसी के वाम भाग पर दुगुने उत्सेध एव दुगुने अन्तर से दश अश से हीन प्रमाण मे नैर्ऋत्य दिशा मे राजा के प्रासादो को तथा राजा की सब पत्नियो के प्रासादो का विन्न एव विद्वान निवेश करें ॥६–७½॥

पश्चिम दिशा मे आठ भाग मे हीन श्वसुरो के आयतन बनवाने चाहियें, पुन सौम्य दिशा मे वायव्य-कोण की ओर क्रमश ६ अश से हीन मन्त्री, सेनाध्यक्ष, प्रतीहार और पुरोहित–इन सब के प्रासाद क्रमश बनाने चाहिए। इन्ही के पूर्व-भाग मे स्थित राज-माता का निवेश करना चाहिए और वह ग्यारह अश से हीन बनवाना चाहिए ॥७½-१०½॥

ईशान दिशा का अवलम्बन कर के एन्द्र पद की अवधि तक देवो के समान बहिनो मामा लोगो और कुमारो के क्रमश, आयतन बनाने चाहिए। आग्नेय कोण मे द्विज-मुख्यो के निवसन बनाना चाहियें। पुरोहित का प्रासाद राज-मन्दिर से

दक्षिण दिशा में आठ अंश-हीन बनाना चाहिए ।।१०½–१२।।

सामन्तों, हस्तिपकों, भटों और परिजनों के क्रमश आयतनों का यथाभाग निर्माण करना चाहिए । मर्मवेध-प्रदेश-स्थित अथवा द्वार-वेध-स्थित और स्वस्थ नान्तरित आयतनों का निर्माण हित-कामना रखने वाले व्यक्ति को नहीं बनवाना चाहिए ।।१३ १४।।

अलिन्दों के द्वारा, गर्भ-कोष्ठा के द्वारा, सीमा के स्तम्भ और गवाक्षों के द्वारा द्वार-द्रव्य के तल की ऊचाईया प्राग्रीवों सिंहकर्णों एवं भूषणों के द्वारा उन को नहीं करना चाहिए, क्योंकि जो सम-हर्म्य होगा वही सुखदायक । इस के आधिक्य मे राज-पीडा और कुल-क्षय होता है ।।१५–१७½।।

जा नियुक्त होगा वह आनन्द नहीं दे सकता । राजा के प्रासाद की परिधि में स्थित किसी भी निवेश को किसी भी द्रव्य से उत्कृष्ट नहीं करना चाहिए । अत उसका सस्थान मान, विस्तार और ऊचाई मे भी उत्कृष्ट नहीं करना चाहिए ।।१७½-१८।।

पूर्वोक्त भागों से कुछ कम शुभ कहलाता है । पारस्परिक अन्तर दुगुने छाद्य से शुभ कहा गया है और बहुत से भवनान्तरों से उसको सुभोग्य बनाना चाहिए। कोष्ठिकाओं (कोठरिया), भोजनागार (रसोई) तथा भाण्डागार (वतन रखने के स्थान) उपस्करागार (वस्तुओं को रखने के स्थान) से यह सुभोग्य होता है । ।।१९-२०।।

अन्य अवशेष स्थानो की भी यही क्रिया है । शालाओं से पूर्ण कर देना चाहिए । शुभ रूप, मनोरम तथा प्रशस्त सब प्रासादों को बनाना चाहिए ।।२१।।

प्राय राजा के आयतन के निवश से अपने अन्य आलयो का और सब के अन्य गहो का निर्माण करना चाहिए, अन्यथा विपरीताचरण से और उलट-फेर से कुल-नाश और महादोष उपस्थित होने है ।।२२–२३½।।

इस प्रकार से प्रतिपादित दिशाओं आदि के भेद-योग से जिस राजा के सुर-भवन होते है वह अविरत-मुदित उदित-प्रताप वाला अपने प्रताप से जीती हुई इस पृथ्वी को बहुत काल तक शासित करता है ।।२३½–२४।।

तृतीय पटल

शयनासन

शयनासन-लक्षण

अब शयनासन लक्षण कहूँगा जिस से शुभ और अशुभ का परिज्ञान हो जावे ॥१॥

शय्या मेंत मुहूर्त में चन्द्रमा के पुष्य नक्षत्र में स्थित होने पर शुभ दिन देवताओं का सम्यक् पूजन करके कर्म का आरम्भ समाचरित करे ॥२॥

शयनासन निर्माण में चन्दन तिनिश अर्जुन, तिन्दुक, सार और साक, सिरीष, आसन धनु हरिद्र देवदारु स्यन्दन और, पद्मक, श्रीपर्णी शिंशपा और भी जो शुभ वृक्ष हैं, वे प्रशस्त कहे गए हैं ॥३–४॥

गृह-कर्म में जो अनिष्ट वृक्ष कहे गये हैं, वे शयनासन में भी निन्दित हैं। सोने से, चादी से या हाथी दान से जड़ी हुई, पीतल से नद्ध शय्याएं शुभ कही गई है। विचक्षणों के द्वारा इनका निर्माण कराया जाना चाहिए ॥५–६½॥

जब शयनासन के लिए लकड़ी काटने के लिये प्रस्थान करें तो पहिले निमित्तों को देखें। दधि, अक्षत से भरा हुआ घड़ा, रत्न अथवा पुष्प, सुगंधित द्रव्य, वस्त्रादि, मछली, घोड़ों का जोड़ा, मत्त हाथी और अन्य इसी प्रकार के शुभों को देख कर शुभ का आदेश करना चाहिए ॥६½—८॥

वितुष आठ यवों से कम का अंगुल समुद्दिष्ट किया गया है। इस तरह १०८ अंगुलों की ज्येष्ठ शय्या राजाओं के लिए कही गयी है ॥९॥

१०४ अंगुलों की राजाओं की मध्यम शय्या कहलाती है और कनिष्ठ शय्या १०० अंगुलों की राजाओं के लिए विजयावह बनाई गई है ॥१०॥

राजा के लड़के की ९० अंगुल की, मन्त्री की ८४ की, सेनापति की ७८ की और पुरोहित की ७२ की शय्या विहित है ॥११॥

शय्याओं में आयाम के आधे से भद्र विस्तार कहा गया है अथवा आठ भाग से अथवा छठे भाग से अधिक ॥१२॥

ब्राह्मणों की शय्या ७० अंगुल दीर्घ होनी चाहिए और दो दो अंगुलों से शेष हीन वर्णों की ॥१३॥

उत्तम शयनासन के उत्सेध का बाहुल्य तीन अंगुल होना चाहिए, तथा मध्य का ढाई और कनिष्ठ का दो ॥१४॥

ईसा-दण्ड का बाहुल्य उत्पल के बराबर होना चाहिये और उस का विस्तार उत्पल से आधा, चौथाई अथवा एक तिहाई होता है ॥१५॥

शय्या के आधे विस्तार से कुक्ष्य का विस्तार होता है और उस के पायों की ऊंचाई मध्य से हीन दो चार छोड़ कर विहित है (मध्यहीनौ द्विचतुर्विभक्तौ) ॥१६॥

मध्य-विस्तार के आधे से मध्य में बाहुल्य इष्ट है। कोई लोग तीन भाग से हीन, अथवा एक पाद से हीन उसे चाहते हैं ॥१७॥

नीचे के शीर्ष से पाये की मोटाई उत्पल के समान होती है। मध्य में एक चौथाई अथवा आधी क्रमशः तल में वृद्धि होती है ॥१८॥

अन्य विवरण भी शास्त्रानुकूल विहित है ॥१९॥

उत्सेध के समान दो अंगुल से अधिक विस्तार करना चाहिए और उसे पत्तों, कलियों, पत्रपुटों और ग्रास से भूषित करना चाहिए ॥२०॥

चारों ओर शय्या के अंग प्रदक्षिणाग्र करने चाहिए। ऊर्ध्वाग्र सब पाद स्वामी की वृद्धि के लिये होते हैं ॥२१॥

एक ही द्रव्य से उत्पन्न होने वाली अर्थात् निर्मित शय्या श्रेष्ठ कहलाती है और मिश्र द्रव्य वाली प्रशस्त नहीं कही गई है। एक लकड़ी वाली प्रशंसित होती है और दो लकड़ी वाली भयजनक होती है ॥२२॥

तीन लकड़ी से बनी होने पर निधन ही वध है। इस लिये ऐसी शय्या का वर्जन करना चाहिए ॥२३॥

अग्र भाग से युक्त मूल और बाएं हाथ से युक्त निन्दित कहा गया है। अथवा मूल मूलविद्ध एवं एकाग्र में दो लकड़ियां होती हैं यह भी वर्ज्य है॥२४॥

मध्य में अगर छेद हो तो मृत्यु-कारक, त्रिभाग में व्याधिकारक और चतुर्भाग में क्लेश और सिर में स्थित द्रव्य-हानि-कारक होता है ॥२५॥

निर्दोष अंग वाले पर्यङ्क में पाप-स्वप्न नहीं दिखाई पड़ता है। इस लिये गांठ और कोटर वाला शयनासन नहीं बनाना चाहिए ॥२६॥

आसन और शयनीय गांठों एवं कोटरों से वर्जित होने पर बहुपुत्र देने वाला और धर्म, काम और अर्थ का साधने वाला कहा गया है ॥२७॥

खाट पर आरोहण करने पर यदि वह चलायमान होती है अथवा कांपती है तो क्रमशः विदेश-गमन अथवा कलह प्राप्त होते हैं ॥२८॥

इस लिये उनको स्पर्शनि सुश्लिष्ट, निर्दोष वर्णशालिनी, दृढ स्थिर

बनाये । ऐसा करने पर स्वामी की मनोरथ-वृद्धि होती है ॥२६॥

निष्कुट, कोलदृक, क्रोडनयन, वत्सनाभक, कालक और बधक ये संक्षेप में छिद्र कहे गये हैं ॥३०॥

मध्य में घट के समान सुषिर तथा मकरा मुख वाला निष्कुट नाम से कहा जाता है। कोलाक्ष उडद के निकलने लायक छिद्र होता है ॥३१॥

आधे आधे पोर से दीर्घ, विवर्ण और विषम छिद्र को महर्षियों ने क्रोडनयन कहा है ॥३२॥

पवमित भिन्न वामावर्त वत्सनाभक कहलाता है। कृष्ण कान्ति वाला कालक तथा विनिर्भिन्न बधक कहा गया है ॥३३॥

लकडी के वर्ण वाला छिद्र शुभकर नहीं होता है। निष्कुट में अर्थ का नाश, कोलदृक में कुल विग्रह, क्रोड-नयन में शस्त्र से भय, वत्सनाभक में रोग से भय और कालक में, बधक में—इन दोनों के कीट विद्ध होने पर शुभ नहीं होता ॥३४-३५॥

वह सब लकडी जिस में सब जगह बहुत अधिक गाठे होती है वह अनिष्ट-दायक कही गई है ॥३६½॥

आसन—शय्या के लिए कही गई लकडियों से निर्मित आसन बैठने में सुख-दायक परिकल्पित किया गया है। उसका पुष्कर और मृदङ्ग चार चार अगुल से गोल होना चाहिए। विस्तार से आरम्भ करे जब तक नौ अगुल न हो जाए। पुष्कर के व्यास में उसका चौगुना दण्ड बनाना चाहिए ॥३६½-३८॥

पुष्कर के आधे से फलक और उसके समान मूलक-दण्ड और पुष्कर के विस्तार से चार अंश मोटा बनाना चाहिए ॥३६॥

पुष्कर का अन्तर्भाग खुदा हुआ गम्भीर इष्ट है। प्रशस्त सार नामक लकडी से इस का निर्माण करे ॥ ४० ॥

अब अब फर्नीचरों का वर्णन करता हूँ।

कंघे—कंघा बडा ही चिकना बनाना चाहिए और उस चिकने तना वाली लकडी से बनाना चाहिए। इसकी लम्बाई ८ अगुल से १२ अगुल होनी चाहिए। इस का विस्तार लम्बाई से आधा अगुल सहित ८ भाग होना है ॥४१-४२॥

उसके मध्य में विस्तार के आठवें अंश से बाहुल्य कहा गया है और उस के एक में स्थूल विस्तार वाले दन्तक कहे गये हैं। दूसरे से आग की तरफ घन, सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण दन्तकों का निर्माण करना चाहिए। मध्य में तीन भाग को छोड कर दोनों भागों में दन्तकों का निर्माण करना

चाहिये उनके तीन भाग के हर लेने पर यदि कुछ शेष न रहे तो उनको छोड देना चाहिये । हाथी के दात अथवा शाखोट (शाखू) वृक्ष से निर्मित श्रेष्ठ कहलाते हैं । मध्यम अन्य शेष लकडियो से और जघन्य अर्थात् निकृष्ट अमार- दारु से निर्मित होता है । स्वस्तिक आदि रूपो से मध्य भाग को अलकृत करना चाहिए ॥४३-४६॥

यूका आदि के अपनयन के लिये तथा केश प्रसाधन के लिये यह कघा काम मे लाया जाता है ॥४७॥

पादुका—दो पादुकाओ की लम्बाई पाद से एक अगुल से अधिक बनानी चाहिये । लम्बाई के पाच भाग करने पर सामने तीन भाग मे पीछे दो भाग मे इस प्रकार से इसका सग्रह-विधान है ॥४८॥

तीन अगुलो की ऊचाई और चरणो के अनुसार उस का विस्तार, अगुल और अगुष्ठ के दोनो मध्य भाग मत्स्य आदि से अलङ्कृत करना चाहिए ॥४६॥

दन्त, सीग आदि से उसकी दोनो खूटियो का निर्माण होना चाहिए ॥५०½॥

गजेन्द्र दन्त, श्रीखड, श्रीपर्णी, मेष शृगिका, शाल, क्षीरिणी, चिर अथवा वेल की लकडिया खडाऊ के लिये प्रशस्त कही गई हैं ॥५०½-५१½॥

इस प्रकार से यहा पर शय्याओ का और आसनो के लक्षण बना दिये और उसके बाद दर्वी और कवच और पादुकाओ का ठीक तरह से लक्षण बना दिया गया और शुभ और अशुभ सपूर्ण लक्षणो को जान कर विद्वान पूजा को प्राप्त होता है ॥५२॥

चतुर्थ पटल

यन्त्र-घटना

१ यन्त्र बीज

२ यन्त्र-गुण

३ यन्त्र-प्रकार

(अ) आमोद

(ब) सेवक

(स) योध एव द्वारपाल

(य) सग्राम

(र) विमान

(ल) धारा एव

(व) दोला

यन्त्र-विधान

अलक्ष्य मध्य घूमते हुए सूर्य एवं चन्द्र मण्डल के चक्र से प्रशस्त इस जगत्रय-रूपी यन्त्र को सम्पूर्ण भूता (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) तथा बीजा (उपादान कारणो) को सम्प्रकल्पित कर जो सतत घुमाते है, वे कामदेव का जीतने वाले (भगवान् शकर) तुम लोगो की रक्षा करें ॥१॥

क्रम से प्राप्त अब यन्त्राध्याय का वर्णन करता हू। यह यन्त्र-विधान धर्म, अर्थ काम और मोक्ष का एक ही कारण है ॥२॥

अपनी इच्छा से अपने मार्ग से प्रवत्त महाभूतो (पृथ्वी आदि) का नियमन कर जिस से नयन होता है, उस को यन्त्र कहा गया है। अथवा अपनी बुद्धि से, अपनी स्वेच्छा से प्रवत्त महाभूतो का जिस से निर्माण-कार्य यमित होता है, उसको यन्त्र कहते हैं ॥३-४॥

उस यन्त्र के चार प्रकार के बीज कहे गये है—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। इन चारो का आश्रय होने की वजह से आकाश भी पाचवा बीज उपयुक्त हाना है ॥५॥

सूत अर्थात पारे को जो लोग एक अलग बीज मानते है, वे ठीक नही जानते। सूत प्रकृति मे वास्तव म पार्थिव बीज ही है। जल, तेज और वायु की उस मे क्रिया होनी है। चू कि यह पार्थिव है अत यह पारा अलग बीज नही है। अथच इसके द्रव्यत्व होन के कारण जो अग्नि का उत्पादक होना परिकल्पित किया गया है तब इस का अग्नि से विरोध नही उत्पन्न होता और पृथ्वी गधवती होने के कारण और अग्नि मे विरोध होने के कारण बलात इसमे पार्थिवत्व स्थापित हो ही जाता है ॥६-८॥

अथवा पाचो महाभूत एक दूसरे के स्वय बीज होते हैं तथा और भी बीज होते है और इस प्रकार सांकर्य (मिश्रण) से इनके बहुत से भेद होते हैं ॥९॥

यन्त्र नाना प्रकार के होत हैं जैसे स्वय वाहक (Automatic), सकृत्प्रेर्य (Propelling only once), अन्तरित वाह्य तथा अदूर-वाह्य। पहला भेद स्वय-वाहक उत्तम कहा गया है और अन्य तीन निकृष्ट। उनमें दूरस्थ अलक्ष्य, निकट स्थित की प्रशसा की गई है। जो अलक्ष्य उत्पन्न होता है और जो बहुतो का साधक कहा गया है वह मनुष्यो के लिये विस्मय करने वाला उत्तम कहा गया है।

विस्मय-कारी इस वाह्य-यन्त्र मे एक अपनी गति होती और दूसरी वाहक में आश्रित होती है। अरघट्ट-घटी मे आश्रित कीडे मे से दोनो दिखाई पडती हैं। इस प्रकार दो गतियो से वैचित्र्य का कल्पन स्वयं करे और न दिखाई पडने वाली जो विचित्रता होती है, वह यन्त्रो मे अधिक प्रशस्त मानी गई है ॥१०—१५१/२॥

और दूसरा भेद जो कहा गया है वह भीतर से चलाया जाता है। उसे मध्यम कहते है। दो तीन के योग से अथवा चारो के योग से अंशांशि-भाव से भूतो की यह संख्या बहुत बढ जाती है। जो मनुष्य इन सब बातो को ठीक जानता है, वह स्त्रियो का, राजाओ का, विद्वानो का प्रिय होता है। और लाभ, ख्याति, पूजा, यश, मान क्या क्या नही प्राप्त करता है जो मनुष्य इस को तत्त्वतः जानता है ॥१५१/२—१८१/२॥

यह विलासो का एक ही घर, आश्चर्य का परम पद, रति (काम-क्रीडा) का आवास-भवन, (निकेतन, घर) तथा आश्चर्य का एक ही स्थान कहा गया है ॥१८१/२—१९१/२॥

देवता आदिको की रूप एवं चेष्टा दिखाने से वे लोग (देवता लोग) सन्तुष्ट होते हैं और उनकी सन्तुष्टि को ही पूर्वाचार्यो द्वारा धर्म कहा गया है। राजाओ आदि के सन्तोष से धन प्राप्त होता है (इस प्रकार धर्म के बाद अर्थ-सिद्धि हुई)। अर्थ मे ही काम (इच्छा, मनोरथ आदि) प्रतिष्ठित कहे गये है। इसका निर्माण धन-साध्य है और मोक्ष भी इस से दुर्लभ नही ॥१९१/२—२११/२॥

पार्थिव बीज —यह बीज पार्थिव बीजो से, जल से उत्पन्न होने वाले पदार्थों से, वही तेज से उत्पन्न होने वालो से और वही वायु से उत्पन्न होने वालो से विहित है। आप्य अर्थात् जल सम्बन्धी बीज आप्य बीजो मे उसी प्रकार अग्नि सम्बन्धी एवं वायु सम्बन्धी बीजो से विहित है। वह्नि-बीज वायु से उत्पन्न होने वाले और पार्थिव एवं वारुण बीजो से भी तथैव विहित है। मारुत बीज वायु, जल, पृथ्वी एवं अग्नि सम्बन्धी बीजो से वैसे ही विहित है। वह्नि से उत्पन्न होने वाला द्वारा भी बीज होता है। वह पारा होता है। वह अनिल मे भी होता है। पार्थिवो का भी और आप्यो का भी जल जलीय बीज होता है। इस प्रकार सब भूतो के सम्पूर्ण बीजो का कीर्तन हुआ ॥२११/२—२५१/२॥

दृढ्यकरण सूत्र, भार-गोलक-पीडन लम्बन, लम्बवार और विविध चक्र, लोहा, ताबा, तार (पीतल), रांगा, सम्विन, प्रमर्दन, काष्ठ, चर्म, वस्त्र—ये सब अपने बीजो मे प्रयुक्त होते है ॥२५१/२—२७१/२॥

उदक, वतर, यष्टि, चक्र और भ्रमरक, शृंगावली और बाण, ये भी बीज और कहे गये है ॥२७१/२—२८१/२॥

जल के सम्पर्क से उत्पन्न ताप, उत्तेजन, स्तोभ, और क्षोभ इत्यादि पार्थिव बीज के अग्नि-बीज कहे गये हैं ॥२८½—२६½॥

धारा, जलभार, जल की भवर इत्यादि पृथ्वी से उत्पन्न जलज बीज कहे गये है ॥२६½—३०½॥

जैसी ऊचाई, जैसी अधिकता और जैसी नीरन्ध्रता (सटा हुआ) और अत्यन्त ऊर्ध्व-गामित्व (ऊचे जाना) ये लोहे के अपने बीज है ॥३०½—३१½॥

स्वाभाविक वायु, गाढ-ग्राहको के द्वारा प्रेरित होकर पत्थरो से पक्षियों से, गज-कर्णादिको से भी निर्मित, चालित और गलाया हुआ ये वायु पार्थिव भूत मे बीज होता है। काष्ठ (लकडी), चमडा और लोहा जल से उत्पन्न होने वाले बीज मे पार्थिव होता है ॥३१½—३३½॥

दूसरा जल वह भी तिरछा ऊचा और नीचा जल-निर्मित यन्त्रो मे अपना बीज होता है। ताप आदि पहले कहे हुए वह्नि मे उत्पन्न, जल मे से उत्पन्न होते है ॥३३½—३४॥

सग्रहीत, दिया हुआ और भरा हुआ और प्रतिनोदित अर्थात् प्रेरित वायु जल-यन्त्रो मे बीज बनता है ॥३५ ॥

वह्नि से उत्पन्न होने वालो मे मिट्टी, तावा, सोना, लोहा आदि तदनुकूल बीज-विचक्षण विद्वान इस वास्तु-शास्त्र मे उसे पार्थिव बीज कहते है ॥३६॥

वह्नि से वह्नि-बीज जल से जल और पहिले कहे हुये पत्थर आदि से वायु बीजता को प्राप्त होता है ॥३७॥

प्रत्येयक अर्थात पदार्थ-सम्बन्धी (Material), जनक, प्रेरक और ग्राहक तथा सग्राहक रूप मे वायु से उत्पन्न होने वालो के द्वारा पार्थिव बीज कहलाता है ॥३८॥

प्रेरण और अभिघात, विवर्त तथा भ्रमण रूप मे वायु से पैदा होने वालो में जलज बीज सम्मत होता है ॥३६॥

ताप आदि से जो पवन से उत्पन्न होने वालो के द्वारा जो होते हैं वे पावक-सम्बन्धी बीज मे सगृहीत किए गये है ॥४०॥

प्रेरित, सग्रहीत और जनित रूप में वायु अपना बीज होता है। इसी प्रकार से और भी कल्पना कर ले ॥४१॥

एक भूत अत्यधिक, दूसरा हीन, तीसरा और भी अधिक हीन। इसके अतिरिक्त दूसरा और भी हीन। इस प्रकार विकल्प से इन बीजो के नाना भेद होते है। उनको पृथक् रूप से कौन कह सकेगा ॥ ४२-४३½ ॥

पृथ्वी तो निष्क्रिया है और उस में जो क्रिया है वह अंश में बचे हुए तीनों भूतों—वायु, जल, अग्नि में होती है। इस लिए वह क्रिया पृथ्वी में ही प्रयत्न-पूर्वक उत्पन्न करने योग्य है और ऐसा करने पर साध्य अर्थात् उपादान कारण पृथ्वी का रूपवशात सन्निवेश होता है ॥४३½–४४॥

यन्त्र-गुण —यन्त्रों की आकृति जिस प्रकार न पहचानी जा सके, उस प्रकार ठीक तरह से बीज-संयोग करना चाहिए। उनकी बहुत सुन्दर जड़ावट और सफाई होनी चाहिए। इस प्रकार यन्त्रों के निम्नलिखित गुण कहे गये हैं-सौश्लिष्ट्य, श्लक्ष्णता, निर्वहण, लघुत्व, शब्द-हीनता और जहा पर शब्द ही साध्य अर्थात् उपादान कारण हो, वहाँ पर आधिक्य, अशैथिल्य और अगाढता कहे गये हैं। अन्यथा सभी वाहक-यन्त्रों मे सौश्लिष्ट्य, अस्खलितत्व, अभीष्टार्थ-कारित्व, लयतालानुगामित्व, इष्ट-काल मे अर्थ-दर्शित्व और फिर ठीक तरह से गोपन, अप्रकाशन, अनुल्वणत्व, ताद्रूप्य मृसृणत्व (चिकनाहट), चिरकाल-सहत्व—ये सब यन्त्र-गुण हैं ॥४५–४६½॥

पहला भेद बहुतों को चलाने वाला और दूसरा भेद बहुतों से चलाये जाने वाला कहा गया है ॥४६॥

यन्त्रों का न दिखाई पडना और ठीक तरह से उनकी जडाई होना परम गुण कहा गया है ॥५०½॥

अब इस के बाद यन्त्रों के विचित्र विचित्र कार्यों का यथाविधि न विस्तार से न सक्षेप से वर्णन करता हू ॥५०½–५१½॥

किसी की क्रिया साध्य होती है और किसी का काल, और किसी का शब्द, और किसी की ऊंचाई अथवा रूप और स्पर्श। इस प्रकार कार्यवशात् क्रियायें तो अनन्त परिकीर्तित की गई हैं। ५१½-५२॥

क्रिया से उत्पन्न होने वाले भेद है—तिरछे, ऊपर, नीचे, पीछे आगे अथवा दोनो बगलों मे भी गमन, सरण और पात भद से अनेक भेद है ।५३।

जहा तक यन्त्र से काल-ज्ञान की बात है वह काल, समय बताने वाले घटा-ताडनो के भेदो से अनेक भेद वाला होता है। यन्त्रो से उत्पादित शब्द विचित्र, सुखद, रतिकृत भी और भीषण भी होते है। उच्छ्राय गुण तो जल का होता है। कहीं पर पार्थिव मे भी कहा जाता है ॥ ५४-५५½॥

गीत, नृत्य और वाद्य (गाना, नाचना और बजाना, पटह, वंश, वीणा, कास्यताल (मंजीरा), तुमला, करटा और भी जो बाजे विभावित होते है वे सभी यन्त्रों से उत्पन्न होते हैं ।५५½-५७½॥

नृत्य मे नाटकीय नृत्य होता है, उसके ताण्डव लास्य, राज मार्ग और देशी ये सब भेद यन्त्र से सिद्ध होते है ॥५७½-५८½॥

उसी प्रकार स्वाभाविक चेष्टाये या विरुद्ध चेष्टाये वे भी यन्त्र की सम्यक साधना से निष्पन्न होती है ।५८½-५९½॥

पृथ्वी पर रहने वालो की आकाश मे गति आकाश मे चलने वालो की भूमि मे गति, मनुष्यो की विविध प्रकार की चेष्टायें तथा विविध मनोरथ ये सब यन्त्र के निर्माण से उत्पन्न होते है ॥५९½-६०॥

जिस प्रकार से असुर लोग हारे और जिस प्रकार से देवो के द्वारा समुद्र मन्थन हुआ और उनका, नृसिंह भगवान् द्वारा हिरण्यकशिपु नामक दैत्य मारा गया, हाथियो का युद्ध और छोडना तथा पकडना और जो नाना प्रकार की चेष्टाये है और विविध प्रकार के धारा-गृह और विचित्र झूलो की केलिया और विचित्र रति-गृह और विचित्र सेना तथा कुट्टिया एव सेवक (Automatic) तथा विविध प्रकार की सच्ची और झूठी सभायें और इस प्रकार जितनी बाते है वे सब यन्त्र के कल्पन से सिद्ध होती है ।६१-६४॥

शय्या-प्रसर्पण यन्त्र —पाच भूमिकाओ अर्थात खण्डो का निर्माण कर पहिले खड मे स्थित शय्या प्रति पहर दूसरे खण्डो मे प्रसर्पण करती हुई पाचवे खड मे पहुँच जाती है। इस प्रकार के चित्र विचित्र आश्चर्य, यन्त्र से ठीक सिद्ध होते है ॥६५-६६½॥

नाडी-प्रबोधन-यन्त्र —शय्याप्रसर्पण-यन्त्र कीर्तित हो चुका है, अब पुत्तिका नाडी-प्रबोधन-यन्त्र का वर्णन करते है। क्रमश नाल सी आवर्तन स्थायी मे यह दन्तो को घुमाती है। उस के मध्य मे बनायी हुई पुतली प्रति नाडी मे जगाती और यन्त्र के द्वारा वह्नि का जल मे दर्शन, वह्नि मे वाच से जल का निकलना अवस्तु से वस्तुत्व, वस्तु मे अन्य प्रकार की चीजे दिखाना एक सास मे आकाश जाती है, एक सास मे पृथ्वी आती है ॥६६½-६८॥

गोलक-भ्रमण-यन्त्र —अब गोल-भ्रमण-यन्त्र का वर्णन है, जो सूर्यादि-ग्रहो की गति प्रदर्शन कराती है। क्षीर-सागर के मध्य मे एक सुन्दर शेष-नाग के फण पर शय्या बनायी जाती है और सूची-विहित गोला सूर्य ग्रहो की प्रदक्षिणा करता हुआ दिन रात घूमता हुआ ग्रहो के दर्शन कराता है। लकडी के गज आदि रूप अथवा रथिक रूप मे दिखलाया गया मनुष्य नाडी के द्वारा घूम कर वाम की गति से चार कोस तक जाता है ॥ ६९-७१½ ॥

पुतली के द्वारा दीपक मे तेल डालने वाला यन्त्र है। बनी हुई दीपिका-पुत्तलिया ताल की गति से नाचती हुई धीरे २ दीप मे तेल डालती हैं। यन्त्र के द्वारा बनाया गया हाथी वह जाता हुआ नही दिखाई पडता। जब तक पानी दो तब तक वह निरन्तर पानी पीता रहता है। यन्त्र-शुक आदि बनाये गये जो पक्षी बार बार नाचते हैं, पढते है और मनुष्य का आश्चर्य करते है वे सब प्रमोद वितरण करते है। यन्त्र के द्वारा बनी पुतली अथवा गजेन्द्र अथवा घोडा अथवा वानर भी ताल से उलटते पलटते नाचते मनुष्य के मन को सुन्दर लगते हैं ॥७१½-७४½॥

जिस मार्ग से स्वेत धूम होता है उस मे वह पानी जाता है और आता है फिर उसी के समान गड्डे से पुष्करिणियों से पानी आता जाता है ॥७४½-७६½॥

फलक पर यौन बठती है, दौडती है, ताली बजाती है, और लडती है, नाचती है, गाती है, बास आदि को बजाती है। वायु के बद हो जाने पर फिर छोड देने पर यन्त्र की भंगियो की जो दिव्य और मानुष्य चेष्टायें होती है वे ही केवल नही और भी जो कुछ भी दुष्कर होता है यन्त्र के द्वारा सिद्ध होता है ॥ ७६½-७९½ ॥

यन्त्रो का निर्माण अज्ञानता-वश नही बल्कि छिपाने के लिए, नही कहा गया है। उसका कारण यह जानना चाहिये कि यन्त्र व्यक्त हो जाने पर फल-प्रद नही होते। इसी लिये यहाँ पर उनका बीज बता दिया गया बल्कि उनकी घटना निर्माण नही बताई गयी। क्योंकि व्यक्त हो जाने पर न तो स्वार्थ-सिद्ध हो सकता है न कौतुक ही हो सकता है और वास्तव मे तो यन्त्रो के बीज अर्थात साधन कीर्तन करने से घटना आदि सभी कुछ कह दी गई है ॥७९½-८१ ॥

बुद्धिमान् लोगो को, अपनी बुद्धि से जैसा जो यन्त्रो का कर्म होता है, उस को समझ लेना चाहिए और जो यन्त्र देखे गये हैं और जो वर्णित किये गये है उन को भी समझ लेना अथवा अनुमान कर लेना चाहिए ॥८२॥

जो यन्त्र सुन्दर एव सुखद है उनको उपदेश के द्वारा बता दिया गया है। यह सब हमने अपनी बुद्धि से कल्पित कर लिया है। अब आगे पुरातनो (आचार्यों) के द्वारा जो प्रतिपादित किया गया है उसको कहता हूं। यन्त्रो के सम्बन्ध मे चार प्रकार का बीज उन लोगो ने कहा। उनका प्रत्येक का विभाग जल, अग्नि, पृथ्वी और वायु के द्वारा बहुत प्रकार का कहा गया है और उनके पारस्परिक मिश्रण एव साकय मे फिर ये यन्त्र अगणित कहे जाते हैं। ससार में यन्त्रो से बढ कर

और कौन सी आश्चर्य की बात है अथवा इस के अतिरिक्त और कौन सा तुष्टि का साधन है और आश्चर्य-जनक वस्तु है। इस से बढ़ कर कीर्ति का भी कौन सा स्थान है और यन्त्र के अतिरिक्त दूसरा काम-सदन या रति-कलि-निकेतन भी दूसरा नहीं है इस से बढ़ कर पुण्य अथवा ताप शमन का और कौन सा उपाय है ॥८३—८५॥

सूत्र-धारों के द्वारा योजित बीज-योग अत्यन्त प्रीति देने वाले हो जाते हैं। भ्रान्ति जनक और विस्मय-कारक लकड़ी से निर्मित दोना (झूला) आदि विस्मय-कारक यन्त्र हैं। अतः ये यन्त्रों का पांचवां बीज हुआ ॥८६॥

वही आदमी चित्र-विचित्र यन्त्रों का निर्माण करना जानता है जिन में यह समग्र सामग्री होती है—परम्परागत कौशल उपदेश-युक्त अर्थात गुरु से अथवा शास्त्राभ्यास, वास्तु-कर्म, उद्यम और निर्मल बुद्धि ॥८७॥

जो लोग चित्र-गुणों से युक्त यन्त्र-शास्त्राधिकार वाले इन पांचों बीजों को जानते हैं, अथवा जो इन बीजों को पूर्ण रूप से योजना करते हैं, उनकी कीर्ति स्वर्ग और भूमि दोनों पर फैलती है ॥८८॥

एक अंगुल से मित (नापा गया) और अंगुल के एक पाद से ऊंचा, दो फुट वाला, गात्र आकृति वाला ऋजु बीच में छेद वाला, सुदृढ़ संधि वाला और मजबूत तांबे से निर्मित उसे सम्पादित करे। लकड़ी के बने हुए पक्षियों में उसका उनके भीतर क्षिप्त कर निकलती हुई वायु के द्वारा चलन पर सुन्दर शब्द करता है और सुनने वालों के लिए आश्चर्य कारक होता है ॥८९-९०॥

सुदृढ़ दो खंडों से सरन्ध्र (छेद-सहित) मध्य भाग मुरज नामक वाद्य-यन्त्र की आकृति के समान निर्मित कर दो कुण्डलों से ग्रस्त कर, बीच में मृदु पुट देवे और पूर्वोक्त यन्त्र की विधि से इसके उदर के क्षिप्त होने पर शय्या तल पर स्थित यह यन्त्र सचरण से अनंग-क्रीडा के रसोल्लास करने वाली ध्वनि करता है और इस के शय्या-तल के नीचे स्खलन पर सुन्दर सुन्दर मनोमोहक विचित्र शब्द छोड़ता है जिससे मृग शिशुओं के समान नेत्र वाली नायिकाओं का भय से मान चला जाता है और इन प्रेमासक्तों दयिताओं को अपने प्रिय के प्रति आसक्ति और अधिक २ काम-क्रीडायें प्रौढ़ि को प्राप्त होती हैं ॥९१-९३॥

पटह, मुरज, वेणु, शंख, विपंची, काहला, डमरु टिविल, ये वाद्य-यन्त्र और आतोद्य-यन्त्र (Instruments by beating) बड़ा ही मधुर और चित्र रुद्ध और उन्मुक्त वायु से भरे हुवे ध्वनि करने में समर्थ होते हैं ॥९४॥

अम्बरचारि-विमान-यन्त्र —अब अम्बरचारि-विमान-यन्त्र का वर्णन करते है। छोटी लकडी से बनाया गया महा विहग बना कर और उसके शरीर को दृढ और सुश्लिष्ट अर्थात् खूब सटा और जुडा हुआ बना कर उस के अन्दर पारा रक्खे और उस के नीचे अग्नि के स्थान को अग्नि से पूर्ण करे और उसमे बैठा हुआ पुरुष उसके दोनो पक्षो के सचालन से प्रोज्झित वायु के द्वारा भीतर रक्खे हुए इस पारद की शक्ति से आकाश में आश्चर्य करता हुआ दूर तक चला जाता है। इसी प्रकार से यह बडा दारु-विमान सुर-मन्दिर के समान चलता है और विधि पूर्वक इसके भीतर चार पारे से भरे हुए दृढ कुम्भों को रक्खे। लोहे के कपाल में रक्खी हुई मन्द वह्नि के द्वारा तपे हुए (तप्त) कुम्भो से उत्पन्न गुण से सन्तप्त और गर्जन करता हुआ पारद की शक्ति से आकाश का अलकार बन जाता है अर्थात् आकाश मे उड जाता है ॥९५—९८॥

सिंहनाद-यन्त्र —अब लोहे के यन्त्र को खूब ठीक तरह से कसकर और उसके अन्दर पारद को रखकर और फिर वह ऊचे प्रदेश मे रक्खा हुआ सिंहनाद मुरज (वाद्य-विशेष) की ध्वनि करता है। इस नर-सिंह की महिमा विलक्षण है। इसके सामने मद और जल को छोडने वाले हाथियो की घटायें भी इसके गम्भीर घोष को बार-बार सुन कर अकुश की भी परवाह न कर शीघ्र भागने लगते हैं ॥९९ १००॥

दासादि-परिजन-यन्त्र —आख, ग्रीवा, तल-हस्त, प्रकोष्ठ (भुजा का मणि-बधन), बाहु, उरु, हस्त की अगुलिया आदि अखिल शरीर, छिद्रों सहित बना कर और उसकी सन्धियों को खण्डश घटना करे, कीलो से खूब श्लिष्ट कर लकडी से बना कर, चमडे से गुप्त कर युवक अथवा युवती के रूप का अति रमणीय रूप बना कर छिद्रगत शलाकाओ और सूत्रा के द्वारा प्रति अग से विधि-पूवक निवेश करे तो वह गर्दन का चलाना, हाथ का फैलाना अथवा समेटना यन्त्र ही करता है और साथ ही साथ हाथ मिलाना, पान देना, जल से सीचना, प्रणाम आदि करना, शीशा देखना वीणा आदि वाद्य बजाना—यह सब यन्त्र ही करता है। इसी प्रकार पूर्वोक्त गुणा के चक्र-वश से अपनी बुद्धि से विधि-पूर्वक जृम्भित होने पर इसी प्रकार के अन्य विस्मयावह कार्य करता है ॥१०१—१०५॥

द्वारपाल-यन्त्र —दारु से मनुष्य को लकडी का बना कर और उसका निकेतन-द्वार के ऊपर रख कर, उस के हाथो मे दण्ड दे दे तो द्वार मे प्रवेश करने वालो का रास्ता रोकता है ॥१०६॥

योध-यन्त्र – खड्ग-हस्त, मुदगर-हस्त, अथवा कुन्त-हस्त (भाला लिये) वह दारु-कल्प्त पुरुष रात्रि मे प्रवेश करते हुए चोरों को सम्वृत मुख होकर बल-पूर्वक मारता है ॥१०७॥

संग्राम यन्त्र – जो चाप आदि, तोप आदि, उष्ट्र-ग्रीवा आदि यन्त्र (तमचे) किले की रक्षा के लिए और राजाओं के खेल के लिए जो क्रीडा आदि यन्त्र है वे सब गुणों के योग से सम्पादित हो जाते हैं ॥१०८॥

वारि-यन्त्र — अब क्रम-प्राप्त वारि-यन्त्र को कहता हू। क्रीडा के लिए और कार्य-सिद्धि के लिए उसकी चार प्रकार की गति होती है ॥१०९॥

ऊचे पर रक्खी हुई द्रोणी (कल), प्रदेश मे नीचे की तरफ जल जाता है उस को पात यन्त्र कहते है और वह बगीचे के लिए होता है ॥११०॥

दूसरा जल-यन्त्र उच्छ्राय-समपात नामक कहा गया है जहा पर ऊँचे से कल से पानी जलाधार-गुण से नीचे की ओर छोडता है ॥१११॥

तीसरा वारि-यन्त्र पात-समुच्छ्राय के नाम से पुकारा जाता है, जहा पर जल गिर कर ऊचाई से टेढे टेढे जाकर छेद वाले खम्भो के योग से ऊचे जाता है ॥११२॥

अब इस के बाद समुच्छ्राय-नामक यन्त्र वह होता है जहा पर जल गिर कर ऊचाई से उठकर टेढे टेढे, ऊचे-ऊचे छिद्रों वाले खम्भों के योग से गिरता है ॥११३॥

उच्छ्राय-संज्ञा वाला पाचवा वारि-यन्त्र वह कहलाता है जहा पर वापी मे अथवा कुवे मे विधान-पूर्वक दीर्घिका आदि जो बनाई जाती है, तो ऊचे पानी लाया जाता है ॥११४॥

दारुमय हस्ति —लकडी का हाथी बना कर जो पात्र मे रक्खा हुआ पानी पीता है, उसका माहात्म्य इस उच्छ्राय-नामक यन्त्र के समान कहा गया है ॥११५॥

जलसुरग-देश मे लाया जाता है नीचे मार्ग से दूर लाया हुआ वह अद्भुत जल-स्थान-समुच्छ्राय करता है ॥११६॥

पञ्च-धारा गृह —अब धारा-गृह का वर्णन करते हैं। ये पाच है—पहिला धारा-गृह दूसरा प्रवर्षण, तीसरा प्रणाल चौथा जलमग्न तथा पाँचवा नन्द्यावर्त। प्राकृत जनो अर्थात् साधारण जनता के लिए नही बनाने चाहियें। ये केवल राजाओ के लिये ही बनाने चाहियें। ये उन्ही के योग्य है। ये मनुष्यों के दिव्य मदन और तुष्टि और पुष्टि करने वाले होते हैं ॥११७-११८॥

धारा-गृह—किसी जलाशय के निकट सुन्दर स्थान को चुन कर यन्त्र की ऊंचाई से दुगुनी अथवा तिगुनी नली बनावे। जल के निर्वाहक-क्षम यह नली अन्दर से बहुत चिकनी और बाहर से घनी होनी चाहिए और उस में पानी भर कर शुभ मुहूर्त मे धारा-गृह का निर्माण करना चाहिए। सब औषधियों से युक्त और सोने से निर्मित पूर्ण कुम्भो से युक्त सुन्दर २ विचित्र २ गन्ध और मालाओं से युक्त वेद-मन्त्रो के उच्चारण से निनादित, रत्न-निर्मित अथवा स्वर्ण-निर्मित अथवा रजत निर्मित अथवा कदाचित शीशम काष्ठ से निर्मित अथवा चन्दन से निर्मित अथवा सालक-प्रधान प्रशस्त वृक्षो से निर्मित, सौ, बत्तिस अथवा सोलह सख्या वाले खम्भो से युक्त उस धारा-गृह का निर्माण करे। अथवा २४ खम्भो से अथवा १२ खम्भो से अथवा अतिरमणीय चार खम्भो से ही भूषित उस धारा गृह का निर्माण करना चाहिए। धारा-गृह अति विचित्र प्राग्रीवो वाली शालाओं और विविध जालो से विभूषित, वेदियो से खचित और कपोतालिया अर्थात् कबूतर के अड्डो से सुन्दर बनाना चाहिये। वहा पर सुन्दर २ शालभ-ञ्जिकायें कठपुतलिया दिखलाई पड रही हो। अनेक प्रकार के यन्त्र पक्षियो से शोभा मिल रही हो तथा बानरो के जोटा से अनेक प्रकार जम्भक-समूहो से विद्याधर, सिंह, भुजङ्ग, किन्नर और चारणो से रमणीय परम प्रवीण मयूरो से नाचते हुए सुन्दर प्रदेश चित्र विचित्र पारिजात-पादपो स शोभित और चित्र-विचित्र लताओ, वल्लियो एव गुल्मो से सच्छन्न, कोकिल-भ्रमरावली हसमाल (मराली) से मनोहर ऐसा चित्र-विचित्र चित्रित धारा-गृह बनावे ॥११६-१२८॥

सुश्लिष्ट और निविष्ट नली के सम्पूर्ण स्रोत बहने वाले और मध्य मे छेद सहित नाडिका से युक्त नाना प्रकार के रूपो से रमणीय होना चाहिए। सुश्लिष्ट नाडिका के अग्र प्रदेश मे खम्भो की तुला वाली दीवाल मे आश्रित प्रदेश मे वज्रलेपादि (सीमेन्ट आदि) खूब दृढ विलेपन करे। वज्रलेप बनाने का प्रकार यह है लाक्षारस (लाख), अर्जुन का रस और पत्थर, मेष के सीगो का चूर्ण, इन सबको मिलाकर अलसी और करजा के तेल से गाढा करे। सन्धियो की दृढता सम्पादन के लिए यह लेप दो तीन बार देना चाहिए परन्तु कदाचित् अधिक मजबूती के लिए दो बार लेप करे और उस पर सन की वल्कल मे श्लेष्मातक (लभेडा) और सिरका के तैलो से प्रलेप करे। उच्छ्राय-यन्त्र से चारा और घूमते हुए जल के द्वारा चित्र-विचित्र जल-पात करता हुआ यह यन्त्र स्थपति राजा को दिखावे ॥१२६-१३३॥

इस मे हाथियो को जलक्रीडा करते हुए एक दूसरे की सूड से छोडे गये सीकरो जलकणो) मे बद हो गए है नयन जिन के ऐसे जोडो को दिखाना चाहिए ॥१३४॥

इस प्रेमास्पद यन्त्र मे वर्षा का अनुकरण करने वाला हाथी दूसरे हाथी को देख कर आख गण्ड-स्थल, मेहन और हाथो मे मद के समान वर्षानुकृत जल को छोडता हुआ दिखलाना चाहिए। १३५।

वहा पर कोई ऐसी स्त्री बनावे जो अपने दोनो स्तनो से दो जल-धारायें निकाल रही हो और वही सजल बिन्दुओ को आनन्दाश्रु-कणो के समान अपनी पलको से निकाल रही हो ॥१३६॥

कोई स्त्री ऐसी दिखाई जाय जो अपनी नाभि-रूपी नदी से धारा को निकाल रही हो और कोई अगुलियो की नखाशुओ के समान धाराओ से सिंचन कर रही हो। इस प्रकार के आश्चर्य-कारक स्वभाव चेष्टायें और बहुत से रमणीय शोभा का निर्माण कर के स्थपति राजा के लिए मनोरञ्जन करे। ॥१३७-१३८॥

उसके मध्य मे निर्मल स्वर्ण और मणियो से निर्मित सिंहासन बनाना चाहिए और उस पर नरपति अवनिपति श्रीपति, देव (अर्थात् राजा जो) बैठे ॥१३९॥

कभी २ इस मे उसको स्नान करावे और मगल-गीतो से अपने आनन्द को बढाता हुआ वादित्र और नाट्य निपुणो (गाने वाला, बजाने वालो, नकल करने वालो) से सेवित वह राजा साक्षात् इन्द्र के समान आनन्द का भोग करे ॥१४०॥

जो राजा भीषण गर्मी मे स्फुट जल-धारा वाले इस धारा गृह मे सुख-पूर्वक बैठता है और विविध-प्रकार की जल-कारीगरी को देखता है वह मर्त्य नही वरन पृथ्वी पर निवास करने वाला साक्षात् सुरपति इन्द्र है ॥१४१॥

प्रवर्षण —पहिले की तरह मेघो के आठ कुलो (पुष्करावर्तकादि) से युक्त दूसरा जल घर बनावे। बरसती हुई धाराओ के निकरो (समूहो) के कारण इसका नाम प्रवर्षण पडा है ॥१४२॥

इस मे मेघो के प्रतिकूल मे दिव्य अलकार धारण करने वाले सुदृढ एव सुन्दर तीन चार अथवा सात विधि-पूर्वक पुरुषो का निर्माण करे ॥१४३॥

फिर चौथे समोच्छ्राय यन्त्र से उन टेढी नाली वाले उन पुरुषो को निमल जलो से पूरित करे ॥१४४॥

पुरुषों के सम्पूर्ण सलिल-प्रवेश वाले छेदों को बंद कर तदनन्तर उनके जल निकालने वाले अंगों को खोल दे ।।१४५।।

पुरुष-द्वार-प्रतिरोध और मोचनों से टेढे नल से निकले हुए पानी आश्चर्य-कारक पात से आश्चर्यकारक स्वेच्छापूर्वक जल को छोडते है। ।।१४८।।

इस प्रकार इन जल-धारण करने वाले सब पुरुषों से अथवा दो से अथवा तीन से महान् आश्चर्य विधायक स्वेच्छापूर्वक प्रवर्षण करावे ।।१४७।।

यह नाना आकार वाला, रति-पति कामदेव का प्रथम कुल भवन विचित्र पदार्थों का निवास और मेघो का एक ही अनुकरण ग्रीष्म मे जल के पात में सूर्य के ताप का शमन करने वाला किन लोगो के नयनो का आनन्द दायक नहीं होता (अर्थात् सभी के लिये होता है) ।।१४८।।

प्रणाल —अब प्रणाल-नामक जल घर का वर्णन किया जाता है। एक, चार अथवा आठ अथवा बारह अथवा सोलह खभो से दुतल्ला मनोहर घर बनावे। सब दीवालो से युक्त चौकोर चार भद्रों से युक्त ईली-तोरण-युक्त पुष्पकाकार इसे बनाना चाहिये। उसके ऊपर बीच मे एक सुदृढ प्रागण-वापी बनावे और उसके बीच मे कमलो मे सुशोभित कर्णिका का निर्माण करे और उसके चारो कोनो पर वापी के मध्य भाग मे खिले हुए कमल पर लगाये हुए आखो वाली, अलकार धारण किये और विभिन्न शृंगार किये रमणीय दारू-दारिकाओ का निर्माण करना चाहिये ।।१४९-१५२।।

पूर्वोक्त यन्त्र के क्रम से पद्मासन पर राजा के बैठने पर फिर घडो के निर्मल जल से आँगन की वापी को भरे और फिर उस वापी को भर कर फिर उस जल को उसके निकट पट्ट गर्भो मे ले जाया जाय। पुन उस मे सुगंधि की योजना करें। मुख के कपडे से समुत्कीर्ण रूप वाले चित्र-विचित्र नासिका, मुख, कान, नेत्र, आदि अखिल अगो से जल छोडा जाता है। प्रणाल-नाम का यह अद्भुत धारा-भवन जिस राजा के अ गण प्रदेश मे स्थित होता है अथवा जो स्थपति अपनी चतुर बुद्धि से इसका निर्माण करता है, ये दोनो ही (राजा और राज) समार मे बडे यशस्वी होते हैं।।१५३-१५६।

जलमग्न — चौकोर, बहुत गहरी, सुदृढ, मनोरम वापी बनावे फिर उसका घर जमीन के नीचे, सन्धियो को लिप्त करके, निर्माण करे। मुग्ग मे निवेशित द्वार से सुन्दर पुरुषो के द्वारा उपर जल लाया जावे ।।१५७-१५८।।

चित्राध्याय में वर्णित क्रम से फिर चित्र से अलंकृत इसका मध्य भाग वरुण वाम के समान बनावे ॥१५६॥

उस कपड़े के नाल से उत्पन्न उन नल वाले ऊपर निकले हुए कमलों में सांद्र कर्णिका-स्थित सूर्य किरणों के द्वारा विकास कराया जाय ॥१६०।

निर्मल कमलों तक गिरते हुए जल से उसे पूरा किया जाय और इसी विधि से ठीक तरह से सुन्दर भवन का निर्माण करके नाना सजावट से युक्त आँगन का तोरण-द्वार बनावे और चारों दिशाओं में लम्बी चौड़ी वाटिकायें बना कर शोभा करे। बनावटी मछलो, मगर और जल-पक्षियों से युक्त और कमलों से युक्त उस वापी को इस तरह से बनावें कि मानों ये सब जीव-जन्तु एवं पक्षी सच्चे ही हों ॥१६१—१६३॥

सामन्त लोग प्रधान पुरुष राजा की आज्ञा प्राप्त कर आश्रय लेने वाले दूसरे रास्तों से आये हुए दूत यहां पर एकान्त में बैठें ॥१६४॥

तदनन्तर पूर्वोक्त मार्ग से निरूपित विभिन्न रूपों की जल क्रीडा को देख कर मुदित नृपति पर्यंकारोहण करे ॥१६५॥

वहां पर जल-भवन में वारांगनाओं से चारों तरफ घिरे हुए राजा का पाताल-गृह में जिस प्रकार भुजगेश्वर शेष-नाग का प्रमाद होता है उसी के समान उसका अत्याधिक आनन्द वाला प्रमोद होता है ॥१६६॥

नन्द्यावर्त्त—पूर्वोक्त वापिका में मध्य भाग में चार खम्भों से निर्मित मोती-मूंगों से युक्त पुष्प और लटभ का निर्माण करे। वापी के चारों ओर खूब निकलते हुए पानी से सुदृढ़ पुष्पक को भर कर अन्दर स्वस्तिक दीवालों से चारों ओर शोभा करावे। पूर्वोक्त जल-याग में कमर तक पानी भरा कर जल क्रीडा के लिये उत्कण्ठित राजा पुष्पक पर जाए और फिर वहां पर विदूषकों और वार-विलासिनियों के साथ उस दीवाल के अन्दर होकर जल में डूबने और निकलने की क्रीडा करे ॥१६७—१७०॥

एक जगह डूबते हुए, दूसरी जगह पानी में मार कर नष्ट होते हुए केलि करने वाले सहायकों के साथ राजा खूब खेलता है और आनन्द लेता है ॥१७१॥

वापी-तल में स्थित, लज्जा से झुके हुए कर-पल्लव से अपने स्तन-भाग को ढके हुए शरीर से गाढावसक्त वस्त्र वाली जलरोध को छोड़ने वाली ऐसी प्रणयिनी को जो आदमी देखता है वह धन्य है ॥१७२॥

दोला-यन्त्र –जो पाचवा बीज-सयोगात्मक यन्त्र-भ्रमणक-कर्म कीर्तित किया गया है, अब दारु-निर्मित उस रथ-दोला आदि के विधान को ठीक तरह से कहता हू। उनमे वसन्त, मदन-निवास, वसन्त-तिलक, विभ्रमक तथा त्रिपुर नाम वाले ये पाच झूले कहे गए है ॥१७३—१७४॥

वसन्त —ऋजु, सुदृढ एक सूत्र वाले चार खम्भो को खचित करे, भूमि-वश उनके अवकाश बराबर हों और सुश्लिष्ट तथा पीठगत हो। प्रासाद की उक्त दिशा मे अर्थात् प्रकार से आठ हस्तों से उस का दैर्घ्य सम्पादन करे और उसके आधे से गहरा रमणीय भूमि-गृह बनावे ॥१७५–१७६॥

उस के गर्भ मे भ्रम-सहित, पीठ-सहित और छादक तुलाओ से ग्रस्त लोहे का खम्भा स्थापित करे ॥१७७॥

पीठ के ऊपर खूब मजबूत विभक्त कुम्भिका स्थापित कर, फिर उस को धनुष की उचाई से आठ भद्रो से घेरे। इसके उपरान्त इसके ऊर्ध्व भाग मे ऋजु स्वेच्छा पूर्वक भूमिका की ऊचाई बनावे और वेष्टन के ऊपर पट्टयुत स्तम्भ-शीष रक्खे। हीर-ग्रहण तक मदला गज-शीर्षिका बनानी चाहिए। वह खूब मजबूत हो, प्रयत्न से बनाई गई हो और मनोज्ञ हो ॥१७८–१८०॥

पट्ट के ऊपर असीम क्षेत्र के मान (प्रमाण) से सथिया (चतुष्किका) बनावे और उसके उपर मजबूत तल-बन्ध निर्माण करे ॥१८१॥

तदुपरान्त क्षेत्र मे युक्ति से उठाए हुए, सुन्दर बारह खम्भो से रूपवती-कोणस्थिति से अधिक, पहली भूमि बनावे ॥१८२॥

उस के मध्य मे गर्भ-स्तम्भ-प्रतिष्ठित भ्रम की रचना करे और पश्चात् क्षेत्र-मान से उसको वस्त्रो से ढक दे ॥१८३॥

रथिका के शिखा के अग्र-भागो मे फलकावरण के उपर स्तम्भ के मध्य पाच भ्रम-चक्रो का न्यास करे ॥१८४॥

इस के ऊपर पुष्पक की आकृति की सुशोभित भूमि का निर्माण करे, उस आधार मध्य का स्तम्भ होता है और उस के सिर पर बनाये हुए कलश सुशोभित होते हैं। खम्भ के नीचे घुमाए जाने पर अध भूमिका उसमें खूब घूमती है। वह अर्धभूमिका चक्र-यन्त्र से ऊपर ऊपर रथिका-भ्रमर से युक्त हो कर घूमती है ॥१८५–१८६॥

इस प्रकार वसन्त-रथिका-भ्रम-नामक झूले मे बैठी हुई वार-विलासिनियो के परिभ्रमण से उत्पन्न अधिक विभ्रम वाला नयनोत्सव जो

स्वर्ग में कहा गया है, वैसा ही वसन्त के समय अमल कीर्तिवाला यह धाम राजा के लिये होता है। १८७।

मदन-निवास —इसके बाद बिना नीव के एक स्थिर, स्तम्भ का आरोपण कर फिर इसके ऊपर चार हाथ ऊंची भूमिका बनावें ॥१८८॥

मध्य में भ्रमरक-युक्त बनावे और शेष पहले के समान यहा पर भी निवेश करे और स्तम्भ मे पुष्पक को भी कलश से ऊंचा और शिथिल न्यास करे। उस के ऊपर चार आसनों से युक्त ग्रीवा का निर्माण करे और फिर वहा पर बडे बडे दो घण्टा स्तम्भा का निर्माण करे ॥१८९-१९०॥

इस प्रकार पुष्पक भूमिकाओं के भीतर बैठा हुआ गुप्त जन तब तक आमक यन्त्र-चक्र-समूह को क्रमश चलावे जब तक रथिका पर बैठी हुयी मृगनयनिया पुष्पक में सब की सब काम-वासना के कौतूहल से अर्पित आखो वाली घुमाई जाने लगे ॥१९१॥

वसन्त-तिलक —इस के बाद अब चार कोनो पर ऋजु एवं सुदृढ चार स्तम्भो को निवेशित करे और भूमि के अनुसार बराबर अन्तर पर पृष्ठ-भूमि पर उन्हे स्थापित करे। उनके ऊपर तवान्तर-संयुक्त भूमिका बनानी चाहिए और प्रत्येक दिशा में स्थापित पहले की तरह वहा पर चार रथिकायें बनाई जाती है। उस के ऊपर सुश्लिष्ट दारु-सन्धानित अर्ध-भूमि का निर्माण करना चाहिए। उस का मध्य भाग भ्रमरक-युक्त और मत्तवारण-युक्त एवं रूपका युक्त होना चाहिए ॥१९२-१९४॥

परस्पर यन्त्र के परिघट्टन से चलायमान अखिल चक्रों की रथिकाओं के भ्रमण से सुन्दर इस वसन्त तिलक भले को देख कर सुर-मन्दिरोक भ्रमायमान कौन विस्मय को प्राप्त नही होता ॥१९५॥

विभ्रमक —पहली रंगभूमि बना कर चौकोर चार भद्रों वाली रूपवती भूमि का निर्माण करे ॥१९६॥

दस के भद्रो से प्रत्येक कोन पर भ्रमर-संयुत होते है और भूमि के ऊपर आठ आसन वाले भ्रमरो का निर्माण करे ॥१९७॥

बाहर भीतर और बहुत सी चित्र-विचित्र शुद्ध रेखाओं को खचित करे। फिर पीठो में मध्य भाग में स्थित दूसरी भूमिकाओं का निर्माण करे ॥१९८॥

पीठ के मध्य-भाग में स्थित परस्पर निकट योजित चक्रों से सब भ्रमर

शीघ्रता से घमने लगते हैं। स्वर्ग में बैठने के समान झूले पर बैठा हुआ वह राजा वारि-विलासिनियो के द्वारा सम्भृत चित्र-विचित्र विभ्रम से जोहर्ष को प्राप्त करता है तथा उसकी कीर्ति तीनो लोको में समुल्लसित होती हुई समाती नहीं है ॥१९९—२००॥

त्रिपुर —अब क्षेत्र को चौकोर बना कर आठ अंशों में विभाजित कर शेष कोणो के द्वारा चौकोर भद्र का कल्पन करे ॥२०१॥

उस में दुगुनी भूमिकाओ की भाग-संख्या से इसका ऊर्ध्व-भाग निर्मित करे। वहा पर भूमिका की ऊचाई चार अंश की हो। २०२।

वहा पर आठ, छै, चार भागो से वर्जित ऊपर २ भूमिकायें क्रमश होती है और उन में से तीन अर्ध-संयुत होती है। शेषांश से उच्छ्राय-युक्ता चतुरश्रायता घण्टा बनानी चाहिए। तीसरी और चौथी भूमि का निर्माण ६ और ४ भागो के विस्तार से करना चाहिए। प्रथम भूमि मे रंग, दूसरी भूमि मे कोना मे रथिकाय और वहा पर भद्रो की आकृति से युक्त रमणीय दोला भी हो ॥ २०३—२०५ ॥

तीसरी भूमि मे भद्रो में अतिरमणीय रथिकाये बनानी चाहिए। कोनो में आसन और अन्य अध-वास्तुक में भी भ्रम का न्यास करे ॥२०६॥

चार आसन वाले दोला-रथिक में आठ आसन वाला भ्रम होता है। आसन में यहा पर अभिप्राय है कि वह युवती का एक स्थान होवे। २०७।

जो सब आसन भ्रमण सम्मुख घूमते हैं वे सारे के सारे आसन एक प्रकार से भ्रम ही हैं ॥२०८॥

यष्टि के ऊर्ध्व भाग में भ्रम के नीचे एक चक्र को योजित करे और उसी प्रकार यहा पर आसनो में लघु चक्रो का नियोजन करे ॥२०९॥

लघु चक्राकार वृत्त मे (चौकोर गोले मे) कीलो को लगाना चाहिए और वह समान अन्तर पर सभी छोटे चक्र के वृत्त दिखाई पड़ने चाहिए ॥२१०॥

रथिका का ऊपर का चक्र भ्रम-चक्र स विनियोजित करे और इस म दो चक्रो से युक्त चार यष्टिया टेढ़ी २ लगावे ॥२११॥

रथिका-यष्टि-भ्रम में संलग्न यन्त्रों को द्वितीय भूमि के ऊपर और तृतीय भूमि के अन्तर मे करना चाहिए ॥२१२॥

आसन की आधार-यष्टियो के नीचे समान अन्तर पर रथिका-चक्रो से योजित चार परिवर्तनो का निर्माण करे ॥२१३॥

उसी प्रकार द्वितीय भूमि दोला-गर्भ मे दो समानान्तर यष्टियो का निर्माण करना चाहिए, जिस मे एक २ पहिया लगा हो और इनका दक्षिण और उत्तर के चक्रो मे न्यास करे। इसी प्रकार नीचे भू-कोण तक जाने वाली रथिका-समूह के अग्र-चक्र मे लगी हुई दो दो पहियो वाली चार यष्टियो का दूसरी दिशाओं के चक्रो में न्यास करे। प्रान्त के दोनो चक्रो में कोनो की रथिका-चक्र मे योजित दोला के गर्भ में जाने वाली दूसरी दो यष्टिया तिरछी बनानी चाहिए। पूर्व-भद्र में सोपानो से शोभित द्वार-निर्माण करे और नीचे गर्भ के पश्चिम भाग में देवता-दोला का निवेश करे ॥२१४–२१७॥

इच्छानुसार छोड़ा जाने वाला चक्र-भ्रम विधान-पूर्वक ठीक तरह से जानकर शीघ्र चलने वाला अथवा मन्द चलने वाला प्रयोजित करे ॥२१८॥

सक्षेप से जहा तक हो सका हमने इस प्रकार से भ्रम-मार्ग कीर्तित किया। दूसरो में उसी तरह भ्रम-हेतु के लिए ठीक तरह से करना चाहिए ॥२१९॥

दृढ और चिकने स्तम्भ-आदि द्रव्यो के विन्यासो मे कल्पित सुश्लिष्ट सन्धि-बन्ध वाला बडे मुख्य-स्तम्भो मे धारण दिया गया, तिलको से परिवारित और चारो तरफ सिंहकर्णों से युक्त, अपने चित्रो से विचित्र रूप वाला त्रिपुर नाम का दोला ठीक तरह से बनावे ॥२२०-२२१॥

वुद्धि से निर्मित और पूर्व यन्त्रो से युक्त जो मनुष्य इस यन्त्राध्याय को ठीक तरह से जानता है, वह वाञ्छित मनोरथो को ठीक तरह से प्राप्त करता है और प्रतिदिन राजाओ के द्वारा पूजित होता है ॥२२२॥

जिस राजा के भुज-स्तम्भो से प्रतिबद्ध (रोकी गयी) वृत्ति वाला यह सम्पूर्ण द्वादश राज-मण्डल इच्छा से घूमता है वह श्रीमान् भुवन मे एक ही राम नाम के राजा ने इस यन्त्राध्याय को अपनी बुद्धि से रचित यन्त्र-प्रपचो के साथ बनाया है ॥२२३॥

पंचम पटल

चित्र-लक्षण

अथ चित्रोद्देश-लक्षण

अब इसके बाद हम लोग चित्र-कर्म का प्रपच करते हैं, क्योकि चित्र ही सब शिल्पो का प्रधान अग तथा लोक प्रिय-कर्म है ॥१॥

चित्रोद्देश —पट्ट पर अथवा पट पर अथवा कुड्य (दीवाल) पर चित्र-कर्म का जैसा सम्भव है और जिस प्रकार की वर्तिया, कृत-वन्ध और लेखा-मान होते है, वर्णो का जैसा व्यतिक्रम, जैसा वर्तना-क्रम, मान, उन्मान की विधि, तथा नव-स्थान-विधि, हस्तो का विन्यास—उन सबका प्रतिपादन किया जाता है। स्वर्गियो का, देवादिको का, मनुष्यो का तथा दिव्य-मानुष-जन्मा व्यक्तियो का, गण, राक्षस, किन्नर, कुब्ज, वामन एव स्त्रियो का विकल्प आकृति-मान और रूप सस्थान, वृक्ष, गुल्म, लता, वल्ली, वीरुध, पाप-कर्मा व्यक्ति, शूर दुर्विदग्ध धनी, राजा, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्रजाति, क्रूर-कर्मा मानी, रगोपजीवी-इन सब का वर्णन किया जाता है। सतियो का, राज-पत्नियो का रूप, लक्षण, वेष-भूषा (नैपथ्य), दासियो, सन्यासिनियो, राडो, भिक्षुणियो आदि अथच हाथियो, घोडो मकर, व्याल, सिंह तथा द्विजो का भी वर्णन किया जाता है। इसी प्रकार रात दिन का विभाग और ऋतुओ का भी लक्षण तथा योज्यायोज्य-व्यवस्था का भी प्रतिपादन आवश्यक है। देवो का प्रविभाग और रेखाओ का भी लक्षण, पाच भूतो का लक्षण और उनका आरम्भ भी बताया जायेगा। वृक आदि हिंसक जन्तुओ, पक्षियो और सब जल-वासियो के चित्र न्यास-विधान का अब लक्षण कहता हू ॥२–१२॥

चित्राङ्ग —जिसे चित्र-कर्म मे वर्ना जाता है उसके सब अगो का सविस्तार वर्णन किया जाता है। पहला अग वर्तिका, दूसरा भूमि-बन्धन, तीसरा लेख्य, चौथा रेखा-कर्म, पाचवा वर्ण-कर्म, छठा वर्तना-क्रम, सातवा लेखन और आठवा रसावर्तन ॥१३—१५॥

चित्र-कर्म का यह सग्रह जो क्रमश सूत्रित करता है वह कभी मोह को नही प्राप्त होता है और वह कुशल चित्रकार होता है ॥१६॥

अथ भूमिबन्धन-लक्षण

अब वर्तिका का लक्षण और भूमि-बन्धन का लक्षण वर्णन किया जाता है ॥१॥

गुल्मो के अन्तर मे, शुभ क्षेत्र मे पद्मिनो मे, नदी के तट पर, पर्वतो के कक्षो मे, वापिका और वनो के अन्तर मे और वृक्षो के मूलो मे जहा पर भौम लवण पिण्ड हो, इन क्षेत्रो मे जो मृत्तिका स्थिर, सुश्लिष्ठ (चिकनी) पाण्डर तथा नकरामयी होने पर मृदु एव चित्र व धोपयोगिनी हो इस प्रकार क्षेत्रानुसार मृत्तिका शुभ बताई गई है। उसको कूट कर पीसे फिर कल्क बनावे। भात का अर्थात् शालिभक्त का पूर्वोक्त भाग वहा पर देना चाहिये। ग्रीष्म-ऋतु मे सातवा भाग, शीतकाल मे पाचवा, शरद् मे छटा और वर्षा मे चौथा भाग ग्रहण करे। वर्तिका-बन्धन के लिये इस प्रकार की मृत्तिकायें दृढता को प्राप्त होती है। पुन वल्क-बन्धन मे पूर्ण कौशल की अपेक्षा होती है। रेखा-वतन मे—शिक्षा-काल मे, वर्तिका दो अगुल के प्रमाण से बनाई जाती है। कुछ रेखाओ मे वर्तिकायें तीन अगुल की बताई गई है। जहा तक पट-चित्र मे रेखाओ का प्रश्न है, उन मे चार अगुल के प्रमाण से करना चाहिय ॥१-६३॥

भूमि-बन्धन —अब भूमि-बन्धन-क्रिया का वर्णन करूगा। भूमि-बन्धन अर्थात् pictorial back ground मे विशेष कर जो आवश्यक एव अनिवार्य सामग्री होती है उसी से भूमि-बन्ध किया जाता है। पूण नक्षत्र-वारो मे और मागल्य दिवसो म याश करके कर्ता, भर्ता और शिक्षक नाना वर्ण के सुगंधित कुसुमो से और सुगन्धित धूपो स पूजन करके उसका आरम्भ करें। सर्व-प्रथम मान उन्मान-प्रमाण के अनुरूप भूमि आदि सब सामग्री का निक्षेप एव साधन जुटाकर पहले भूमि का विधान करे पुन सम्यक् आलोचन करके बुद्धिमान को फिर इस भूमि-क्रिया का आलोचन करके पश्चात् बन्धन-विधान करना चाहिये। कल्क के आचरण मे गहू क तडुल के सदृश अथवा तादृश मृत्तिका पीसकर कल्क बनाना चाहिये। फिर उसका पिण्ड बनाकर उसको धूप में सुखाना चाहिये। सुखाने के साथ साथ उसे श्रपण भी करे तथा गोला भो बनाता रहे। इस प्रकार

से चारो कोनो मे इसे सात दिन तक घिसना चाहिये फिर हाथ से उसे मलना चाहिये जिसमे यह भौम लवण-पिण्ड हो जावे । अथवा शिक्षिका-भूमि पर खर-बन्धन का निर्माण करना चाहिये। तथा पूर्वोक्त कल्क के निर्यास में दन्धन को फेंकना चाहिये। ग्रीष्म काल मे पाच भाग से प्रशस्त कहा गया है, शरद् मे ३½ अंशो से विधान है। अथच वर्षा-काल मे एक भाग के प्रमाण से देना चाहिये यह निश्चित क्रम है। पाचो भाग के प्रमाण से ग्रीष्म में विधान है। पूर्वोक्त विधान से भूमि मे बन्धन करना चाहिये। और रोमकूर्च (बुरश) से सूखी सूखी का क्रमश लेप करना चाहिये । इस प्रकार विचक्षणो को जल से हस्त-लाघव देना चाहिये। इस प्रकार से बनाया गया शिक्षिका-भूमि बन्धन श्रेष्ठ कहलाता है॥६३½—२३॥

कुड्य-भूमि-बन्धन—अब कुड्य-भूमि के बन्धन का यथावत वर्णन करते हैं। स्नुही-वास्तुक, कूष्माण्ड कुद्दाली—इन वस्तुओ को लाए, अपामार्ग अथवा गन्ने के रस में अथवा दुग्ध मे उनको सात रात तक रक्खे। शिशपा सन और निम्बा तथा त्रिफला और बहेडा इन का यथालाभ समान समान भाग लकर और कुटज का कषाय-क्षार-युक्त सामुद्रिक नमक से पहले कुड्य (दीवाल) को बराबर बनाकर फिर इन कषायो से सीचे। फिर स्थल पाषाण वर्जित चिकनी मिट्टी लाकर दुगना न्यास करके, बालुका-मृदा (बालुकामयी मिट्टी) का क्षोदन करना चाहिये । फिर कुकुभ, माष (उडद), शाल्मली श्रीफल इनका रस कालानुसार देना चाहिये। पूर्वकालानुसार से जिस प्रकार का भूमि-बन्धन बताया गया है उसी प्रकार का सब बालू से एकत्र करके पहले हाथी के चमडे की मोटाई के बराबर दीवाल को लेपे। पुन उसे दर्पण सदृश चिकना एव प्रस्फुटित कर देवे। विशुद्ध, विमल, स्निग्ध, पाडुर, मृदुल स्पष्ट- प्रथम प्रतिपादित कट-शर्करा (भुरभुरी मिट्टी) को विधि-पूर्वक कूट कर और घिसकर कल्क बनाना चाहिये और पूर्वोक्त प्रकार से भक्त-भाग का लेपन और निर्यास करना चाहिए, अथवा उसे कटशर्करा के साथ देना चाहिये। इस प्रकार विचक्षण लोग कुड्य का लेपन करते हैं। हल से हस्त-मात्र लेपन कर कट शर्करा देनी चाहिये । इस विधि मे कुड्य-बन्धन उत्तम सम्पन्न होता है ।२४—३५॥

पट्ट-भूमि-बन्धन —अब इस समय पट्ट भूमि का निबन्धन वर्णन करूगा। नीम के बीजो को इकट्ठा करके उनके मल को त्याग कर इस प्रकार से उनका छिलका निकाल कर अथवा शालि तडुलो को इन दोनो मे से एक को पीसकर बर्तन में पकावे। बधन से पट्ट को लेपकर पूर्वोक्त-विधान समाचरण करे।

पूर्वोक्त प्रकार से कटशर्करा को निर्यासित करके फिर पानी से पट्ट को भिगोकर पट्ट का ग्रालेखन करे। इस विधि से चित्र-कर्म में बधा प्रशस्त होता है ग्रथवा दूसरी विधि से पट्ट भूमि-बन्धन करना चाहिये। तालादि-पत्रो के निर्यास समुचित बनाकर तदनन्तर निर्यासयुत कटशर्करा तीन बार देना चाहिये। इस प्रकार से यह पट्ट-भूमि-बन्धन विशेष-रूप से प्रयत्न पूर्वक बनावें।

पट-भूमि बन्धन —जैसा पट्ट-भूमि-बन्धन मे गोमय ग्रादि निर्यास का विधान है उसी प्रकार पट-भूमि-बन्धन भी विहित हैं

"यथा पट्टे तथैव स्याद् भूमि बन्ध पटेऽपि स।

इस प्रकार से हमने चित्राङ्ग विशेष—वर्तिका एव भूमि-बन्धन के सब साधनो एव साध्यो का लक्षण-परस्पर वर्णन किया। जो शिल्पी इस चित्र-क्रिया मे कौशल से कर्म करता है वह विधाता की इस सृष्टि मे बडी कीर्ति पाता है ॥३६—४३॥

लेप्यकर्मादिक-लक्षण

मृत्तिका और लेखा के लक्षण के साथ अब लेप्य-कर्म का वर्णन किया जाता है ॥ ½ ॥

वापी, कूप, तडाग,पद्मिनी, दीर्घिका, वृक्ष-मूल, नदी-तीर और उसी प्रकार गुल्म-मध्य–ये तत्वपूर्वक मृत्तिकाओं के क्षत्र बताये गये है ॥½—२॥

उक्त मट्टियो के रंग विभिन्न प्रकार के होते हैं –सित (सफेद), क्षौद्र-सदृश गौर और कपिल ये चिकनी मिट्टियां ब्राह्मण आदि वर्णों मे क्रमश प्रशस्त मानी जाती हैं ॥ ३ ॥

यथाशास्त्रानुकूल स्थूलपाषाण-वर्जिता मत्तिका लेनी चाहिय ।

शाल्मली (सेमल), माष (उडद), ककुभ, मधूक (महुआ) तथा त्रिफला इन वृक्षों का रस उस मिट्टी पर डाल कर और बालू को भी मिला कर घोडे के सटा-लोम अथवा गौओं के रोम या नारियल का बकला देना चाहिये और मिट्टी मे मिल कर फेटना चाहिए अथवा उसमे दूनी भूसी मिलानी चाहिय और जितनी बालुका हो उतनी ही मिट्टी मिलानी चाहिए। मिट्टी में कपास के दो भाग मिलाने चाहिएँ। इन सब का एकत्रित करके तीसरा मिट्टी का भाग ऊपर फेंकना चाहिए। तदनन्तर पूर्वोक्त कटशर्करा का रखकर कल्क बनाना चाहिए और उसे कपडे से ढक देना चाहिए।

लेप्य कम मत्तिका-निर्णय के लिय शिल्प-कौशल के साथ साथ आवश्यक विधान भी अनिवार्य है। ब्रुश से कट-शर्करा का लिम्पन, मृत्तिका-स्वायादि अन्य उपादान भी मानादि के साथ २ भी उपादय हैं

शास्त्र प्रतिकूलाचरण से कर्त्ता का नाश भी प्राप्त होता है ॥४—१२½॥

अब लेखा का लक्षण ठीक तरह से बताया जाता है। पहला कूर्च अथवा कूर्चक, दूसरा हस्त-कूचक, तीसरा भास-कूर्चक चौथा चल्ल-कूचक, पाचवा वनना-कूर्चक ये पाँच प्रकार के कर्चक (ब्रुश) बनाये गए हैं।

बैल के कान के रोमो से बना हुआ कूचक बुद्धिमान मनुष्य को धारण करना चाहिए।

अथवा उसे वल्कलों से अथवा खरकेशरों से बनाना चाहिए। कूर्चक सिद्ध-हस्त के द्वारा जो बनाया जाता है वह प्रशस्त होता है।

तन्तु से कूर्चक विलेखा-कर्म में श्रेष्ठ होता है। पहला वट-वृक्ष के अंकुर के आकार वाला और दूसरा पीपल-वृक्ष के अंकुर के आकार वाला और तीसरा प्लक्ष के अंकुर के आकार वाला, पुन चौथा उदुम्बर (गूलर) वृक्ष के अंकुर के आकार वाला बताया गया है। वटांकुर-सदृश आदि कूर्चक से मोटी लेखा नहीं बनाना चाहिए और प्लक्ष के अंकुर के समान छोटी लेखा नहीं होनी चाहिए। पीपल के अंकुर के समान जहां पर विद्वान लोग लेखा करते हैं वहां गूलर (उदुम्बर) के अंकुर के आकार वाला कूर्चक लेप्य-कर्म में प्रशस्त माना जाता है। बांस का कूर्चक भी चित्र-कर्म में प्रशस्त माना गया है। कूर्चक के दण्ड में वास्तव में वेणु (बांस) की ही लकड़ी विशेष श्रेष्ठ मानी गयी है ॥१२३-२२३॥

लेप्य-कर्म संक्षेप से बताया गया। पुन मिट्टी की संस्कार-विधि बताई गई। अथवा यहां पर ठीक तरह से विलेखनी और कूर्चक की पांच प्रकार की रचना सम्यक् प्रकार से वर्णन की गई है ॥२३॥

अथाडण्क-प्रमाण-लक्षण

अब प्रक्रम-प्राप्त अण्डक-बनना का वर्णन किया जाता है तथा जातिभाव आदि से सम्बन्धित का प्रमाण भी वर्णित किया जाता है ।।१।।

टि० द्वितीय श्लोक भ्रष्ट है अत अननूद्य ।

शास्त्रानुकूल प्रमाण से गोले का प्रमाण उत्तम बताया गया है । उसी के अनुसार मान और उन्मान बनाना चाहिये ।।२—३।।

मुखाण्डक अर्थात प्रधान अण्डक का विस्तार छै भाग समित विहित है और दो भाग म मित लम्बाई विहित है। सात गोले बनाने च हिये और इसी प्रकार से बाकी का सस्थान इस प्रधान अण्डक के निर्माण से चित्र-कम मे उत्तम बताया गया है । तीन कोटि का वृत्त आलखन करके और अण्डक क्रमश बनाने चाहियें । नाना-विध अण्डको का निर्माण चित्र-कम मे आवश्यक है । अण्डक का अर्थ है बादामा । बिना पहिले सोच-विचार के चित्र-न्यास असभव है । अ घे गोले के आयाम से अनसाण्डक बताया गया है और नौ गोले की मोटाई से हास्य ण्डक होता है । पुरुषाण्डक का मान छै गोलो से आयात और पाच गोलो से विस्तृत होता है । वनिताण्डक नारियल के फल-सदृश आलेख्य होना है । उसका विस्तार चार गोलो से और लम्बाई पाच गोलो से होनी है । शिशुओ का अण्डक चित्र-कम मे निश्चय ही करना चाहिय। हास्याण्डक भी उसी प्रकार अनिवार्य है । इसी प्रकार स आलस्याण्डक तथा रोदनाण्डक करना चाहिय । हास्याण्डक भी शास्त्रानुकूल विनिर्मेय है । देवाण्डक प्रमाण आलस्य के समान बताया गया है। वह छै गोलो के विस्तार से और आठ गोलो की लम्बाई से सम्पन्न होना है । वृत्तायत समालेख्य दिव्याण्डक बताया गया है ।।४-१३।।

अब दिव्य और मानुष अण्डको का लक्षण कहता हू । आधे गोले से अधिक मानुषाण्डक के प्रमाण से उसे बनाना चाहिये । पाच गोलो से विस्तीर्ण और छै गोलो से आयत मुखाण्डक को मानुष-रूप बनाकर उसे पूर्ण बनाया जाता है । शिशुकाण्डक-प्रमाण मे प्रमयो का मुखाण्डक होता है। राक्षसाण्डक-प्रमाण से यातुधानाण्डक होता है । देवो के मुख-सदृश दानवाण्डक बनाना चाहियें और

उसी के समान गन्धर्वों, नागो और यक्षो के अण्टक होते हैं। विद्याधरों का दिव्य-मानुष-अण्डक समझना चाहिये ।१४—१८½॥

कोई लोग शास्त्र जानते हैं, कोई लोग कर्म करते हैं। जो इन दोनों चीजों (शास्त्रार्थ ज्ञान और कर्म-कौशल) को करामलकवत् नहीं जानते हैं पुन वे शास्त्रज्ञ होकर भी कर्म को नहीं जानते और कर्मज्ञ होते हुये शास्त्र को नहीं जानते और जो दोनो को जानते हैं वे ही श्रेष्ठ चित्रकार कहलाते हैं ॥१८½-२०½॥

टि० इस अध्याय मे कुछ विगलन प्रतीत होता है जैसा हमने मूल मे अपने परिमार्जित सस्करण मे निर्दिष्ट किया है।

चित्रकर्म-मानोत्पत्ति-लक्षण

चित्र-कर्म मानोत्पत्तिलक्षण —अब परमाणु आदि जो मान-गणना होती है उसका वर्णन करता हूं ॥१॥

परमाणु, रज, रोम, लिक्षा, यूका, यव, अगुल क्रमश अठगुणी वृद्धि मे इस प्रकार से मान का अगुल होता है—अर्थात ८ परमाणु का रज, ८ रज का रोम, ८ रोम की लिक्षा, ८ लिक्षा की यूका, ८ यूका का यव और ८ यव का अगुल होता है। दो अ गुल वाला गोलक समझना चाहिये। अथवा उसको कला कहा जाता है। दो कलाओ अथवा दो गोलकों, किसी इन दोनो मे से, उस प्रमाण एव भाग तथा उसी प्रमाण से एव आयाम से विस्तार का न तो कम न ज्यादा चित्र-निर्माण करना चाहिये ॥२-४½॥

देवता आदि के शरीर विस्तार से आठ भाग वाले होते हैं और उनका यह शरीर चित्र-शास्त्रियो को तीस भाग की लबाई से बनाना चाहिये। असुरो का शरीर तो साढे सात भागो से विस्तृत और उन्तीस भाग से लबा बनाना इष्ट बताया गया है। राक्षसो का शरीर सात भाग से विस्तृत और सत्ताईस भाग से आयत होना है और दिव्य-मानुष के शरीर ला शास्त्रानुकूल विहित है। छै भाग से विस्तृत मनुष्यो का करना चाहिये और उनकी लबाई साढे चौबीस भागो मे उन न चाहिय। यह मान हमने उत्तम पुरुष का बताया है। मध्यम पुरुष का तो विस्तार साढे पाच भाग का होता है और उसका आयाम तो २३ भागो का बताया गया है और कनिष्ठ शरीरो का विस्तार पाच भाग के प्रमाण का होता है और इस शरीर का आयाम बाईस भागो का प्रशस्त माना गया है। कुब्जो (कुबडो) के शरीर का विस्तार पाच भाग से और दैर्घ्य चौ ह भागो से बनाना चाहिये। अन्य विकल्प-प्रमाण जैसे वामनादि अर्थात् बौनो के भी शास्त्रानुसार विनिर्णय हैं। किन्नरो का भी यही प्रमाण बताया गया है। प्रमथो के शरीर का विस्तार तो चार अशो से बताया गया है और लबाई छै अशो मे। यह मलय र हमने देह के प्रमाण को भाग-सूत्र बताया। देवो का, असुरों का

और उसी प्रकार राक्षसो का, दिव्य-मानुषो का, मर्त्यो का तथा कुब्जो और वामनो, इन दोनो का भी और भूतो सहित किन्नरो का क्रमश इसमे उदाहरण दिया गया ॥४½—१७½॥

टि० यहा पर अण्डक-वर्तन अथवा उसका विलेखन-क्रम आपतित सा प्रतीत होता है ।

अब मानोत्पत्ति का यथावत वर्णन करता हू। देवो के तीन रूप होते हैं। मुरज, . .(?) तथा कुम्भक, दिव्य-मानुष का एक दिव्य-मानुष शरीर, असुरो के तीन रूप—चक्र, उत्तीर्णक और दुर्दर तथा राक्षसो के फिर दो—शकट और कूर्म। मनुष्यो के पाच रूप होते हैं जिनका क्रमश वर्णन करता हूँ :—

हस, शशक, रूचक, मालव्य तथा भद्र—ये पाच पुरुष होते हुए ॥१७½-२१॥

कुब्जक दो प्रकार के—मेघ तथा वृत्तक; वामन तीन प्रकार के—पिण्ड, आस्थान और पद्मक, प्रमथ भी तीन प्रकार के है—कुष्माण्ड कर्वट तथा निर्यग्, किन्नर भी तीन प्रकार के होते हैं—मयूर, कुक्कुट और वाश ॥२२-२३॥

स्त्रिया—बलाका, पौरुषी वृत्ता, दण्टका तथा ? ये चित्र-शास्त्रियों के द्वारा सब पाच प्रकार की बताई गई हैं ॥२४॥

भद्र, मन्द, मृग और मिश्र—यह चार प्रकार का हाथी होता है और उत्पत्ति के हिसाब से यह तीन प्रकार के बताये गये है—पर्वताश्रय नद्याश्रय, ऊषराश्रय। पारस (फारस) से लगा कर उत्तर (देश वासी) तक रम्य घोडे दो प्रकार के होते हैं। सिंह चार प्रकार के होते हैं—शिखराश्रय, विलाश्रय, गुल्माश्रय और तृणाश्रय। व्याल सोलह प्रकार के होते है—हरिण, गृधक, शुक, कुक्कट, सिंह, शार्दूल, वृक, अजा, गडकी, गज, क्रोट, अश्व, महिष, श्वान, मर्कट और खर ॥२५-३०॥

टि० अग्राश (२८½—३०) पुनरुक्त एव भ्रष्ट भी अत अनुवादानपेक्ष्य।

विशेष —इस मूलाध्याय का ३१-३८½ प्रतिमा-लक्षण-नामक अध्याय का प्रक्षिप्ताश है, अत वह तत्रैव परिमार्जित सस्करण मे प्रतिष्ठित किया गया है।

इस प्रकार सभी जातियो को दृष्टि मे रखकर यह सब मान-प्रमाण कहा गया। दिव्य आदि सभी जातियो का जो अखिल मानादि-कीतन किया, उसका स्फुट-रूप से समझ कर जो चित्रालेखन करता है उस के लिए सभी चित्रकार उस को अपना प्रधान मानते है तथा महान आदर करते है ॥३१॥

रसदृष्टि-लक्षण

चित्र-रस —अब रसो का और दृष्टियों का यहा पर इस वास्तु-शास्त्र मे लक्षण कहूगा। क्योकि चित्र मे रस के आधीन ही भाव-व्यक्ति होती है। शृगार, हास्य, करुण, रौद्र, प्रेय, भयानक, वीर, प्रत्याय (?) और वीभत्स तथा अद्भुत और शात-ये ग्यारह रस, चित्र-विशारदो के द्वारा बताये गये हैं। अब इन सब रसो का क्रमश लक्षण कहा जाता है ॥१—३॥

शृगार —भ्रूकम्प-सहित तथा प्रेम-गुणान्वित शृगार रस बताया गया है और इस रस मे अपने प्रिय के प्रति मनोहर (ललित) चेष्टाये होती है ॥४॥

हास्य —अपाग आदि को ललित एव विकसित करने वाला तथा अधरो को स्फुरित करने वाला, मृदु लील-सहित जो रस होता है, वह हास्य रस के नाम से पुकारा जाता है। ५॥

करुण —आसुओ से कपोल-प्रदेश को मलिन करने वाला, शाक स आखो को सकुचित करने वाला और चित्त को सताप देने वाला करुण-रस कहलाता है ॥६॥

रौद्र —जिस रस से ललाट-प्रदेश निमार्जित हो जाता है, आखें लाल हो जाती हैं, अधरोष्ठ दातो मे काट जाते हैं, उसे रौद्र-रस कहते है ॥७॥

प्रेमा-रस —अर्थ-लाभ, पुत्र-उत्पत्ति, प्रिय-जनो का समागम और दर्शन, जान-हर्ष से उत्पन्न होने वाला तथा शरीर को पुलकित करने वाला प्रेमा-रस कहा जाता है ॥८॥

भयानक —शत्रु-दर्शन से उत्पन्न त्रास एव सम्भ्रम से लोचनो को उद्भ्रान्त करने वाला और हृदय को सक्षुब्ध करने वाला भयानक रस कहलाता है ॥९॥

वीर —धैर्य, पराक्रम एव बल को उत्पन्न करने वाला-वह रस वीर के नाम से प्रसिद्ध होता है ॥१०॥

टि० —यहा पर वीर के बाद अन्य दो रसो का लोप हो गया है। ग्रन्थ भ्रष्ट एव गलित है।

अद्भुत-रस —दो तारकाओं को स्तिमित करने वाला, यह रस असम्भाव्य वस्तु को देखकर अद्भुत-रस की संज्ञा से प्रसिद्ध होता है ।।११।।

शान्त-रस —बिना विकारों के शान्त एवं प्रसन्न भ्रू नेत्र तथा वदन आदि से एवं विषय-वैराग्य से यह रस शान्त-रस के नाम से प्रथित होता है ।।१२।

इस प्रकार चित्र-प्रयोग में सलक्षण इन रसों का प्रतिपादन किया गया है। मानव-सम्बन्ध-पुरस्सर सब सत्वों अर्थात प्राणियों मे इनको नियोजित करना चाहिये ।।१३।।

चित्र-रस-दृष्टियां —अब रस-दृष्टियों का वर्णन करता हूँ। ये अठारह *बताई गई हैं* —

(१) ललिता (२) हृष्टा, (३) विकासिता, (४) विकृता, (५) भ्रुकुटि, (६) विभ्रमा, (७) सकुचिता, (८) छविता (?) (९) ऊर्ध्वगता, (१०) योगिनी, (११) दीना, (१२) दृष्टा, (१३) विह्वला, (१४) शकिता, (१५) विकिह्या, (?), (१६) जिम्हा, (१७) मध्यस्था एवं, (१८) स्थिरा—ये अठारह दृष्टियां होती है। अब इनका क्रमशः लक्षण कहा जाता है।।१४ १६।।

ललिता —विकसित-मुखाब्ज, कटाक्ष विक्षेप वाली शृंगार रस से उत्पन्न ललिता दृष्टि समझनी चाहिये ।।१७।।

हृष्टा—प्रिय-दर्शन पर प्रसन्न और पूववत रोमाञ्च करने वाली तथा अपागों को विकसित करने वाली हृष्टा नाम की दृष्टि प्रसिद्ध होती है ।।१८।।

विकासिता —नयन-प्रान्तों को विकसित करने वाली तथा अपांगों, नयनों एवं गण्ड-स्थलों को विकसित करने वाली क्रीडा-चापल्य-युत हास्य-रस मे विकासिता दृष्टि होती है ।।१९।।

विकृता —भय को व्यक्त करने वाली और जिस में तारकयें भ्रान्त होने लगती हैं, उस भयानक रस में इस दृष्टि को विकृता नाम से पुकारा जाता है।।२०।।

भ्रुकुटि —दीप्त ऊर्ध्वतारका के रक्त वर्ण होने से मन्द-दशना तथा ऊर्ध्व-निविष्टा दृष्टि को भ्रुकुटि बताया गया है ।।२१।।

विभ्रमा —सत्व-स्था, दृढ-लक्ष्मा, सुन्दर-तारका, सौम्या एवं *उद्वेलिता* इस दृष्टि को विभ्रमा नाम से बताई गई हैं ।।२२।।

सकुचिता :—मन्मथ-मद से युक्त, स्पर्श-रस से उन्मीलित, दोनों अक्षि-पुटों वाली, सुरतानन्द से युक्त सकुचिता नाम की यह दृष्टि विख्यात होती है ।।२३।।

योगिनी –निर्विकारा, कही पर नासिका के अग्र भाग को देखने वाली अर्थात् ध्यानावस्थित चित्त के तत्व मे रममाणा योगिनी नाम की दृष्टि होती है ॥२४॥

दीना –अर्ध-अस्तोत्तर पुटा अर्थात् ओष्ठादि-वदन अवनत से प्रतीत हो रहे हो पुन कुछ मरुद्ध-तारका, मन्द सञ्चारिणी, शाक मे आसुओ से युक्ता, दीना नाम की दृष्टि कही गई है ।२५॥

हृष्टा —जिसकी तारकायें स्थिर हो और जिसकी दृष्टि स्थिर एव विकसित प्रतीत हो रही हो, वह उत्साह से उत्पन्न होने वाली दृष्टा नाम की दृष्टि बताई गई है ॥२६॥

विह्वला —भ्रू-पुट तथा पक्ष्मो को म्लान करने वाली, शिथिला, मन्द-चारिणी तथा तारकाओ से आभासित वह विह्वला नाम की दृष्टि बताई गई है ॥२७॥

शंकिता –कुछ चञ्चल, कुछ स्थिर, कुछ उठो हुई, कुछ टेढी-मेढी और चकित-तारा दृष्टि को शकिता नाम से पुकारते हैं २८॥

जिह्मा —जिसके मुखाङ्ग सर्भा पुट लम्बित हो रहे हो, दृष्टि टेढी तथा रुक्षा दिखाई पड रही हो, ऐसी निगूढा और मूढ-तारा को जिह्मा दृष्टि कहते हैं ॥२६–३०॥

मध्यस्था —सरल-तारा, सरल-पुटा, प्रसन्ना, राग-रहिता, विषय-पराङ्मुखा ऐसी मध्यस्था दृष्टि कहलाती है ॥३१॥

स्थिरा —सम-तारा, सम-पुटा तथा सम-भ्रू वाली, अविकारिणी और रागो से विहीन स्थिरा दृष्टि कहलाती है ॥३२॥

हस्त से अर्थ को सूचित करता हुआ तथा दृष्टि से प्रतिपादित करता हुआ सब अभिनय-दर्शन से सजीव सा जो प्रतीत हो अथात जो नाटच मे अनिवार्य एव आवश्यक अग है, वही चित्र मे भी अनिवार्य है ॥३३–३४॥

इस प्रकार से यहा पर रसो का तथा दृष्टियो का सक्षेप से लक्षण कहा गया। लिखने वाला मनुष्य चित्र का यथावत् ज्ञान-सम्पादन करके कभी सशय को नही प्राप्त होता है ॥३५॥

षष्ठ पटल

चित्र एवं प्रतिमा—दोनो के सामान्य अङ्ग

१ प्रतिमा एव चित्र के द्रव्य

२. प्रतिमा एव चित्र में चित्र्य देवादिको के रूप एव प्रहरण आदि लाञ्छन

३ प्रतिमा एव चित्र के दोष-गुण

४ प्रतिमा एव चित्र की आदर्श आकृतिया (Models) एव उनके मान

५ प्रतिमा एव चित्र मे मुद्रायें —

(अ) शरीर मुद्रायें

(ब) पाद-मुद्रायें

(स) हस्त मुद्रायें

प्रतिमा-लक्षण

अब प्रतिमाओ—चित्रो का लक्षण कहता हू । उनके सात निर्माण-द्रव्य प्रकीतित किये गये है-वे है मुवर्ण (सोना), रजत (चांदी), ताम्र (तावा), अश्मा (पाषाण-पत्थर), दारु (लकडी), लेप्य अर्थात मत्तिका तथा अन्य लेप्य जैसे मालिक और ताण्डुल आदि तथा अलेख्य अर्थात चित्र । ये सब शब्यानुसार विहित एव निर्माण्य बताये गये हैं । । पूजा-चित्रो म इस प्रकार से ये प्रतिमा-द्रव्य सात प्रकार के बताये गये है । सुवर्ण पुष्टि प्रदायक माना गया है, रजत कीर्ति-वधन-कारी, ताम्र प्रजा-वृद्धि-कारक, शैलेय अर्थात पाषाण, भूज या वह वास्य-द्रव्य आयुष्य कारक और लेप्य तथा अलेख्य य दोनो धन प्राप्ति-कारक कहे गये है ॥ १—३ ॥

विद्वान ब्रह्मचारी और जितेन्द्रिय स्थपति को विधि-पूवक प्रतिमा-निर्माण तथा यह चित्र कर्म-प्रारम्भ करना चाहिये । वह हविष्य-नियताहारी तथा जप-होम-परायण और धरणी अर्थात् पृथ्वी पर सोने वाला होना चाहिये ॥४-५½॥

टि० पूर्वाध्याय के अन्तिम पृष्ठ पर जो प्रक्षेप बताया गया है वह यहा पर लाना प्रास गिक भान। गया है । अत वह यहा पर सयोज्य है —

"मुख का भाग से विधान है । ग्रीवा मुख से तीन भाग वाली बतायी गयी है। आयामानुरूप केशान्त पूरा मुख द्वादशागुल विस्तारानुरूप परिकल्प्य है। दोनों भौहो का प्रमाण त्रिभाग मे विहित है। नासिका भी त्रिभाग-परिकल्प्य है। उसी प्रकार ललाट का प्रमाण भी विहित है। ऊचाई में तीन के बराबर मुख कहा गया है । दोनो आखे दो अगुल क प्रमाण मे होनी हैं। उसका विस्तार आधा कहा गया है। अक्षि तारका आख के तीन भाग से सुप्रतिष्ठित करणीय है। पुन इन दोनो तारकाओ के मध्य मे ज्योति (आख की ज्योति) तीन अश से परिकल्प्य है। इसी प्रकार इन अखिल मुखागो का प्रमाणानुरूप परिकल्पन विहित है ॥५½-१०½

पाच अक्ष के प्रमाण से (?) दोनो का मध्य बनाना चाहिये । नेत्रो और कानो का मध्य पाच अगुल का होता है । ऊचाई से दुगने

आयत वाले दोनों कान आम के समान समझने चाहियें। कर्ण-पाली तथा उसके अन्य उपाम भी शास्त्रानुकूल निर्मेय हैं। वह खींचे हुए धनुष की आकृति वाली अरोम-प्रभवा समझनी चाहिये। इसी प्रमाण से इन का कर्ण-पृष्ठाश्रय भी होना चाहिये ॥१०½—१४॥

ऊर्ध्व-बध से कर्ण-मूल-समाश्रित अधोबध वह होता है। आधे २ से गोलक समझना चाहिये और पीछे से इसी प्रकार विधान है। निष्पाव के सदृश आकार वाली कर्ण-पिप्पली बनानी चाहिये। उसका आयाम एक अंगुल का और विस्तार चार यवों का होना चाहिये। पिप्पली के नीचे लाकर मध्य में लकार 'ल' इसकी संज्ञा लकार दी गयी है, इसका आयाम आधे अंगुल का और विस्तार पूरे अंगुल का होना चाहिये। बीच में जो लकार है उसका विस्तार चार यवों के निम्न से होता है। पिप्पली के मूल में चार यव के प्रमाण से कर्ण-छिद्र होता है। जो सृतिका की संज्ञा पीयूषी गोलाकार बनायी गयी है, वह आधे अंगुल से आयत और दो यवों के विस्तार से बनायी जाती है। लकार और आवर्त (परदा) के मध्य में उसको पीयूषी के नाम से पुकारते हैं। वह दो अंगुल के आयाम वाली और डेढ़ अंगुल के विस्तार वाली होती है। कान की जो बाह्य रेखा होती है उसको भी आवर्त कहते है। वह छै अंगुल का प्रमाण वाला वक्र और वृत्तायत होता है। मूल का अंश आधे अंगुल का बनाना चाहिये और क्रमश: मध्य में दो यव का। फिर आगे एक यव के प्रमाण के विस्तार से बनाया जाता है। लकार और आवर्त के मध्य को उद्यान के नाम से पुकारा जाता है। ऊपर से गोलक से दो यव से युक्त कर्ण का विस्तार होना है। मध्य में दुगुना नाल और मूल में छै यवों से इन दोनों समुदायों के प्रमाण से आयामादि विहित हैं। इसी प्रकार अन्य भाग विहित है। पश्चिम नाल एक अँगुल के प्रमाण से बनाया जाता है तथा दो सुकोमल नाल दो कलाओं के आयत से बनाना चाहिए। कान के भाग का इस प्रकार सम्यक वर्णन कर दिया गया। उसका प्रमाण तो कम और न अधिक होना चाहिये। तब उसका कौशल प्रशस्त माना जाता है, अन्यथा दूषित ॥५१-२१॥

चिबुक (ठोडी) अंगुल के आयाम से बनाया जाता है। उसके आधे से कन्धर बनाया गया है, फिर उसके आधे में उत्तरोष्ठ होता है और भाजी आधे अंगुल की ऊंचाई से बनायी जाती है। ओठों के चतुर्थ भाग से दोनों नासा-पुट समझने चाहिये। उनके दोनों प्रान्त करवीर के समान सुन्दर बनाने

तारकान्त-सम ही स्वक्वणी कही गयी है । चार अगुल के प्रमाण मे आयान नासिका होती है। पुट के प्रान्त पर नासिका का अग्र-भाग दो अगुल से विस्तृत होता है। आठ अगुल से विस्तृत चार अगुल मे आयत ललाट बताया गया है। चिबुक (ठोडी) से प्रारम्भ कर केशो के अन्त तक तथा गड तक पूरे शिर का प्रमाण बत्तीस अगुल का होता है। पुन दोनो कानो के बीच का विस्तार-प्रमाण अठारह अगुल होता है । चौबीस अगुलो का परिणाह होता है। गर्दन ग्रीवा से वक्ष-स्थल, पुन वक्ष स्थल से नाभि होती है। नाभि से मेढ, फिर दो जघाये, फिर ऊरुओ के समान दो जघाये, दो घुटने चार अगुल वाले होते हैं । चौदह अगुल के आयाम प्रमाण से दोनो पैर (पाद) बताये गय हैं और उनका विस्तार छँ अगुल का होना चाहिये और ऊचाइ चार अगुल की। पाच अगुल की मोटाई मे और तीन अगुल की लम्बाई म दोनो अगूठे होत हैं। अगूठे की लम्बाई के समान ही प्रदेशिनी (पहिली अगुली) है। उसके सोलह भाग से हीन बीच की अगुली, बीच की अगुली के आठवे भाग से हीन अनामिका को समझना चाहिए। फिर उसके आठवें भाग से हीन कनिष्ठिका अगुली समझनी चाहिये। विद्वान को पादरेख एव अँगुल के प्रमाण से अँगूठे का नख बनाना चाहिये और अँगलियो के नखो को आठ अशो के प्रमाण से बनाना चाहिये। अगूठे की ऊचाई एक अगुल एव तीन यवा के प्रमाण से बनाना चाहिये। प्रदेशनी एक अगुल की ऊचाई मे हीन शेष क्रमश । जघा के मध्य मे अठारह अगुल का परीणाह होता है और जानु के मध्य का परीणाह इक्कीस अगुल का होता है। उसी के सातवें भाग को जानु-कपालक समझना चाहिए। दोनो ऊरुवो के मध्य का परीणाह बत्तीस अगुल का होना चाहिये। वृषण पर स्थित मेढ़ का परीणाह छँ अगुल का होना है और कोष तो चार अगुल वाला तथा अठारह अगुल के विस्तार से कटि होती है ॥२२-३८॥

जहा तक स्त्री-प्रतिमाओ के निर्माण का विषय है वहा उसके विशिष्ट (पुरुष-प्रतिमा-व्यतिरिक्त) अग शास्त्रानुकूल निर्मेय हैं । नाभि के मध्य म छियालीस अगुलो का परीणाह होना है। स्तनो का अन्तर बारह अगुल के प्रमाण से बताया गया है। दोनो स्तनो के ऊपर तो दोनो कक्ष-प्रान्त छँ अगुल के प्रमाण से बनाये जाते हैं। ऊचाई से चौबीस अगुलो से युक्त पृष्ठ-विस्तार होता है और वक्षस्थल का परीणाह पृष्ठ के साथ बताया गया है। जहा तक स्त्री-प्रतिमाओ की अगुलियो के मान की बात है वह भी शास्त्रानुकूल है। बत्तीस अगुलो के परीणाह से विस्तृत ग्रीवा बनानी चाहिये। छियालीस अगुल के प्रमाण

से भुजा की लंबाई बतायी गयी है। बाहु के पहिले की पर्व अठारह अंगुल से और दूसरी पर्व तो सोलह अंगुल से बतायी गयी है। बाहु मध्य मे परीणाह १८ अंगुल का होता है और प्रबाहु का परीणाह बारह अंगुल से और तल भी बारह अंगुल के प्रमाण से बताया गया है। अंगुली-रहित, बुद्धिमानो के द्वारा उसे सप्तांगुल बताया गया है। पाँच अंगुल से विस्तीर्ण लेखा-लक्षण से लक्षित पाच अंगुल के प्रमाण से मध्यमा अंगुली बनानी चाहिए। मध्म के पर्व के आधे से आगे हीन प्रदेशिनी अंगुली समझनी चाहिए और प्रदेशिनी के समान ही आयाम से अनामिका विहित हैं। फिर आधे पर्व के प्रमाण से हीन कनिष्ठिका बनानी चाहिए। पर्व के आधे प्रमाण से अंगुलियों के सब नाखून बनाने चाहियें। इनका परीणाह आयाम-मात्र बताया गया है। अंगठ का दैर्घ्य चार अंगुलों का होता है। स्पष्ट चारु अर्थात् सुन्दर यवाकिन पञ्चांगुल इसका परीणाह विहित है। ऊंचाई के अनुकूल ही मान-पर्यन्त में कुछ हीन नख बताये गये हैं। अंगुष्ठ और प्रदेशिनी का अन्तर दो अंगुल का होता है ॥३९-५१॥

स्त्रियों का इसी प्रकार से स्तन, उरु, जघन अधिक होता है। तीन, चार, चार तीन, अथवा केवल चार अधिक होता है। ग्यारह, अथवा दस अथवा तेईस तेईस—यह सब स्त्रियों का कनिष्ठ मान बताया गया है और मध्य-मान ग्यारह अंश का होता है। आठ कला का मान उत्तम प्रमाण बताया गया है। उनके वक्षस्थल का विस्तार अठारह अंगुल से करना चाहिए और कटि का विस्तार चौबीस अंगुल में करना चाहिये ॥५२-५५॥

प्रतिमाओं का यह संक्षेप प्रमाण बताया गया है॥५६½॥

सकल देवो की पूजाओं मे क्रमश यह प्रमाण निर्दिष्ट किया गया। अत शिल्पियो को सावधानी से यथोचित द्रव्य-संयोग से इन प्रतिमाओं का निर्माण करना चाहिये ॥५७॥

देवादि-रूप-प्रहरण-संयोग-लक्षण

अब देवताओं के आकार और अस्त्र-शस्त्र का वर्णन करता हूँ और उसी प्रकार दैत्यों के, यक्षों के गन्धर्वों, नागों और राक्षसों के तथा विद्याधरों और पिशाचों के भी विवरण प्रस्तुत करता हूँ ॥१-५॥

ब्रह्मा -अग्नि की ज्वालाओं के सदृश महा तेजस्वी बनाने चाहियें और स्थूलांग श्वेत-पुष्प धारण किये हुए श्वेत-वस्त्र पहने हुए और कृष्ण मृग-चर्म को उत्तरीय (ऊर्ध्व वस्त्र) धोती के रूप में धारण किए हुए सफेद कपड़ा की ट्रैम में चार मुख वाले बनाने चाहिये। उनके दायें वाम हस्त में ... और कमण्डलु का न्यास करना चाहिए, उसी प्रकार उन्हें मौञ्जी मेखला और माला धारण किए हुए बनाना चाहिए और दक्षिण हाथ में ... की वृद्धि करते हुए बनाना चाहिए। इस प्रकार बनाने पर संसार में सब जगह क्षेम होता है और ब्राह्मण लोग सब कामनाओं से बढ़ते हैं, इसमें कोई शक नहीं। जब विरूप, दीना कृशा, रौद्रा, कृशोदरी यदि ब्रह्मा जी की प्रतिमा बनाई जाय तो वह ... कारक नहीं होती है। रौद्र-मूर्ति बनवाने वाले को मारती है और दीन-रूपा कारीगर को मारती है। कृशा मूर्ति बनवाने वाले को सदा विनाश प्रदान करती है और कृशोदरी तो दुर्भिक्ष लाती है और कुरूपा अनपत्यता को प्रदान करती है। इस लिये इन दोषों को छोड़ कर यह प्रतिमा ब्राह्म-प्रतिमा-निर्माण कुशल शिल्पियों द्वारा सुन्दर बनानी चाहिये ॥१½-६॥

शिव — प्रथम यौवन में स्थित चन्द्रांकित-जटा-धारी श्रीमान्, त्र्यक्ष, नीलकण्ठ विचित्र-मुकुट, निशाकर-चन्द्र सदृश तेजस्वी भगवान् शंकर की प्रतिमा बनानी चाहिये। दो हाथों से, चार हाथों से अथवा आठ हाथों से युक्त वह मूर्ति बनायी जानी चाहिए। पट्टिश शस्त्र से व्यग्र हस्त सर्पों और मृग-चर्म से युक्त, सर्व-लक्षण सम्पन्न तथा तीन नेत्रों से भूषित इस प्रकार के गुणों से युक्त जहां लोकेश्वर भगवान् शिव बनाये जाते हैं वहां पर राजा और देश अर्थात् राष्ट्र की परम उन्नति होती है ॥१०-१३½॥

जब नगर में अथवा श्मशान में महेश्वर की प्रतिमा बनायी जाती है ता

वहां भी यह रूप कुछ भिन्न बनाना चाहिये—विशेषकर आकृति एवं हस्त-प्रयोग। ऐसा रूप बनाने पर बनवाने वाले का कल्याण होता है। अठारह बाहु वाले अथवा बीस बाहु वाले अथवा शत बाहु वाले अथवा कभी सहस्र बाहु वाले, रौद्र रूप धारण किये हुए, गणों से घिरे हुए, सिंह-चर्म को उत्तरीय-वस्त्र के रूप में धारण किये, तीक्ष्ण दण्ट्रा के समान आग के दाँत वाले, शिखामालाओं से विभूषित चन्द्र से अंकित मस्तक वाले, श्रीमान, पीनवक्षस्थल तथा भयंकर दर्शन वाले इस प्रकार श्मशान स्थित भद्र-मूर्ति महेश्वर का निर्माण करना चाहिये। ॥१३½-१७½॥

दो भुजा वाले राजधानी में और पत्तन (शहर) में चतुर्भुज तथा श्मशान और जंगल के बीच में बीस भुजाओं वाले महेश्वर की प्रतिमा स्थापित करनी चाहिये ॥१७½-१८½॥

यद्यपि भगवान भद्र (शिव) एक ही है, स्थान भेद से वे भिन्न भिन्न रूप वाले तथा रौद्र और सौम्य स्वभाव वाले विद्वानों के द्वारा निर्मित होते हैं। जिस प्रकार से भगवान सूर्य उदय-काल में सौम्य-दर्शन होते हुये भी मध्याह्न के समय प्रचण्ड हो जाते हैं, इसी प्रकार अरण्य में स्थित वे भगवान् शंकर निरन्तर ही रौद्र हो जाते हैं। वही फिर सौम्य स्थान में अवस्थित होने पर सौम्य हो जाते हैं। इन सब स्थानों को जानकर किम्पुरुष आदि प्रमथों के सहित लोक-शंकर का निर्माण करना चाहिये। इस प्रकार से त्रिपुर-शत्रु भगवान् शंकर का यह संस्थान सम्यक् प्रकार से वर्णन किया गया है ॥१८½-२२॥

कार्तिकेय —अब इस समय कार्तिकेय भगवान् स्वामि-कार्तिकेय के संस्थान का वर्णन किया जाता है। तरुण-सूर्य सदृश, रक्त-वस्त्र धारण किये हुये, अग्नि के समान तेजस्वी, कुछ बालाकृति धारण किये हुए, सुन्दर, मङ्गल-मूर्ति, प्रिय-दर्शन, प्रसन्न वदन श्रीमान, ओज और तेज से युक्त विशेषकर चित्र-विचित्र मुकुटों और मुक्ता-मणियों से विभूषित छै मुख वाले अथवा एक मुख वाले रोचिष्मती-शक्ति अर्थात् अस्त्र को धारण किये हुये कार्तिकेय की प्रतिमा का संस्थान बताया गया है। नगर में बारह भुजाओं की मूर्ति बनानी चाहिये, खेटक में छै भुजाओं की स्थिति है। कल्याण चाहने वालों को ग्राम में दो भुजाओं वाली प्रतिमा का सन्निवेश करना चाहिये। शक्ति, शर, खड्ग, भुशुण्डी और मुद्गर—ये पाँचों आयुध इनके दक्षिण हाथों में दिखाने चाहिये। एक हाथ प्रसारित भी होना चाहिये। इस प्रकार से दूसरा छठा हाथ बताया गया है। धनुष, पताका,

घटा खेट, और कुक्कुट (जो Improvised object-weapan बोध्य है)–ये पाच आयुध बाये हाथ मे बनाये गय है। तो छठा हाथ वहा पर सवधनकारी हस्त (हस्त-मुद्रा) वाला होना है। इस प्रकार मे आयुधो से सम्पन्न, संग्राम-भूमि में स्थित बनाये जाते है। अन्य अवसर पर तो उन्हे क्रीडा और लीला से युक्त बनाना चाहिये। छाग (बकरा) कुक्कुट (मुर्गा) से युक्त तथा मयूर से युक्त मनो म भगवान स्कन्द का शत्रुओ पर विजय करने की इच्छा करने वाला का सभी नगरो मे बनाना चाहिये। खेटक मे तो षण्मुख, ज्वलन-प्रभ तथा तीक्ष्ण आयुधो से युक्त और पुष्प-मालाओं से सुशोभित बनाना चाहिए। ग्राम मे भी कान्ति और द्युति से युक्त उन्हे दो भुजा वाला बनाना चाहिये। दक्षिण हाथ म तो शक्ति होती है और वाम-हस्त मे कुक्कुट। इस प्रकार से विचित्र पक्ष बडे महान तथा सुन्दर विनिर्मित है। पुर मे खेटक मे और ग्राम म इस प्रकार शास्त्रज्ञ आचार्य, भगवान् भगवत्को कार्तिकेय की मूर्ति का निर्माण करते है। अविरुद्ध कार्यो मे खेट, ग्राम तथा उत्तम पुर म कार्तिकेय का यह संस्थान प्रयत्न-पूर्वक करवाना चाहिये ॥२३-३५॥

बलराम–बल राम तो सुन्दर भुजाओ वाले तालकेतु धारण किये हुए महामुनि वन म ला-कुन्त-वक्षस्थल वाले चन्द्र-सदृश-कान्ति वाले, हल और मुसल धारण करने वाले, महान घमंडी चतुर्भुज सौम्य-मुख, नीलाम्बर-वस्त्र-धारी, मुकुट एव अलका तथा चन्दन म विभूषित रेवती-सहित बलदाऊ की मूर्ति का निर्माण करना चाहिय ॥३६-३८॥

विष्णु–विष्णु वडूय-मणि के सदृश पीताम्बर धारण किये हुए लक्ष्मी के साथ, वाराह रूप मे, वामन-रूप मे अथवा भयानक नृसिंह-रूप मे अथवा दाशरथि राम-रूप मे वीर्यवान जामदग्नि क रूप म, दो भुजा वाले अथवा आठ भुजा वाले अथवा चार बाहु वाल और दस, शख, चक्र, गदा को हाथ मे लिये हुये ओजस्वी कान्तिमान नाना-रूप-धारी इस रूप में प्रतिमा मे विभाव्य है। इस प्रकार से सुरो और असुरो से अभिनन्दित भगवान् विष्णु की प्रतिमा का सन्निवेश करना चाहिए ॥३९-४२½॥

इन्द्र –देव श्रीमान इन्द्र वज्र धारण किये हुये, सुन्दर हाथो वाले, बलवान किरीट धारी गद-सहित श्रीमान श्वेताम्बर-धारी, श्रोणि सूत्र म मण्डित, दिव्या-भरणो मे विभूषित, पुरोहित-सहित, राज-लक्ष्मी से युक्त, इन्द्र को बनवाना चाहिये ॥४२½-४४½॥

यम –वैवस्वत यम-राज (धर्मराज) समझना चाहिये। तेज में सूर्य के सदृश, सुवर्ण-विभूषित सम्पूर्ण चन्द्र के समान मुख वाले पीताम्बर-वस्त्र-धारी और सुदर्शन, विचित्र मुकुट वाले तथा वरागद-विभूषित बनाना चाहिये ॥४४३-४६३॥

ऋषि-गण –तेज से सूर्य के सदृश बलवान एवं शुभ भरद्वाज और धन्वन्तरि बनाने चाहियें। दक्ष आदि आर्ष प्रजापति भी इसी प्रकार परिकल्प्य हैं ॥४६३-४७॥

अग्नि—ज्वालाओं से युक्त, अग्नि की प्रतिमा बनानी चाहिये। इसकी वैसे तो कान्ति तो सौम्य ही होनी चाहिये ॥४८३॥

राक्षसादि—ये रुद्र-रूप-धारी, रक्त-वस्त्र धारण करने वाले, काले, नाना आभूषणों एवं आयुधों से विभूषित सब राक्षस बनाने चाहियें ॥४८३-४९॥

लक्ष्मी—पूर्ण चन्द्र के समान मुख वाली, शुभ्रा, स्निग्धोष्ठी, चारु-हासिनी श्वेत-वस्त्र-धारिणी सुन्दरी, दिव्य अलंकारों से विभूषिता कटि-देश पर निवेशित वाम-हस्त से सुशोभिता एवं पद्म लिये हुये दक्षिण हाथ से सुशोभिता एवं शुचि-स्मिता, प्रसन्न-वदना लक्ष्मी प्रथम यौवन में स्थिता बनानी चाहियें ॥५० ५२३॥

कौशिकी—शूल, परिघ, पट्टिश पादुका, ध्वजा आदि लक्ष्मों से लाञ्छित कौशिकी का निर्माण करना चाहिये। पुनः उसके हाथों में खेटक, लघु खड्ग, तथा सौवर्णी घण्टा होनी चाहिये। वह घोर-रूपिणी परिकल्प्य है। उसके वस्त्र पीत एवं कौशेय होने चाहियें तथा उसका वाहन भगवती दुर्गा के समान सिंह होना चाहिये ॥५२३-५४३॥

अष्ट दिक्पाल—आठों दिक्पाल—शुक्लाम्बर-धारी, मुकुटों से सुशोभित एवं नाना रत्नों से मण्डित इन आठों दिक्पालों का निर्माण करना चाहिये॥५४३-५५३॥

अश्विनौ—संसार के कल्याण-कारी दोनों अश्विनियों को एक ही समान बनाना चाहिये। वे शुक्ल माला और शुभ वस्त्र धारण किये हुये स्वर्ण कान्ति वाले निर्मेय हैं ॥५५३-५६३॥

पिशाच एवं भूत-गण :–इनके दांत भयंकर तथा विचित्र होने हैं। इनके बाल मेचक-प्रभ प्रदर्श्य हैं। इनका वर्ण वैदूर्य-प्रकाश होना चाहिये इनकी मूछें हरी परिकल्प्य हैं। रंग रोहित एवं आकृति भयावह लोचन लाल, रूप नाना-विध एवं भयकर भी प्रदर्श्य हैं। इनके सिरों पर नरों का प्रदर्शन भी अनिवार्य है। इनके वस्त्र भी अनेक रूप हो सकते हैं। इनका रूप भयंकर पर ढाल भी ये

ये परुष, असत्य-वादी, भयकर आदि रूपो मे निर्मेय हैं । साथ ही साथ भूतो की प्रतिमाओं में वैशिष्टय यह है कि वे भी बडे भयकर उग्र-रूप तथा भीम-विक्रम *विकृतानन, मघ-रूप मे, यज्ञोपवीत धारण किये हुए, कवचो को लिये हुए तथा* शाटिकाओ से शोभ्य ऐसे भूतो तथा उनके गणो को बनाना चाहिये ।।५६३-६०।।

अब जो सुर और असुर नही बताये गये हैं, उनको भी कार्यानुरूप बनाना चाहिये और जिस असुर और सुर का लिङ्ग हो राक्षसो और यक्षो, गन्धर्वों और नागो का जो लिंग हो, विशेषज्ञ लोग उनका निर्माण करें । प्राय पराक्रमी, क्रूरकर्मा दानव लोग होते हैं, उन्हें किरीट-धारी तथा विविध आयुधो से सुसज्जित बाहु वाले बनाना चाहियें । उनसे भी कुछ छोटे और गुणो मे भी *छोटे दैत्य लोग बनाने चाहियें । दैत्यो से छोटे मदोत्कट यक्ष लोगो का निर्माण* करना चाहिये । उनसे हीन गन्धर्वों और गन्धर्वो से हीन पन्नगो और उनसे हीन नागो को बनाना चाहिए । राक्षस तथा विद्याधर लोग यक्षो से हीन देह धारी बनाये *गये हैं। चित्र-विचित्र माला एव वस्त्र धारण किये हुये तथा चित्र-विचित्र तलवारो* और चमडो को लिये तथा नाना वेष धारण करने वाले भयानक घोर रूप भूत सघ होते हैं । वे पिशाचो से भी अधिक मोटे और तेज से कठोर होते हैं ।। ६१-६७ ।।

विशेष सकेत यह है कि न तो अधिक न कम प्रमाण, पुरुष वेष इन सुरासुर गणो की प्रतिमाओ मे यह परिकल्पन आवश्यक है ।।६८३।।

टि० अन्तिम श्लोक अर्धमात्र एव गलित है ।

पञ्च-पुरुष-स्त्री-लक्षण

हंस-प्रभृति पाच पुरुषो और दण्डिनी-प्रभृति पाचों स्त्रियो के देह-बन्धाधिक का वर्णन करता हूं। हंस, शश, रूचक, भद्र, और मालव्य ये पाच पुरुष बताये गये है ॥१॥

हंस —उनमें हंस-नामक पुरुष का मान बताया जाता है। हंस का आयाम ८८ अगुलो का बताया गया है। अन्य चार पुरुषो का आयाम क्रमश दो दो अगुल की वृद्धि से समझना चाहिए। उसका ललाट ढाई अगुल के प्रमाण से तथा नासिका और ग्रीवा तथा वक्ष-स्थल ग्यारह अगुल के आयाम से होता है। इस प्रकार उदर, नाभि, और लिंग का अन्तर दश अगुलो के प्रमाण का होता है। ऊरू बीस अगुल और जघा तीन अगुल और जानु पाच अगुल और दो अगुल का शिर। केशान्त प्रमाण अपने मानानुसार सबसे अधिक होता है। उसी के बीस अगुल के प्रमाण से वक्षस्थल का विस्तार होता है। हस के हाथो का विस्तार बारह अगुल का होता है। दोनो प्रकोष्ठ दश अगुल के प्रमाण से विहित है। अलग २ श्रोणि नितम्ब आदि प्रदेश मानानुसार विहित होते है ॥२-८॥

शश —हस के स्वभाव के विपरीत तथा अपने के अनुसार ही यह शश रूप विहित है। तथैव उसके अग निर्मेय हैं। शास्त्रानुकूल तीन अगुल के प्रमाण से (?) नासिका और मुख होता है। ग्रीवा भी उसी प्रमाण वाली होती है, वक्ष-स्थल तो ग्यारह अगुल के प्रमाण से होता है तथा उदर और नाभि और मेढ़ का अन्तर दश अगुल होता है। दोनो ऊरू बीस मात्रा, शश-नामक पुरुष की बतायी गयी है और दोना जानु बीस अगुल की और दोनो जघा बीस मात्रा की। दोनो गुल्फ तीन अगुल के आयाम वाले और शिर भी उसी प्रमाण का होता है। इस प्रकार से इस शश-नामक पुरुष का आयाम ९० (नब्बे) अगुल के प्रमाण से होता है। इस का वक्षस्थल बाईस अगुल के प्रमाण का बताया गया है। बाहु, प्रबाहु और पाणि, हस के समान शश के भी होते हैं। समयानुसार एव स्वभावानुरूप वह कृशोदर अर्थात् दुबला बनाना चाहिये—ऐसा विचक्षण विद्वानो ने बताया है ॥१४॥

रुचक —रुचक नामक पुरुष का मुखायाम साढे दस अंगुल के प्रमाण से बताया गया है। इसकी ग्रीवा साढे तीन अगुल के प्रमाण मे बनायी गयी है। उसका वक्षस्थल ग्यारह अगुल का और उसी प्रकार मे उदर। नाभि और मेढ़ का अन्तर दस अगुल का बताया गया है। ऊरू बीस अगुल और जानु तीन अगुल और उनकी दोनो जघाओ का आयाम बीस अगुल के प्रमाण से बनाया गया है। उसके दोनो गुल्फ और ि― तीन अगुल के प्रमाण के होते हैं। इस प्रकार से रुचक-नामक पुरुष ६२ अ ुल का बनाया गया है। इसके वक्षस्थल का विस्तार बीस अगुल का और इसकी दोनो भुजाये और प्रकोष्ठ दस अगुल के प्रमाण से बताये गये हैं इसके दोनो हाथ ग्यारह अगुल के विस्तार वाले बताये गये है। इस प्रकार से पीन-स्कन्ध, पीन-बाहु, लीला-सहित गति वाला और चेष्टा वाला, बलवान और वृत्त-बाहु, सुन्दर आकृति वाला रुचक पुरुष होना है ॥१५—२१½॥

भद्र —भद्र के मस्तक का आयाम तीन अगुल मे होता है।(?) ग्यारह अँगुल से और ग्रीवा साढे तीन अगुल स । इस का वक्षस्थल और जठर पाद सहित ग्यारह अगुल का होना है। इसकी नाभि और इसके मेढ़ का अन्तर साढे दस अगुल मे समझना चाहिए। दोनो ऊरूओ का आयाम पाद सहित बीस अँगुल का समझना चाहिए। दोनो जघाओ का भी आयाम उसी प्रकार से, और जानु और गुल्फ त्रिमात्रिक होते हैं। इस प्रकार से भद्र का आयाम ६४ अगुल का *बनाया गया है। वक्ष का आयाम २१ तथा दोनो बाहु ११ अगुल विहित हैं* ॥ २१½—२५ ॥

टि० —लेखक Scribe not author) के प्रमाद-वश इस अध्याय का अश दूसरे अध्याय मे प्रक्षिप्त प्राप्त होता है, अत इस परिमार्जित एव वैज्ञानिक सस्करण मे यथा स्थान उसको (प्रक्षिप्ताश दे० स० मू० मल अध्याय ७९ ८४½-९६) यहा पञ्च-पुरुष-स्त्री-लक्षण अध्याय (परि० स० ५८ २६-३८) मे लाया गया है। अतएव इसका अब यहा अनुवाद दिया जा रहा है।

इस भद्र-पुरुष का वक्ष-स्थान एव श्रोणि अर्थात् नितम्ब पृथक् पृथक् परिकल्प्य हैं। उसके बाहु गोल एव सुमस्कृत निर्मेय हैं, अतएव वह वास्तव मे भद्र (सौम्य) रूप बन जाता है। उसका मुख स्वभावत गोल ही बनाना चाहिये ॥२६॥

मालव्य —इस मालव्य नामक पाचवें पुरुष का मूर्धा-प्रमाण अगुल-त्रय बताया गया है। इसी प्रकार इसके ललाट नासिका, मुख ग्रीवा वक्ष, नाभि, मेढ़ एव उपर आदि के अग भी शास्त्र मानानुरूप परिकल्प्य है। ना उरु इसकी

अठारह अगुल की हो, जघायें भी उसी प्रमाण की हों। अन्य अग जैसे जानु आदि वे चार अगुल से विहित हैं। इस प्रकार इस मालव्य-पुरुष का आयाम ९६ अगुल का प्रमाण प्रतिपादित किया गया है। उसके वक्ष -स्थल का विस्तार वास्तव मे २६ मात्राओं का होता है। बाहु एव प्रवाहु इन दोनों का १६ मात्राओं से विहित है। पर्णि दोनो द्वादश मात्रा के प्रमाण मे परिकल्प्य हैं। इस प्रकार इस मालव्य पुरुष की विशेषता यह है कि वह पीनास (पीन-स्कन्ध), दीर्घ-बाहु (आजानु-बाहु), विशालवक्षा एव कृशोदर हो क्योकि इस पुरुष-प्रमाण मे महा-पुरुषो की प्रतिमा परिकल्पित की जाती है। इसके ऊरू, कटि, जघा सभी गोल होने चाहिय। अतएव यह पुरुष पुरुषोत्तम माना गया है २७–३१½॥

हसादि पाचो पुरुषो की अब सामान्य समीक्षा की जा रही है, जिसका सम्बन्ध विशेष कर मुखाकृति से है। हस का टेढा मुख तथा गण्ड-भाग भी कुछ पृथुल सा प्रतीयमान हो रहा हो। शश-नामक द्वितीय पुरुष का आनन कृश एव आयत सा प्रतीत हो रहा हो। विस्तार एव लम्बाई मे भद्र-पुरुष का आनन जैसा ऊपर बताया गया है, वह सुन्दर, सुडौल एव गोल हो। मालव्य की आकृति तो पहले ही पुरुषोत्तम के रूप मे प्रकीर्तित की जा चुकी है, वैसी यहा पर भी निर्दिष्ट है ॥३१½-३४॥

अब पञ्च-स्त्री-लक्षण प्रतिपादित किया जाता है। हसादि के समान इनके नाम है वृत्ता, पौरुषी, बालकी (बलाका), दण्डा . (?)

टि० —परन्तु यहा पर तो केवल तीन ही भेद मिल रहे हैं अत प्रक्षिप्तादा भी यह गलिताश है।

वृत्ता —नारी मासल-शरीरा, मासल-ग्रीवा मासलायत-शाखा तथा गोल-मटोल बतायी गयी है ॥३५॥

पौरुषी —नारी पृथु-वक्त्रा, कटी-ह्रस्वा, ह्रस्व-ग्रीवा, पृथूदरी पुरुष के काण्ड-तुल्या ऐसी पौरुषी यथानाम पुरुषाकृति से भासित होती है ॥३६॥

बलाका -(बालकी) —नारी अल्प-काया, अल्प-ग्रीवा, अल्प-शिरस्का, लघु-शाखा, कृशाङ्गी, अल्प ब्रह्म-सत्वा बतायी गयी है ॥३७॥

पुन इस की परिभाषा मे स्त्री-लक्षण-विचक्षण विद्वानो ने यह भी बताया है कि पुरुष-सपर्क से वह कुमारावस्था मे जब प्राप्त-यौवना हो जाती है

तो वह दूसरी कोटि की वालकी या बलाका नारी के नाम से विख्यात होती हैं। ॥३८॥

इस प्रकार हस आदि प्रधान पुरुषो का और स्त्रियो का यहा पर यथावत् लक्षण और मान का प्रतिपादन किया। जो इनको यथावत् जानता है वह राजाओं से मान प्राप्त करता है ॥३६॥

दोष-गुण-निरूपण

अब अर्च्य चित्रों-मूर्तियों अर्थात् प्रतिमाओं आदि कर्मों में वर्ज्य (त्याज्य — रूपों का वर्णन करता हूं, और यह वर्णन गो-ब्राह्मण-हितैषियों तथा शास्त्रज्ञों के अनुसार वर्णित किया गया है ॥१॥

दुष्ट-प्रतिमा :—अशास्त्रज्ञ शिल्पी के द्वारा दोष-युक्त निर्मित प्रतिमा सुन्दर होने पर भी ग्राह्य नहीं हो सकती ॥ २ ॥

प्रतिमा-दोष — अश्लिष्ट-सन्धि, विभ्रान्ता, वक्रा अवनता, अस्थिता, उन्नता, काकजघा, प्रत्यग हीना, विकटा, मध्य में ग्रन्थिनता— इस प्रकार की देवता-प्रतिमा को बुद्धिमान पुरुष को कल्याण के लिए कभी नहीं बनवाना चाहिए ॥ ३-४ ॥

अश्लिष्ट-सधि वाली देवता-प्रतिमा से मरण, भ्रान्ता से स्थान-विभ्रम, वक्रा से कलह, नता से आयु-क्षय, अस्थिता से मनुष्यों का नित्य धन-क्षय निर्दिष्ट होता है। उन्नता से भय समझना चाहिए और हृद्-रोग। इसमे सशय नहीं। काक-जघा देशान्तर-गमन और प्रत्यग-हीना से गृह-स्वामी की नित्य अनपत्यता तथा विकटाकारा प्रतिमा में दारुण भय समझना चाहिये। अधो मुखा से शिर का रोग —इन दोषों से युक्त जो प्रतिमा हो उसको वर्ज्य कहा गया है ॥ ५ ६½ ॥

इन दोषों के अतिरिक्त अन्य दोषों से युक्त प्रतिमा का अब वर्णन करता हूं। उद्बद्ध-पिण्डिता ? *गृह-स्वामी को दुःख देती है, कुञ्चिता ? दुर्भिक्ष और* कुब्जा प्रतिमा मनुष्यों को रोग देती है। पार्श्व-हीना प्रतिमा तो राज्य के लिए अशुभ-दर्शिनी होती है। जो प्रतिमा नाना काष्ठों से युक्त तथा नीर-पिण्डिता और सन्धियों में बंधी, हो वह अनर्थ और भय को देने वाली कही गई है। लौह से अथवा कदाचित् त्रपु से और उसी प्रकार से काष्ठ से प्रतिमा बनाना बताया गया है। पुष्टि की इच्छा रखने वाले को सन्धियां भी सुश्लिष्ट बानी चाहिए।

शास्त्र-प्रतिपादित विधान के अनुसार ताम्र, लौह से अथवा सोने और चांदी से बाधना चाहिए। इस प्रकार सब प्रयत्नों से शास्त्रज्ञ स्थपति को यथा शास्त्र-प्रमाणानुसार सुविभक्ता प्रतिमा का निर्माण करना चाहिए। ६½ १७॥

सुविभक्ता, यथाप्रतिपादित उन्नता, प्रसन्न-वदना, शुभा, निगूढ-सधिकरणा, समाना, आयति वाली, सीधी इस प्रकार की रूपवती एव प्रमाणो और गुणो से युक्त प्रतिमा का निर्माण करना चाहिए। जहा तक पुरुष-प्रतिमाओ का सम्बन्ध है वे भी पूर्णांग, अविकलाग निर्मेय हैं ॥१७½-१८॥

सपूर्ण गुणो को समझ कर और सपूर्ण दोषो को ध्यान मे रख कर जो थपति यथाप्रतिपादित गुणो से कल्याण के लिए प्रतिमा का निर्माण करता है उस शिल्पी की ओर लोग शिष्यता स्वीकार कर उस बुद्धिमान शिल्पी की उपासना करते है और उसकी बार बार प्रशंसा करते है ॥१९॥

ऋज्वागतादि-स्थान-लक्षण

इस अध्याय मे अब इस के बाद नौ स्थान-विधि-क्रम का वर्णन करता हू। सपात एव विपात से स्थानक प्रतिमाओ मे ये नौ वृत्तिया उपकल्पित हो जाती हैं। प्रतिमायें वास्तव मे मुद्राओ के द्वारा ही समस्त उपदेश एव ज्ञान वितरण कर देती हैं। मुद्रायें तीन प्रकार की होती हैं—शरीर-मुद्रा, हस्त-मुद्रा एव पाद-मुद्रा। इस अध्याय मे शरीर-मुद्राओ—नौ मुद्राओ का वर्णन किया जाता है।

सर्वप्रथम शरीर-मुद्रा ऋज्वागत है, पुन अर्धर्ज्वागत, उसके बाद साचीकृत फिर अध्यर्धाक्ष—ये चारो शरीर-मुद्रायें ऊर्ध्वगत हैं। अब परावृत्त शरीर-मुद्राओ का कीर्तन करते हैं। उनमे भी ये ही परावृत-पदोत्तर ये चारो मुद्रायें बन जाती हैं ऋज्वागत परावृत्त, अधर्ज्वागत परावृत्त, अध्यर्धाक्ष परावृत्त तथा साचीकृत परावृत। नवी शरीर-मुद्रा, यत परावलम्बी हैं अत इसे पार्श्वागत के नाम से पुकारते हैं क्योकि वह भित्तिक-विग्रह है ॥१-४॥

स्थान-विधि वैसे तो मुख्यत चतुर्धा है, पुन परावृत्त-परिक्षेप से इनकी अष्टधा हुई, पुन, नवम पार्श्वागत के रूप मे वर्णित किया गया है। अब इनके व्यन्तरो की सख्या इकतीस बनती है —

(i) ऋज्वागत तथा अर्धर्ज्वागत, इन दोनो के मध्य मे व्यन्तर चार बनते हैं,

(ii) अर्धर्ज्वागत तथा साचीकृत इन दोनो के मध्य मे तीन बनते हैं,

(iii) अध्यर्धाक्ष और साचीकृत इन दोनो के मध्य मे केवल दो व्यन्तर बनते हैं,

(iv) पार्श्वागत का व्यन्तर केवल एक बनता है,

(v) ऋज्वागत के परावृत्त तथा पार्श्वागत इन दोनों के मध्य मे दस व्यन्तर बनते हैं,

(vi) इसी प्रकार अन्य शरीरावयवो को दृष्टि मे रखकर जैसे अर्धाभाग,

मर्धपुट, अर्धसाचीकृत-मुद्रा, स्वस्तिक-मुद्रा आदि इा क्य तगे से चित्र-शास्त्र-विशारदो ने व्यस्न-माग से इनकी सख्या इक्तीस कही है। पुनश्च जिस प्रकार परावस्त, उसी प्रकार व्यन्तर भी यथाक्रम विभाव्य है। वास्तव मे भित्तिक मे कोई वैचित्र्य नही परिकल्प्य है वह सब चित्राश्रित ही है ॥ ५-१३॥

दोनो पादो मे सुप्रतिष्ठित वैतस्त्य के अन्तर की स्थापना करना चाहिये। हिक्का मे दोना पादो की निकट-भूमि पर लम्ब प्रतिष्ठित होने पर ऋज्वागत प्रमाण जैसा पहले निरूपित किया गया है और बनाया गया है तदनन्तर अधर्ज्वागत का यह प्रमाण समझना चाहिय। ब्रह्मसूत्र को मुख के मध्यगामी बनाना चाहिये। नत्र-रेखा-समान्तर मे ही टढ तल प्रमाण से मुख निर्मेय है। अपाग का, अक्षिकूट का और कान का क्षय विहित होता है, दूसरे स्थान पर कर्ण का मान आधे अगुल से माना गया है। दूसरे अक्षि-सूत्र पर ब्रह्म-लेखा का विधान है जो शास्त्रानुकूल निर्मेय है।

अक्षि का श्वेत भाग तीन यव के प्रमाण से और तारा पूर्व प्रतिपादित प्रमाण से निर्मेय है। उसका विस्तार और श्वेत भाग और करवीर भी पूर्वोक्त प्रमाण से बनाना चाहिए। ब्रह्मसूत्र से एक अगुल के प्रमाण से करवीर होता है। उसका दूसरा भाग तो एक अगुल के प्रमाणसे सगम होता है। कर्ण और आख का अन्तर एक कला और आधे अगुल के प्रमाण से बताया गया है। ब्रह्मसूत्र से एक अगुल के प्रमाण से और कपोल से २ अगुल के प्रमाण से पुट होना है। पहले और दूसरे मे मात्रा के आधे प्रमाणसे पुट होना है और शेष जैसा पहले बताया गया है वही कर्तव्य है। दो यव अधिक एक अगुल के प्रमाण से दूसरा भाग होना है। पर भाग मे अधर तो छै यव के प्रमाणसे बनाया जाता है। गण्ड भी यथोचित परिकल्प्य है। ब्रह्मसूत्र से फिर हनु पर-भाग मे १½ अगुल के प्रमाण मे होता है और फिर मुख-लेखा एक अंगुल के प्रमाण से विहित है। अन्य अङ्गो के भी प्रमाण समझ बूझकर बनाना चाहिए। इन अगोपागो के निर्माण मे सूत्र का विधान प्रमाण की दृष्टि से बहुत ही अनिवार्य है। कक्षाधर दूसरे भाग मे सूत्र से पाच गोलो वाला और पूर्वभाग मे उस छै गोलो के प्रमाण मे समझना चाहिये। मध्य मे सूत्र से पीछे पार्श्व-लेखा का विधान है। चार कलाओ के प्रमाण से वक्ष स्थल से मध्यम-सूत्र से वक्षा ९ भाग वाली होती है।

इसी प्रकार वक्ष-स्थल के अन्य अगो एव उपागो जैसे स्तन आदि उनका भी प्रमाणानुरूप परिकल्पन विहित है। दूसरा हाथ कम (योग) के अनुसार बनाना चाहिये।

उसी प्रकार से पूर्व-हस्त का भी यथोचित प्रकल्पन होता है। मापनादि-क्रिया भी वैसी ही दक्षिण हाथ मे भी होती है। पर मध्य मे बाहर के सूत्र से छै अंगुल के प्रमाण से रेखा होती है। पूर्व मध्य मे बाह्य-लेखा आठ मात्राओ के प्रमाण से होती है। नाभि-देश के पर भाग मे यह बाह्य-लेखा सात मात्राओ की होती है। कला-मात्र के प्रमाण स नाभि होती है। उसको पहला ६ अगुल के प्रमाण मे होती है। पर भाग मे कटि ७ मात्रा की और १० मात्रा की पूर्व भाग मे। हृदय-रेखा पर-भाग मे मुख–मान के मध्य से विकल्प्य एव निर्मेय है।

पर नलक की लेखा एक अगुल के अन्तर मे होती है। उसी प्रकार पर भाग की लेखा पष्ठाश है। नल के द्वारा पर-पाद की भूमि-लेखा बनाई जाती है। तदनन्तर अगुष्ठ ½ अगुल से और उसके ऊपर पार्ष्णि उसके आधे प्रमाण से। अगूठा का अग्र भाग ब्रह्म-सूत्र में पाच मात्राओ के प्रमाण से और तलवा टेढा पाच अगुल के प्रमाण से बताया गया है।

अगूठा का अग्र-भाग तीन कलाओ के प्रमाण से, सब अंगुलिया अगूठे से क्रमश पर पर प्रमाणानुरूप विहित बताई गयी है। इस प्रकार सन्निवेश एव अवमाद से ये सब नौ अगुल वाला प्रमाण होता है। जानु जैसे पहले बताई गई है वैसी होती है और सूत्र से चार अगुल मे विहित है। इसका नलक भी उसी के समान और दानो नलक तीन अगुल के अन्तर पर। इसी प्रकार भाग के प्रमाण भी शास्त्र मे अनुमोदित भूमि सूत्र से नीचे गया हुआ पहला अगूठा एक कला के प्रमाण से होता है, दूसरा अगठा और अगुलिया ये सब यथोक्त प्रमाण से विहित बताई गयी है।

इस प्रकार से कहे गये प्रमाण से युक्ति से समझकर करना चाहिये। इस प्रकार अध-ऋज्वागत-नामक इस श्रेष्ठ स्थान का वणन किया गया ॥१४-४४½॥

साचीकृत विशेष – अब साचीकृत-स्थान का लक्षण कहता हूँ। स्थान-ज्ञान की सिद्धि के लिये पहले ब्रह्मसूत्र का विन्यास करना चाहिये। पर भाग मे ललाट, केश लेखा और कला होती है। पर भाग मे भ्रू-लता का यथाशास्त्र-प्रमाण विहित है, उसी प्रकार अन्य प्रमाण होते है। ज्योति के परभाग मे एक यव के प्रमाण से तारा दिखाई पडती है। तदनन्तर ज्योति यव मात्र और फिर उसमे दो यवो के प्रमाण मे तारा होती है। श्वेत और करवीर तदनन्तर प्राक्कथित प्रमाण से कनीनिका निर्मेय है। नासिका का मूल एक यव के अन्तर से समझना चाहिये। ब्रह्म-सूत्र से पूर्वभाग मे दो उर्ध्व गोले होते हैं। यहा पर अपाङ्ग दो गोलक के प्रमाण के अन्तर मे समझना चाहिये। तब एक भाग के

प्रमाण से यण का अभ्यन्तर और एक भाग के विस्तार से कर्ण होता है । दो यव से कम एक कला के प्रमाण मे व्यावृत्ति से बढाई गई आंख होती है । पूव के करवीर के साथ सफेदी तीन यव के प्रमाण से बताई गई है और दूसरी सफेदी, आख, तारा का प्रस्तार पूव प्रमाण से प्रतिपादित की गयी है । कपाल-लेखा परत एक कला होती है । ब्रह्म-सूत्र से दूसरे मे नासिका का अग्रभाग सात यवो के प्रमाण से बताया गया है । पूवभाग मे नासा-पुट एक यव अधिक एक अगुल के प्रमाण म विहित है । पूर्व भाग मे उसक निकट गोजी बनाई जाती है । पर भाग वाला उत्तरोष्ठ अध मात्रा के प्रमाण से बनाया गया है । अधराष्ठ तीन यव क प्रमाण मे । शप से उन दोनो का चाप-चय होता है । पाली के मध्य मे सूत्र होता है और पाली के परे चिबुक होता है । हनु-पयन्त रेखा-सूत्र मे आध अगुल पर होती है । हनु के दूसरे भाग का मध्यगामी सूत्र परिमडल कहलाता है । एक ही सूत्र के साथ दूसरी आख तक परिस्फुटा ठोडी के ऊपर मुख-पयन्ता लेखा बनानी चाहिये । इन लेखाओ से विचक्षण को पर भाग का निर्माण करना चाहिये । ग्रीवा आदि अन्य अगोपागो का भी प्रमाण शास्त्रानुरूप विहित है । पूवभाग मे सूत्र मे आध अगुल के प्रमाण स हिक्का सुप्रतिष्ठित होती है । बाह्य-लेखा उस सूत्र से आठ अगुल के प्रमाण से परभाग मे स्थित होती है । हिक्का-सूत्र से लकर हृदय-भाग आधे होता ह । उसी मात्रा मे अन्य अन्त्य प्रदेश परिकल्प्य है । हिक्का-सूत्र म पाच अगुल प्रमाण वाले परभाग में स्तन होते हैं । रेखा का अत सूचन करने वाला मडल डेढ अगुल के प्रमाण से बनाना चाहिये । उसके बाद बाहर का भाग एक मात्रा से निर्दिष्ट करना चाहिय और हिक्का-सूत्र से लेकर स्तन-पय त यह ३ अगुल के विस्तार में प्रकल्प्य है । कक्षा के नीचे दो कलाओ के प्रमाण से बाह्यलेखा बनायी जाती है । भीतर की बाह्य-लेखा स्तन मे पाच अगुल के प्रमाण मे बनाई जाती है और ब्रह्म-सूत्र से एकभाग से मध्यभाग मे अन्य अग बनाया गया है । —(?) टेढा विभाजित किया जाता है । पूवभाग में मध्य-प्रान्त सूत्र से दस अगुल वाला होता है । ब्रह्म-सूत्र मे नाभि-प्रदेश टेढा होता है । चार यवो से अधिक चार अगुल के प्रमाण से वह बताया जाता है । पूवभाग में वह ग्यारह अगुल के प्रमाण से बताया गया है । मध्य मे दूसरे के दोनो ऊरुओ का अभ्यन्तराश्रित सूत्र जाता है और अपर भाग से पहले की एक कला से वह जाता है । जानु का अधोभाग आधी कला और तीन यव मे बनता है । जघा के मध्य से लेखा का प्रमाण नलक-प्रसवत होता है पुन चार से सूत्र इष्ट होता

है। इसी प्रकार से बाहरी लेखायें बनायी जाती हैं। ब्रह्म-सूत्र से पाँच अंगुल के परभाग में कटि-प्रदेश निवेश होता है। इसी प्रकार अन्य गोप्य स्थान मेढ़ आदि एवं ऊरु-मूल आदि सब विनिर्मेय हैं।

सूत्र के अपर भाग से ऊरु के मध्य में दो कलाओं के प्रमाण से रेखा बनायी जाती है और सूत्र से पूर्व ऊरु का मूल, पूर्व से एक कला के प्रमाण से होता है। पूर्व के जानु से दो कलाओं के प्रमाण से रेखा समझनी चाहिए। जानु डेढ अंगुल और एक यव के प्रमाण में और उसका पार्श्व आधे अंगुल में बनाया जाता है। सूत्र के द्वारा पर-पाद की मध्य रेखा विभाजित की जाती है। आदि-मध्य-अन्त—इन तीनों रेखाओं की साक्षी सूत्र में उदाहृत किया गया है। प्राक्-भाग में अग्रतल में पांच अंगुलों से प्रान्त होता है। परभाग स्थित ऊरु और जंघा इन दोनों का आधे अंगुल के प्रमाण से क्षम बनाना चाहिए। पराक्षि-मध्य-गामी सूत्र लम्ब-भूमि प्रतिष्ठित होने पर पर-पाद-तलान्त में पूर्वभाग से एक अंगुल से बनाया जाता है। ब्रह्म-सूत्र से पूर्वपाद का तल आठ अंगुल से होता है। दोनों तलों के नीचे सूक्ष्मा लेखा अठारह अँगुल के प्रमाण से बनायी जाती है। अंगुष्ठ-प्रान्त से प्रदेशिनी एक अँगुल से अधिक बनती है। पुनः अंगुष्ठ मूलागम से अन्य अंगुलियां विहित हैं। यहाँ से जो लेखा बनती है उसे भूमिलेखा कहा गया है। सूत्र से आधे अंगुल से उसके ऊपर पर का पार्ष्णि विहित है। पूर्वपाद के अनुसार अंगुष्ठ में अंगुली का पात होता है। पुनः उस-प्रदेशिनी मान से पर प्रदेशिनी बनायी जाती है। तदनन्तर अन्य सब अंगुलियां क्रमशः प्रकल्पित वहां होती हैं। इस प्रकार से इस साचीकृत-नामक स्थान का यथार्थ वर्णन किया गया ॥८४½-८२॥

अध्यर्धाक्ष-स्थान-मुद्रा-विशेष —अध्यर्धाक्षि-स्थान का अब वर्णन करता हूं। ब्रह्मसूत्र को मुख में रखकर के यहां पर मान किया जाता है। केशान्त-लेखा सूत्र में यव सहित एक मात्रा की होती है।

टि० स० सू० के इस मूलाध्याय में—स० सू० के ८१वें अध्याय पत्र-पुष्प-स्त्री-लक्षण) का अंश प्रक्षिप्त था अतः उसे परमार्जित कर यथास्थान तत्रैव न्यासित किया गया।

भ्रू प्रदेश को दो यव मात्राओं में लिखें। कृशयवाङ्गुल वाली यहां भ्रू लेखा विहित है। अक्षि, तारा आदि अर्ध-प्रमाण में विहित हैं। कपोल-रेखा पर भाग में पर्व-हीन एक अंगुल से बनती है सूत्र-पूर्व-पदान्त अर्धांगुल इष्ट है। यव न

नासिकान्त एक अगुल सूत्र मे परे करना चाहिये । पुन मल म नासापुट आधा गोजी का सूत्र मध्यग विहित है। आधे यव की मात्रा से गोजी होती है और पर भाग का जो उत्तरोष्ठ होता है वह ब्रह्म-सूत्र मे लगा कर दो यव के प्रमाण म समझना चाहिए। पर मे तो नासिका के नीचे रेखा आधे अ। र अगुल म होनी चाहिए। अधरोष्ठ के परभाग मे प्रमाण यव बताया गया है। हनु नक लेखा के मध्य मे सूत्र प्रतिष्ठित होता है । सूत्र से पहले करवीर का प्रमाण दो यव कम दो अगुल का होता है और वह आधे यव के प्रमाण से दिखायी पड़ता है। तदनन्तर सफेदी डेढ़ यव के प्रमाण से बतायी गयी है। तारा तीन यव के प्रमाण मे समझनी चाहिए। शेष पूर्वोक्त-प्रमाण से। कान के परदे के नीचे कर्ण-मध्य-भागीय दो अगुल के प्रमाण से कर्ण का विस्तार विहित है। कान के परदे म चार यव के प्रमाण मे शिर-पृष्ठ-लेखा होती है। यह समझकर जैसा बताया गया है वैसा करना चाहिए। कर्ण-सूत्र से बाहर एक अगुल के प्रमाण म ग्रीवा बनानी चाहिए। गल, ग्रीवा, हिक्का, प्रागङ्गुलोत्तर विहित है। हिक्का-सूत्र से ऊपर अस-लेखा अर्थात् स्कन्ध-लेखा उसी प्रकार से एक अगुल के प्रमाण म होती है। ब्रह्मसूत्र से अगुल सम्मित पर भाग म अस अर्थात् कक्षा होता है। --(?) कक्षा-सूत्र से पहिले स्तन का प्रमाण केवल एक भाग मात्र से, कक्षा स तीन कलाओं तक पार्श्व-लेखा बनायी जाती है। आगे की भुजायें यथा-शास्त्र-प्रमाणानुरूप विहित है । प्रासाद-मध्य सूत्र ग्यारह अगुल का होता है । सूत्र से तीन अगुल के प्रमाण से परभाग-मध्य विहित है। पर भाग मे सूत्र से एक अगुल के प्रमाण से नाभि इष्ट होती है। नाभि की उदर-लेखा तो तीन अगुल समझनी चाहिए। दोनो नितम्ब (श्रोणी) का प्रदेश नाभि-प्रदेश से विहित है। ब्रह्मसूत्र से पूर्व भाग म तीन भाग वाली और पर मे तीन अगुल वाली कटि अर्थात् कमर विहित है। ब्रह्म-सूत्राश्रित तट मे मेढ़ स्थिति विहित है। पूर्वोक्त मध्य रेखा सूत्र क प्रत्यगुल अन्तर में उसे बनाना चाहिये और उसी की मूल रेखा सूत्र में पहिले दो अगुल के अन्तर पर बनायी जाती है। पर की दोनो उरुओं की मूल रेखा-सूत्र से दो कलाओं के अतर पर होती है। अब जहा तक जानुओं का प्रश्न है वे भी इन्ही भाग-प्रमाण में विहित हैं। जानु के मध्य में गयी हुई लेखा बाह्य-लेखाश्रित होती है। आधे २ मात्रा की जानु होती है और उसकी अधोलेखा तो जो होती है वह सूत्र से पूर्व की ओर अगुल के प्रमाण से बनायी जाती है और सूत्र से परे पराङ्गुष्ठ-मूल पादक मे एक अगुल

के प्रमाण से बनाया जाता है और मूल से अँगुष्ठ का अग्र-भाग साढे तीन अँगुलों का होता है। सूत्र से परे जघा की लेखा चार अँगुल में होती है और पूर्व जघा की लेखा तो दो अगुल में होती है। पूर्व जानु एक कला के प्रमाण से और शेष यथोक्त प्रमाण से। परपाद के तल में —? जो टेढा सुप्रतिष्ठित होता है —? वह डेढ कला के प्रमाण से बनता है। अथ च पाद की अँगुलियों का न्यास एव प्रमाण भी शास्त्रानुकूल अनुमेय एव निर्मेय है। जो परागुष्ठ मूल से उत्थित लब-सूत्र बनता है उसका सम्बन्ध अगुष्ठाश्रित है। पूव पार्ष्णि-तल के ऊपर तीन अगुल में बनाना चाहिए और पार्ष्णि के परपाद का पूव पाद तिरस्कृत होता है। इस प्रकार अध्यर्धाक्षि-नामक स्थान का यथा शास्त्र इस प्रकार से आलखन करना चाहिए ॥८३-१११३॥

पार्श्वागत स्थानक-मुद्रा-विशेष —अब पार्श्वागत नामक पाचवें स्थान का वर्णन किया जाता है। व्यावर्तित मुख के अन्त मे ब्रह्मसूत्र का विधान किया जाता है। सूत्र से स्पृ ललाट की बायी रेखा को दिखाना चाहिए। सूत्र से नासिका-वश दो अशो के मान से विहित है, पुन अपाग दो कलाओ से और सूत्र से कान भी दो कलाओ के मान से विनिर्मेय है। तदनन्तर इसका मध्यगत सूत्र इसके आधे से स्थापित करना चाहिए। एक अगुल मे चिबुक-सूत्र से हनुमध्य चार यव वाला होता है। डेढ अगुल से नतग्रीवा बनाना चाहिये। एक अगुल से तदनन्तर हिक्का और चार से ब्रह्मसूत्र से मस्तक तथा श्रवणपाली विहित है। ग्रीवा के अगुल से ही म य सूत्र कहा जाता है। हिक्का के म य सूत्र से अर्ध-सूत्र दो कला वाले भाग म होता है। आठ मात्रा म पीठ और इसी प्रकार से हृदय-लेखा। स्तन-मण्डल फिर उसी से एक अगुल के प्रमाण से बनाया जाता है और पूर्व भाग में कक्षा-सूत्र से तीन भाग से और तीन मात्रा से अपर भाग में कक्षा बनाई जाती है। दोनो अशो का मध्य अगुल के प्रमाण से विद्वान् लोग बताते है। मध्य-सूत्र से पर्यन्त मध्य दस अगुल से बनाया जाता है। मध्य-पृष्ठ चार से और नाभि-पृष्ठ पाच से, नाभि की अन्त रेखा नौ से और तीन कलाओ से कटि-पृष्ठ होता है तथा उदर की प्रान्त-रेखा दस अगुलो से समझनी चाहिए। आठ मात्राओ से स्फिक् का मध्य कहा जाता है। वस्ति-शीर्ष नौ से स्फिक् प्रान्त और आठ अगुलो के प्रमाण से विहित है। आठ से मेढ्र का मूल होता है और ऊरू का मध्य सात से विहित है। दोनो ऊरुओ का पार्श्वान्त मूल भाग पाच अगुलो के प्रमाण से बनाया जाता है। पीछे से ऊरु का मध्य

साढे चार अगुलो और वही आगे में साढे पाच अगुलो का बताया गया है। कर-मध्यागुल मध्य-सूत्र मध्य में बनाया जाता है। जानु के बाध में मध्य-सूत्र होता है। भाग और लेखा जानु में सूत्र के दोनो तरफ होती है और जघा मध्य में बतायी गयी है। छै अगुल वाली जघा और नलक के मध्य में सूत्र कहा गया है। दोनो पार्श्वों पर दो अगुल के प्रमाण से नल बनाने चाहिए। मध्य—सूत्र से चार अगुल के प्रमाण से पार्ष्णि बनायी जाती है। पूर्वोक्त प्रमाण से अगुलिया और पादतल होता है। इस प्रकार से यह भित्तिक-नामक पार्श्वगत-नामक स्थान बताया गया है ॥११९½—१२६½॥

परावृत्त-स्थानक-मुद्रा-विशेष—अब इसके उपरान्त परावृत्त स्थानो का वर्णन करता हूँ। वहा पर पहले ऋज्वागत परावृत्त स्थान का वर्णन किया जाता है। वहा पर दो अगुल के प्रमाण से दो कर्ण अलग २ बनाने चाहिए तथा पार्ष्णि और पर्यन्त इन दोनो का मध्य भाग सात अगुल होता है। साढे तीन अगुल से दो पार्ष्णि अलग २ बनाने चाहिए। कनिष्ठा अनामिका और मध्य मे अगुलिया चार अगुल दिखानी चाहिए। अगुष्ठ (अगूठा, अनामिका, मध्या और कनिष्ठा बाह्य रेखा से सूनय हैं। यह परावृत्त स्थान होता है। शेष ऋज्वागत के समान आदेश किया गया। अध्यर्धाक्ष आदि जो स्थान उनमे होते है जिसका जो परावृत्त स्थान हो उसके अनुसार उसका वह स्थान बनाना चाहिए। जो जो प्रमुख स्थानक-मुद्राये है उनकी इत्याकृत्य सभी परावृत्त तथैव कल्प्य है, ये बताये हुए स्थान जीवो मे, द्विपदो मे और निर्जीवो भी नरा यान, आसन, गृह आदि मे समझना चाहिए। वस्तुत मूलरूप ये नौ (६) ही स्थान है और जो बीस में विभक्त बनाये गये है व उनके भेदो को ही समझना चाहिए ॥१२६½—१२६½॥

ऋज्वागतदि जो स्थान दृष्टि पथ के पथिक बनते है उनके स्थानो का जो मान होना है वह यहा भी बताया जाता है। अठारह मे विस्तृत और उसकी दुगुनी आयति से वह प्रमाण विहित है। और आयाम के अर्धदेश में इसका आगे का विस्तार आठ मे विहित है। —(?) उसके मध्यगामी सूत्र में न्यमित की जाती है। विभिन्न अगो एव उपागो का भी यथा-शास्त्र निर्माण है। स्तन का गर्भ गर्भसूत्र से विस्तार में छै अंगुल वाला होता है और छै अगुलो से दोनो स्तनो का तिरछा विनिर्गम होता है। गर्भ से तिरछे पृष्ठ पक्ष दोनो स्फिज् भी दश अगुल के प्रमाण से बनाये जाते है। पुन पृष्ठ-वश स्फिजागलानुसार विहित है।

जो नवागुल विहित है और स्फिक् से सात अगुल परे होता है। कचा का मूल, आयाम और गर्भ से दस अगुल वाला होता है। आगे उसका निगम एक अगुल से और पीछे से सात अगुल से। गभसूत्र से तदनन्तर तिरछा पादास अठारह अंगुल वाला होता है। गभ से प्रदेश पाच अगुलो से बनाया जाता है। जठर-गभ दोनो पार्श्वों पर और सामने भी अगुल से पेट का प्रदेश, पीठ पश्चात् सात अगुलो से, साढे बारह अगुलो से ऊरुओ का मूल बताया गया है। पाच अगुल के प्रमाण से इसका पहले का निगम और पीछे का निर्गम सात अगुल से। ऊरु-मूल के पीछे से तो दोनो स्फिज् तीन अगुल के प्रमाण से निगत होते हैं। आगे तदनन्तर मेढ गभ सूत्र में छै अगुल का समझना चाहिए। ढेढे सूत्र से जानु-पाश्व साढे नौ अगुलो में समझना चाहिये। और आयाम सूत्र से जघन्य पीठ से आगे चार अगुल का होना चाहिये। गर्भ में टेढा इसका नल छै अगुल वाला और पृष्ठ भाग से वह नौ अगुल वाला होता है। सूत्रान्त से अगुल-पर्यन्त साढे छै अंगुलो से यह नलक निर्मेय है। इसका विस्तार भी तथैव शास्त्रानुसार परिकल्प्य है। दैर्घ्य से यहा पर चौदह अगुलो का पाद बताया गया। गभ से आगे छै अगुल वाला और पीछे से छै अगुल वाला होता है। जानुओ एव अन्य प्रदेशो का अन्तर अगुल-मात्र है। इस प्रकार से ऋज्वागत, अर्धऋज्वागत मध्य सूत्र से बनाया गया है। इस प्रकार इन सब के शेष परावृत्तों एव व्यन्तरो का भी प्रबन्धन तथैव विहित है ॥१३६३–१५५॥

ऋज्वागत, अर्धऋज्वागत, साचीकृत, अध्यर्धाश एव पाश्वगत नामक स्थानो का वर्णन किया गया। उनके चार परावृत्त और बीस अन्तर भी बताये गये ॥१५६॥

अथ वैष्णवादि-स्थान-लक्षण

अब इसके बाद अनेक अन्य चेष्टा-स्थानों का वर्णन किया जाता है जिनको समझ कर एवं उसी के अनुसार विधान कर चित्र-विशारद मोह को नहीं प्राप्त होते हैं ॥१॥

षड्-स्थान —वैष्णव, समपाद तथा वैशाख और मण्डल, प्रत्यालीढ और आलीढ इन स्थानों का लक्षण करना चाहिए ॥२॥

वैष्णव स्थान —टि० इस तीसरे श्लोक का पूर्ण पाद गलित है। दोनों पादों का अन्तर ढाई ताल के प्रमाण से होता है। उन दोनों का एक समन्वित और दूसरा पक्ष-स्थित त्रिकोण होता है और कुछ जंघा खिंची हुई दिखाई पड़ती है इस प्रकार का यह वैष्णव स्थान बनता है और यहां पर भगवान विष्णु अधिदैवत परिकल्पित किये गये हैं ॥३-४½॥

समपाद स्थान समपाद-नामक स्थान में दोनों पाद समान होते हैं और वे ताल-मात्र प्रमाण के अन्तर पर स्थित होते हैं। साथ ही साथ स्वभाव से वे सुन्दर होते हैं और यहां पर अधिदेवता ब्रह्मा होते हैं ॥५½-६½॥

वैशाख स्थान —दोनों पादों का अन्तर साढ़े तीन ताल का होता है। पहला पाद अर्ध तथा दूसरा पाद पक्ष-स्थित अंकित करना चाहिए। इस प्रकार से यह वैशाख-संज्ञा वाला स्थान होता है और इस स्थान की अधिदेवता भगवान विशाख स्वामिकार्तिक होते हैं ॥६½-८½॥

मण्डल स्थान —इन्द्र-सम्बन्धी मण्डल नामक स्थान होता है और दोनों पाद चार ताल के अन्तर पर स्थित होते हैं तिर्यग्‌ और पक्ष-स्थित मण्डल कटि जानु के समान जानी है ॥८½-९½॥

आलीढ —पांच ताल के अन्तर पर स्थित दक्षिण पाद का फलाकर आलीढ नामक स्थान बनाना चाहिए और यहां के देवता भगवान् रुद्र होते हैं ॥९½-१०½॥

प्रत्यालीढ —दक्षिण पाद कुंचित करके वाम पाद को प्रसारित करना चाहिए। आलीढ के परिवर्तन से प्रत्यालीढ कहा जाता है ॥१०½-११½॥

टि० इन प्रमुख स्थानक पाद-मुद्राओं के अतिरिक्त अन्य स्थानक मुद्राओं

का भी कीर्तन किया जाता है। इन में तीन पाद-मुद्रायें विशेष कीर्य हैं। वश पर पहली में दक्षिण तो बराबर, दूसरे में अर्थात् वाम में तिर्यक् तथा तीसरी मुद्रा में कटि समुन्नत वाम इस प्रकार यह पहली मुद्रा अवहित्थ के नाम से, दूसरी ?, तीसरी चक्रान्त के नाम से पुकारी गई है। समुन्नत कटि वाला जब पाद जब प्रदर्श्य होता है तो उसकी संज्ञा अवहित्थ कही गई है। एक पाद बराबर स्थित तथा दूसरा अग्र-तल से युक्त कहलाता है तो उसकी संज्ञा ? तीसरी चक्रान्त कही जाती है। ये तीन स्थान स्त्रियों के और कहीं कहीं पुरुषों के भी होते हैं ॥११३–१३॥

कटि के पार्श्व-भाग में दो हाथ, मुख वक्षस्थल, ग्रीवा तथा शिर इन समस्त स्थानों में क्रियानुसार कार्य करना चाहिए। क्रियायें अनन्त हैं। उनका सपूर्ण रूप में वर्णन करना असम्भव है। इस लिए हम लोग यहां पर उनका दिङ्मात्र वर्णन करते हैं ॥१४–१५॥

प्रिय के निकट प्रमन स्त्री का अथवा प्रिया के निकट पुरुष की जैसी स्थिति अथवा सम्यान हो वह अग्र-सूत्र प्रस्थान स्थान में होता है ॥१६-१७३॥

इन मुद्राओं में अवयव-विभाग भी होता है, उसको क्रमशः अब वर्णन करता हूँ ॥१७॥

नासिका और अधर-पुटों से और अन्य नाना अंगों से जैसे मुख की नाभि आदि तथा पीछे ऊरु के मध्य से और उसी के समान पीछे के गुल्फ के अन्त से त्रिभग-नामक स्थान में सूत्र की गति बतायी गयी है। इस त्रिभग-नामक स्थान में एक ताल के अन्तर पर गति दिखानी चाहिए। इनके समीप स्थान के मध्य में ऐसा निर्माण विहित है ॥१८-२०॥

त्रिविध-गतियाँ—द्रुत, मध्य, विलम्बित—प्रभेद से तीन प्रकार का गमन होता है।

टि०—इन गमनादि त्रिविध गतियों का अनुवाद असम्भव है, क्योंकि पूरा का पूरा ग्रन्थ गलित एवं भ्रष्ट है।

इस प्रकार से इन सब गमन-स्थानों में सस्थान समझना चाहिए। अन्य सूत्रों की यथोचित स्थिति को विद्वान् लोग ठीक तरह से समझ कर करें ॥२१-२४॥

टि० इन मुद्राओं में दृष्टि एवं हस्तादि के विन्यासों का विवेचन अभिप्रेत है।

दष्टियो, हस्तो आदि के विनिवेश से इन चार स्थानो का छन्दानुकीर्तन होता है ॥३५॥ -

सूत्र-विन्यास क्रिया –और भी बहुत सी जो मनुष्यों की क्रियाये होती हैं व अंकित करने योग्य होती है। उनका शिष्यों के ज्ञान के लिए तीन सूत्रों का पालन करना चाहिए। ब्रह्म सूत्र-गत सूत्र म और जो पार्श्व में सम्बन्धित वहा पर उन स्थानो मे ऊपर तीन सूत्र है वे पूर्णरूप से बोधव्य है। उनमे मध्य मे जो बनाया जाता है उसे ब्रह्मसूत्र कहते है। भित्ति के फिर अन्य भाग की अपेक्षा से पार्श्व मे स्थित जो सूत्र होता है वह मध्यगामी ब्रह्मसूत्र कहलाता है। जो दोनों पार्श्वो पर से गय है उसकी भी संज्ञा पार्श्व सूत्र ही है। प्रदेशावयवों की पूर्ण निष्पत्ति के लिये विधान-पूर्वक जो जो अभीप्सित कार्य सम्पादित करना है उसमे इन तीनों ऊर्ध्व-सूत्रों का विन्यास अनिवार्य है। इन के मान नियद्-मानानुसार ही व ज्ञेय हैं ॥३६-४२॥

वैष्णव प्रभृति स्थानो का वर्णन ठीक तरह से किया गया। गमनादि तीनो गतियां भी बनायी गयी हैं। सूत्र की पालन विधि भी यथावत प्रतिपादित की गयी है और इसके ज्ञान से स्थपति शिल्पियों में श्रेष्ठ गिना जाता है ॥४३॥

अथ पताकादि-चतुष्षष्टि-हस्त-लक्षण

टि० शरीर-मुद्राओं एवं स्थानक-मुद्राओं के उपरान्त अब हस्त-मुद्राओं का वर्णन किया जा रहा है।

अब चौंसठ हस्तों के योगायोग-विभाग से लक्षण और विनियोग का वर्णन किया जाता है ॥१॥

१	पताक	९	कपित्थ	१७.	चतुर
२.	त्रिपताक	१०	कटकामुख	१८	भ्रमर
३.	कर्तरीमुख	११	सूच्यास्य	१९	हंसास्य
४	अर्धचन्द्र	१२	पद्मकोश	२०.	हंसपक्ष
५	अराल	१३	अहिशीर्ष	२१.	संदंश
६	शुकतुण्ड	१४	मृगशीर्ष	२२	मुकुल
७	मुष्टि	१५	कांगूल	२३	ऊर्णनाभ
८	शिखर	१६	अलपद्म	२४	ताम्रचूड

यह चौबीस हस्तों की संख्या होती है और उनका लक्षण और कर्म बताया जाता है ॥२-५॥

पताक-हस्त —जिसकी प्रसारित अग्र-भाग सहित अंगुलियां होती हैं और जिसका अंगुष्ठ कुंचित होता है उसको पताक कहा गया है।

अब इसके विनियोग के सम्बन्ध में यह मुख्य है कि क्रम रंगस्थल में नटाकर शिर तक उत्क्षिप्त हस्त उठा हुआ और बायें से झुका हुआ और क्रुद्ध भृकुटियों को चढ़ाकर और कुछ आगे फाड़कर प्रहार का निर्देश करें। पुनः प्रतापन एवं उग्र रस का दर्शन कराता हुआ एवं अविहित मर्यादित में कुछ मस्तक पर हाथ रख कर पताका के समान स्फारित नेत्रों से एवं भृकुटियों को आकुञ्चित भौंहों के द्वारा यह हस्त साक्षात् शिव-प्रतिमा (मैं साक्षात् शिव हूं) शिव-शास्त्र विशारदों के द्वारा बताया गया है। जो वक्ष्यमाण अर्थ हैं उनमें उसको संयुक्त करे। दूसरा हाथ इसमें विहित है। इस हाथ को ऊपर उठाकर अंगुलियों को चलाता हुआ वषधारा-निकर का दर्शन करावे तथा पुष्प-

वृष्टि का दृश्य उपस्थित करे। दोनों हाथ टेढ़े होवें। पुनः एक को स्वस्तिक-रूप प्रदान करे। पुनः उसकी विच्युति करे और पल्लवाकृति में दिखावे। इसी प्रकार अन्य सब अङ्गों एवं उपाङ्गों से ये मुद्रायें प्रस्फाटय हैं, इसमें सदैव अविकृत मुख दिखाना चाहिए। हस्त-पाली को सछन्न एवं ससक्त प्रदर्शित करे। तत्वा को अधोमुख कर के कुछ मस्तक नीचे झुका कर निविड से निविड, बिना विकार के मुख-रूपी कमल वक्षस्थल के आगे तथा ऊपर परवृत्त होने पर मन की शक्ति को प्रयत्न-पूर्वक प्रदर्शन करना चाहिए। गुप्त वाम से गोप्य तथा कुछ विनत मस्तक होकर और कुछ बाईं भौं को आकुंचित कर के दिखाना चाहिए। पार्श्वस्थ पताका से दोनों पाणि-पद्मों को उसमें युक्त करना चाहिये। अविकृत मुख से वायु का सा अभिनय करना चाहिए। अथच नाटच-शास्त्र में इस हस्त की मुद्रा जिस प्रकार समुद्र-वेला वायु एवं लहरों से क्षोम्य है, उसी प्रकार बुद्धिमान को इन दोनों हाथों से दिखाना चाहिए। पूर-स्थित वाम और दक्षिण हाथ से तो पहिला कुछ सर्पण करता हुआ और दूसरा कुछ शिर को हटाता हुआ ऐसा मनुष्य वेग का प्रदर्शन करता हुआ और नित्य अविकृत मुख धारण करता हुआ प्रदर्श्य है। दोनों हाथों में से चलते हुए दूसरे हाथ से तो और तदनुसार विकृतानन होकर वह हस्त नाटच में निपुण क्षोभ का अभिनय करे। कुछ भृकुटी को चढ़ा कर पताका से अभिनय करना चाहिए। पार्श्व में व्यवस्थित ऊपर चलती हुई अंगुली से बार बार गर्दन को लचा कर उत्साह कराना चाहिये। तिरछे विस्फारित नेत्रों से अभिनीत इस प्रकार दोनों पार्श्वों पर व्यवस्थित अंगुलि से बड़ा भारी अभिनय करना चाहिए। अन्त एवं उत्तानित अविकारी मुख से पताक नामक पाणि से ही स्पर्श करना चाहिए और इधर उधर चलते हुए हाथ से पुष्कर-ताडन दिखाना चाहिए। पुनः अन्य अंगों जैसे मुख आदि से भी नाना अभिनय-क्रियायें प्रदर्श्य हैं। विकृत मुख से नित्य पक्षोत्क्षेप-क्रिया करणीय है। पुनः उत्तानित एवं विधूत दूसरे हाथ से भी यह करणीय है। भृकुटि आदि नेत्र प्रान्त भी महान भयंकर एवं वीर-गुणान्वित रस में प्रदर्श्य हैं। ऐसा मानो साक्षात् शैलेन्द्र—पवन-राज को उठा रहा हो। धीरे धीरे भ्रू-लतिका को कुछ समुत्क्षिप्त कर दिखाना चाहिए। परस्परासक्त एवं सम्मुख उसमें शैल-धारण दिखाना चाहिए। तदनन्तर ललाटवर्ती भृकुटी से दोनों पार्श्वों का अधोभाग प्रविष्ट कराकर उसी प्रकार शैल प्रोत्पाटन दिखाना चाहिए। शिर-प्रदेश में स्थित तथा दूर से उत्तानित ऊँची भौं में पवन की उद्धरण-क्रिया दिखानी चाहिए ॥६—३६॥

त्रिपताक-हस्त-मुद्रा-पताक हस्त में जब अनामिका अंगुली टेढी होती है, तब उस हस्त को त्रिपताक समझना चाहिए और उनके कर्म का अब बखान किया जाता है। इस की विशेषता है कि उसमें अंगुलियाँ—मध्या, कनिष्ठा आदि पर रहती हैं। कुछ नत-मस्तक से यह करना चाहिए और इस को ऊपर उठा कर विनत मस्तक से इसी प्रकार अवतरण-क्रिया करनी चाहिए। पास से प्रसर्पण करना तथा इसी प्रकार से विसर्जन करना चाहिए। पुन: प्राङ्मुख होकर अथवा भृकुटी तान कर पार्श्वस्थित से धारण और नीचे झुके हुए से प्रवेश करना चाहिए। पार्श्वस्थ से धारण तथा अधोनति से प्रवेश करते हुए दोनों अंगुलियों के उत्क्षेपण से तथा इनके तानने से और अविकारी मुख से उन्नावन करना चाहिए और पार्श्व में नत मस्तकों से प्रणाम करना चाहिए। फैलाये ऊपर अंगुलि उठा कर निदर्शन करना चाहिये ? हुये मुख के आगे विविध वचनों का निदर्शन एवं अनामिका आदि अंगुलियों से सुधन-सुस्पर मांगलिक पदार्थों का समालम्भ किया जाता है। पराङ्मुख तथा शिर-प्रदेश से मर्दन करते हुये इस हाथ से शिर-सन्निवेश दिखाना चाहिए। और यह सब अविकारी मुख से दिखाना चाहिए। दोनों तरफ से वेग के निकटवर्ती दोनों हाथों से साफा और मुकुट आदि प्राप्त करता है। यह दिखाना चाहिए। और कान और नाक का बंद करना दिखाना चाहिए। निकट-स्थित पाणि बनावटी भौंवों से तथा ऊपर स्थित दो अंगुलों वाले उस हाथ से दोनों अंगुलियों से अधोमुख दिखाना चाहिए। इसी हाथ के चलायमान दोनों अंगुलियों से पटपदों को दिखाना चाहिए और कभी २ दोनों हाथों से छोटे २ पक्षियों को दिखाना चाहिए और पवन-प्रभृतियों को भी और अन्य पदार्थों को भी दिखाना चाहिए। चलती हुई अंगुलियों वाले अधोनत दोनों हाथों से अथवा अधोमुख से आगे सर्पण करता हुआ स्रोत दिखाना चाहिए। ऊपर स्थित सूत्र-सदृशाकार दूसरे हाथ से गंगा का स्रोत दिखाना चाहिए। सम्मुख प्रसर्पण करते हुए चलायमान एक हाथ से वह विकृतानन विचक्षण को सर्प का अभिनय करना चाहिए। कनीनिका-देश-स्पर्शी अधोमुख दूसरी दोनों अंगुलियों से उस विततानन व्यक्ति का अश्रुप्रमार्जन दिखाना चाहिए। नीचे २ सर्पण करती हुई भाल-देश तक जाती हुई भृकुटी को धीरे धीरे लचाकर तिलक की रचना करनी चाहिए और फिर उस अनामिका से रोचना-क्रिया करनी चाहिए। यह क्रिया भाल-प्रदेश पर विशेष रूप से विहित है। और उसी से अलकों का प्रदर्शन करना चाहिये तथा उन्नानित त्रिपताक-हस्त से ह्रास करना चाहिए। मुख के आगे टेढ़ी २ दो अंगुलियों के चालन से और वक्षस्थल के अग्र-भाग से दो अंगुलियों

के चलाने से मयूर, सारिका काक और कोकिल को दिखाना चाहिए। इसी प्रकार मानो पूरे तीनो लोकों का अभिनय प्रदर्श्य है ।।४० ६२।।

कर्तरीमुख हस्त –त्रिपताक हस्त में जब मध्यम अगुली की पृष्ठावलोकनी तर्जनी होती है तब यह कर्तरीमुख नाम से पुकारा जाता है। मुडे हुए, नम हुए पैर से सञ्चरण प्रदर्श्य है तथा अन्य भगिया भी अधोमुख से इसी भाति से रगण करना चाहिए। मस्तक-वर्ती उन्नत भ्रू-प्रदेश मयुन उप से शृग दिखाना चाहिए। ऊची उठी हुई तथा तनी हुई भौ दिखाय। पुन कुछ नीचे झुके हुए उससे अध पतन अथवा जाते हुए मरण दिखाना चाहिए। शक्ति विक्षपण-रहित हस्त से, पुन कुछ कुञ्चितभ्रू से शिर का झुकाते हुए चलते हुए अन्य भगिया प्रदश्य एव अभिनय है ।।६३–६६½।।

अर्धचन्द्र-हस्त-मुद्रा –जिसकी अगुलिया अगूठे के साथ धनुष के समान खिची हुई होती हैं उस हाथ को अर्धचन्द्र कहा गया है। अब उसके कम का वर्णन किया जाता है। भौं को ऊचा कर के एक हाथ से शशि-रेखा का प्रदर्शन करना चाहिए मध्यमा से उपन्यस्त उसी प्रकार निघाटन करना चाहिए। मोटे तथा छोटे पौध, शख, कलश कक्ण इन सब को सयुत हस्त से दिखाना चाहिए। रशना, कुडल आदि के तथा तलत्र के तद्देशवर्ती उससे कमर और जाघो का भी अभिनय दिखाना चाहिए। इसी से अनुगता दृष्टि अन्य अभिनयो में भी प्रदर्श्य है ।।६६½-७३।।

अराल-हस्त-मुद्रा –पहली अगुली धनुष के समान विनत बनानी चाहिए और अगूठा कुचित होना चाहिए और शेष अगुलिया अराल नामक हस्त में भिन्न एव ऊर्ध्ववलित अर्थात् उठी हुई बनायी गयी है। आगे से फैलाय हुए तथा कुछ ऊपर उठे हुए इस हस्त से सत्त्व (बल), शौडीय (शौर्य), गाभीर्य, धम और कान्ति दिखाना चाहिए। और भी जो दिव्य पदार्थ हैं उनको भी अविकृतानन भौहों को उठाये हुए उस नर्तक की इसी भाति से दिखाना चाहिए एक हाथ से आशीर्वाद दिखाना चाहिए। स्त्रीकेश-ग्रहण जो होता है और अपने सर्वांग कर निवर्णन जो किया जाता है तथा उत्क्षपण भी यह जो सब किया जाता है वह सब भी उठी हुई भ्रू-प्रदर्शी पुरस्सर [illegible] चाहिए और प्रदक्षिण गत हाथों से उसे दिखाना चाहिए। विवाह और सम्प्रयोग तथा बहुत से कौतुक अगुली के अग्रे समागम में बनाई गई स्वस्तिका वाले परिमण्डल से प्रादक्षिण्य दिखाना चाहिए तथा इसी के द्वारा परिमण्डल–सस्थान, महाजन

और इस पृथ्वी पर जो निर्मित द्रव्य हों उन सबको दिखाना चाहिए। दान, वारण (निषेध), आह्वान अर्थात आवाहन (बुलाना, वचन अर्थात् उपदेशादि इस असयुत एव चलित हस्त से दिखाना चाहिए। तथा इसी हाथ से पसीने का हटाना और सूघना चाहिए। नृत्त कोविदो के द्वारा उस प्रदेश में प्रवृत्त हस्त से स्त्रियो के विषय मे भी यही हाथ प्राय प्रयोग मे लाया जाता है। इन सब कर्मों का यह अराल-नामक हस्त पताक के समान करता है। मुख-स्थित इस हस्त से अभिनय उचित नही, यह मुद्रा पूर्वोक्त प्रदर्श्य है ॥७४-८५½॥

शुक-तुण्ड हस्त-मुद्रा—अराल-नामक हस्त भी जब अनामिका अगुली टेढी होती है तब उस हाथ को शुक-तुण्ड समझना चाहिए और उसके कर्म का वर्णन अब किया जाता है। 'तुम इस तिरछे हस्त से अपने को मत दिखाना'—यह निर्देश है। पुन पुन प्रसारित एव सामने झुकते हुए आवाहन, तिरछे प्रसारण, पुन विसर्जन आदि व्यावृत्त हस्त-मुद्रा मे दिखाना चाहिये। इस हस्त से फिर दृष्टि एव भ्र ना अनुगत प्रदर्श्य है ॥८५½—८६॥

मुष्टि-हस्त मुद्रा—जिस हाथ के तल-मध्य मे अगुलिया अग्र सस्थित होती है और अगूठा उनके ऊपर होता है उसका मुष्टि-नामक हस्त कहते है। यह भृकुटि चढाये हुए मुखो सहित इस हस्त द्वारा प्रहार और व्यायाम कराना चाहिए और निगम म तो पार्श्व म स्थित दोनो हाथो से बनाया जाता है ॥९०-९१॥

शिखर-हस्त-मुद्रा—छडी तथा तलवार के ग्रहण मे, स्तन-पीडन मे, गात्र-मर्दन मे, असयुत मुद्रा मे इस हस्त को करना चाहिए, पुन इसी हाथ की मुष्टि के ऊपर जब अगूठा प्रयुक्त होता है तब इस हाथ का प्रयोग करने वालो को शिखर नाम से समझना चाहिए। कुश, रश्मि अर्थात डोरी तथा धनुष के ग्रहण म इसे वाम बनाना चाहिए। जहा तक श्रोणि अर्थात् नितम्ब-प्रदेश के ग्रहण का विषय है वह दोनो हस्तो को स्पष्टे तक करना चाहिये शक्ति, तोमर आदि आयुधो के मोचन मे तो दक्षिण हाथ का प्रयोग किया जाता है, पाद और ओठ के रजन मे चलिताङ्गुष्ठक होता है। बालो के समुत्क्षेपण मे उसी प्रदेश मे स्थित होता है तथा इसकी दृष्टि और दोनो भ्रुवो को अनुगत बनाना चाहिय ॥ ९२—९६ ॥

कपित्थ हस्त-मुद्रा —इसी शिखर-नामक हस्त की जब प्रदेशिनी नामक अगुली दो अगूठो से निपीडित होती है तब उस हस्त को कपित्थ नाम से पुकारा

जाता है । इसी हाथ से विद्वान को चाप, तोमर, चक्र, असि (तलवार), शक्ति, वज्र, गदा आदि इन सब शस्त्रों के चलाने का अभिनय करना चाहिए। इस प्रकार इन आयुधों के विशेषावसर दृष्टियों एव भ्-चालनो का भी सयोग अपेक्षित है ॥९७ ९९॥

खटकामुख हस्त-मुद्रा —कनिष्ठ अगुली के सहित इस कपित्थ की अनामिका अगुली उच्छ्रित एव वक्र होती है तब यह हाथ खटकामुख समझना चाहिए। इसी नत हस्त से होत्र, हव्य और अन्न बनाया जाता है। दोनो हाथो से छत्र-ग्रहण तथा छत्राकर्षण द्रष्टव्य है। एक से आदर्श (शीशा) पकडना और पखा चलाना, दूसरे से अवक्षेपण करना, उत्क्षपण करना, फिर खण्डन करना घूमते हुए उससे परिवेषण करना तथा बडे दण्ड को ग्रहण करना, वस्त्रालम्बन करना, कुसुम केश-कलाप आदि के पकडने म तथा माला आदि के सग्रह म दृष्टि एव भौं सहित इस हस्त को विचक्षण के द्वारा प्रयोग करना चाहिए। ॥१००-१०४॥

सूचीमुख-हस्त-मुद्रा —सूचीमुख खटक सज्ञक हस्त मे जब तर्जनी नामक अगुली फैला दी जाती है तब उस हस्त को सूचीमुख के नाम से प्रयोग-शास्त्रियो को समझना चाहिए। इसकी प्रदेशिनी नामक अगुली का ही प्राय व्यापार होता। यह हस्त सम्मुख से कम्पित, उद्वाहित, ललाट एव वाहित विभ्रमो से प्रदर्श्य है। भ्रू-का अभिनय, चालन, एव जम्भन भी अपेक्ष्य है। धूप, दीप पुष्प, माल्य पल्लव आदि पुष्प-मञ्जरी प्रभृति भी प्रदर्श्य हैं। वस म टेढा गमन भी अभिनेय है। बालसर्पो को भी यहा दिखाना आवश्यक है। पुन छोटे मयूरो मडल और नयनो (जो ऊपर से चचल हो रहे हो) उनकी तारकाओ को भी दिखाना चाहिये। तथा नासिका की दण्ड-यष्टियों को दिखाना चाहिए, मुखामक, आग विनत इससे दाढी दिखाना चाहिए और टेढे मडल वाली उससे सब लोक दिखाना चाहिए। लबे और बडे दिवस म इस उन्नत करना चाहिए। अपराह्ण-वेला में भी को भुकुटी और मुख के निकट उसका कुचिता विजृम्भित करना चाहिए। नृत्य के तत्व को जानने वालो के द्वारा वक्रवाद के निरूपण म इस प्रकार की उस अगुली का प्रयोग करना चाहिए, जिसमे हाथ फैला हुआ हो, अगुलिया कप रही हो, विशेष कर गुस्से मे पुन हाथ का उठा कर फैला कर यह अभिनय प्रदर्श्य है। कुतन, अगद, गण्ड एव कुण्डलो के रूपण मे तद्देश-वर्तिनी, उस अगुली को बार बार घुमाना चाहिए। पुन उस ललाट मे पतन एव उद्वृत्त रूपा भुके इस प्रकार अभिनय मे लाओ —इस

प्रकार अभिनय मे लाओ, इस प्रकार की हस्त-मुद्रा से फिर उसको फैलाकर, उठा कर दिखाना चाहिये। और उग्र-कोप-प्रदर्शन इस अगुली से 'कौन है'--इस मुद्रा से तिरछे निकलती हुई तथा कपनी हुई प्रदश्य है। पुन कान खजुआने मे, शब्द सुनने मे भी यही मुद्रा विहित है। हाथ की दो अँगुलियो को सम्मुख सयुक्त करके वियोग मे विघटित और लडाई मे स्वस्तिका के आकार वाली करना चाहिए। परस्पर-निपीडन मे भी इनको ऊपर उठाते हुए एव ऊर्ध्वाग्र चलिता प्रदर्श्य हैं। पुन आख भी तथा दोनो भौवें को भी हस्तानुगत अभिनेय हैं ॥१०५-१२२३॥

पद्मकोशक-हस्त-मुद्रा—जिसकी अंगुलिया अगूठे के सहित विरली और कुचित होती हैं और ऊपर उठी हुई और अग्रभाग सयत यदि वे होती हैं तो ऐसा हस्त पद्म-मज्ञक कहलाता है। और उस हाथ के द्वारा श्रीफल अथवा कपित्थ का ग्रहण-रूपण करना चाहिए। बीजपूरक-प्रभृति प्रधान फलो का तथा अन्य फलो का भी उन उन फलो के समान रूप बनाकर उस हाथ के समान रूप बनाकर उस हाथ के द्वारा ऊर्ध्वगति से रूपण करना चाहिए। मुह फैलाकर स्त्री का कुच (स्तन) निरूपण करना चाहिए और दृष्टि और भौं को इस हाथ के अनुगत बनानी चाहिए ॥१२२३-१२५॥

सर्पशिर-हस्त-मुद्रा—जिस हाथ की सब अगुलिया अगूठे के सहित सहत अर्थात् सटी होती हैं और जिसके तलवे निम्न होते हैं, उस हाथ को सर्प-शिर् नाम से पुकारा जाता है। सींचने और पानी देने मे उसे उत्तानित करना चाहिए। सर्प की गति मे तो फिर उसे अधोमुख विचलित करना चाहिए और इस सर्पशिर-नामक हस्त से आस्फोटन-क्रिया कही गयी है। फिर भी बढाकर इस प्रकार से टेढा गिर करके सम्मुख अधोमुख से हाथी का कुम्भ-स्फालन दिखाना चाहिए और भ्रू-सहित दृष्टि को हस्त की अनुयायिनी बनाना चाहिए ॥१२६-१३०३॥

मृगशीर्षक-हस्त-मुद्रा—अधोमुख तीनो अगुलियो की जब समागति होती है तथा कनिष्ठा और अगुष्ठ जब ऊपर होते हैं तब यह मृगशीर्षक के नाम से पुकारा जाता है। "यहा पर इस समय यह है—आज यहा पर है"—इस प्रकार इसका प्रयोग करना चाहिए। हास्य के आलम्भन मे, अक्ष-पातन मे, और स्वेदाप-नयन मे टेढी मुद्रा से उस में तत्प्रदेश-स्थित अधोमुख करना चाहिए। पुन उसकी क्रोध-मुद्रा प्रदश्य है। इसकी अनुयायिनी दृष्टि तथा दोनो भौवो को भी वैसा ही करना चाहिए ॥१३०३-१३३॥

काङ्गूल-हस्त-मुद्रा —त्रेताग्नि-संस्थिता मध्यमा एव तर्जनी के सहित अंगुष्ठ प्रदर्श्य है। कांगूल में अनामिका नामक अंगुली टेढ़ी और कनिष्ठा ऊपर की ओर उस को उत्तानित करके करकधू-प्रभृति प्रकृतियों को दिखाना चाहिए और तरुण जो फल हो तथा और कोई जो कुछ छोटी बड़ी वस्तु हो, अंगुली नचाकर स्त्रियों के रोष-वचनों का तथा मुक्ता, मरकत आदि रत्नों के प्रदर्शन का इसी हाथ से प्रदर्शन विहित है। इसी हस्तानुगत भौंहों का दृष्टि-पुरस्सर अभिनय पूर्ववत् अनिवार्य है ॥१३४-१३७½॥

अलपद्म-हस्त मुद्रा —जिसकी अंगुलियां हथेली पर आवर्तिनी होती हैं और पास में पार्श्वगता विकीर्ण होती हैं, उस हाथ को अलपद्म प्रकीर्तित किया गया है। प्रतिशोधन में यह हाथ सम्मुख टेढ़ा रखना चाहिए। "तुम किस की हो"—नहीं है—इस वाक्य के शून्य उत्तर में बुद्धिमान के द्वारा अपने उपन्यसन तथा स्त्रियों के सन्देश में यह मुद्रा अभिनेय है। पुन दृष्टि एवं दोनों भौंहे उसी प्रकार इस हस्त मुद्रा की अनुगत प्रदर्श्य हैं ॥१३७½-१४०½ ॥

चतुर-हस्त मुद्रा —जहां पर तीन अंगुलियां फैली हुई हों और कनिष्ठा ऊंची उठी हो और उन चारों के मध्य में अंगुष्ठ बैठा हो, उसको चतुर बताया गया है। विनय में और नम में यह हाथ अभिनय-शास्त्री के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। नैपुण्य में शिर को उन्नत कर पुन सत्व अर्थात बल में ऊंची भौं कर के पुन नियम में इस चतुर हस्त को उत्तान बनाना चाहिये, किन्तु कुटिला भ्रू को विनय के प्रति ऐसा आचरण नहीं करना चाहिए। अधोमुख उस हाथ से बाल दिखाना चाहिए और इस बाल-प्रदर्शन में भृकुटी से टेढा शिर बनाना चाहिए। पुन उत्तानित हस्त से बलपूर्वक आतुर नर को दिखाना चाहिए। तिरछे फैलाकर फिर उत्तानित कर बाहर अविकृतास्य-मुद्रा से सत्य में तथा अनुमिति में भी यह प्रदश्य है। इसी प्रकार से युक्त पथ्य में, दाम में और यम में इसी प्रकार से हाथ को प्रयुक्त करना चाहिए। दो से अथवा एक से थोड़ा मडलावस्थित उससे विचार करता हुआ अभिनय करना चाहिए, और इसी प्रकार लज्जित तथा निलज्जित मुद्रा करना चाहिए और वहां पर भौंहों को नीचे करके अविकृत (अविकार्य) मुख दिखाना चाहिए। फिर मण्डलावस्थित वक्षस्थल पुरत स्थित अधोमुख से वहां भी अविकृत मुख तथा अभ्युन्नत दोनों भौंहें प्रदर्श्य है और शिर बायें से नत प्रदर्श्य है। दोनों आंखों से मृग-वर्ण-प्रदर्शन करना चाहिए। विचक्षणों के द्वारा तद्देशवर्ति दोनों हाथों से भ्रू-सहित क्षेपण प्रदर्श्य है। पुन उत्तान-युत-हस्त उससे तदनन्तर पताकार-प्रदर्शन करना चाहिए। इस चतुर-

मनक हस्त से भी को योना मा लचा कर लीला, रति, स्मृति वद्धि, मूर्छा, मगत, प्रणय, गौन, माधुय भाव, प्रशम, पुष्टि, सचिव, शीत, चातुर्य, मार्दव सुख, प्रश्न-वार्ता, वेष और युक्ति तथा दाक्षिण्य यौवन मे, विभव और अविभव तथा कुछ सुन्न, शाद्वल, मृदु, गुण, अगुण, घर स्त्री, नाना विध प्राश्रय वाले वर्ण–ये सभी चीजें इस चतुर-हस्त से यथोचित अभिनय के योग्य हैं। कहीं पर प्रमाव कही पर मृदुला तथा जिस २ अर्थ की जसे जैसे प्रतीति हो वुद्धिमानो को उसी उसी प्रकार पूर्वोक्त हस्त से शीर्ष मे अभिनय करना चाहिए। उसी के अनुसार भ्रू और दृष्टि भी अभिनेय हैं। अर्थात् इस मुद्रा मे सब करना चाहिए। मण्डलस्थ हस्त से पीत और रक्त दिखाना चाहिए। कुछ नतभ्रू शिर से और परिमडलित उससे काला नीला दिखाना चाहिए और स्वाभाविक रूप उस चतुर-हस्त से कपोतादि वर्णों को दिखाना चाहिए ॥ १४०-१५६ ॥

भ्रमर-हस्त-मुद्रा —मध्यमा और अंगुष्ठ सदेशाकृति मे और प्रदेशिनी टेढी और ऊपर दोनो अगुलिया जहा पर प्रकीर्ण हो उसको भ्रमर नामक कर कहा गया है। उस हाथ से कुमुद, उत्पल और पद्म का ग्रहण–अभिनय करना चाहिए। कर्ण-देश पर उस हाथ को रख कर बनाना चाहिए। और उनके अभिनय मे दृष्टि को और भौं को हस्त का अनुगामी करना चाहिए ॥ १६०-१६२ ॥

हसवक्त्र हस्त मुद्रा — हसवक्त्र नामक इस हाथ की दोनो अगुलिया अर्थात् तर्जनी तथा मध्यमा और अगूठा भी त्रेताग्नि मे स्थित सा प्रदर्शन विहित है। शेष दोनो अगुलिया फैली हुई अभिनेय हैं। कुछ स्पन्द करते हुए अगूठे वाले इस हाथ से दोनो भौंहो को उठा कर निस्सार, अल्प और सूक्ष्म तथा मृदुल और लघु दिखाना चाहिए और इसके अभिनय मे दृष्टि और भौं को हस्त का अनुगामी दिखाना चाहिए ॥ १६३-१६४½ ॥

हसपक्ष-हस्त-मुद्रा —पहली तीनो अगुलिया फैली हुई और कनिष्ठा ऊपर उठी हुई तथा अगूठा जिसमे कुचित हो उस हाथ को हसपक्ष बताया गया है। उस हाथ को उत्तानित कर बाहर टेढा कर निवापाञ्जलि दिखाना चाहिए। उसी के द्वारा गण्ड के रूप या गण्ड-वर्नन और भोजन मे तथा प्रतिग्रह अर्थात् दक्षिणा आदि की स्वीकृति मे इसे उत्तान करना चाहिए और उसी प्रकार ब्राह्मणो के आचमन आदि पूत कार्यों मे इसे करना चाहिए। दोनो के अन्तरावकाश के नीचे इसे स्वस्तिक-योगी बनना चाहिए। कुछ शिर को नीचे करके पार्श्व मे

ही दोनों हाथो से स्तम्भ-दर्शन अभिनेय है। बाए हाथ को फैलाकर एक मे रोमाच करना चाहिए। स्त्रियो अर्थात प्रियाओ के अवाहन मे और अनुलेपन मे तथा स्पर्श मे साथ ही साथ विषाद मे और विभ्रम मे भी स्तनान्तस्थ-रस-स्वाद-पुरस्सर तद्देशवर्ती बनाना चाहिए। और उसे हनु धारण मे अधस्थता प्रयोग करना चाहिए। इस हाथ की दृष्टि को अनुयायिनी और भौहो को भी अनुगता बनाना चाहिए ॥१६५३-१७२३॥

सन्दश-हस्त-मुद्रा —जब अराल-हस्त की तर्जनी और अगुष्ठ का सन्दश-मज्ञक इस हस्त मे भी विहित होता है और जब उसका तल-मध्य आभुग्न हो जाता है तब वह हस्त सन्दश बनाया गया है। वह अग्र, मुख तथा पार्श्व इन तीनो भेदो मे तीन प्रकार का होता है और उसको पुष्पावचय तथा पुष्प-ग्रथन मे प्रयुक्त करना चाहिए तथा तृणो तथा पत्रो के ग्रहण म और साथ साथ केश-सूत्र आदि परिग्रह म प्रयुक्त करना चाहिए। शिल्प के एक-देश के ग्रहण मे तो अग्रदशक को स्थिर करना चाहिए। आकर्षण म तथा खीचने मे भी और वृत से पुष्प को उखाडने मे और साथ ही साथ शलाकादि-निरूपण म भी ऐसा ही करना चाहिए। रोष मे तथा धिक्कार के वाक्य मे बाहर के भाग मे प्रसरण करते हुए इस हस्त-मुद्रा का यह अभिनय विहित है। इसी प्रकार और अभिनय प्रदश्य हैं। गुण-मत्र के ग्रहण मे तथा बाण के लक्ष्य निरूपण ध्यान और योग हृदय-प्रदेश पर इस हस्त को रख कर दिखाना चाहिए और कुछ अभिनय म तो हृदय के सम्मुख मयुत करना चाहिए। निन्दा अथवा कोमल और दोषयुक्त वचनो मे विवर्तिताग्र वाम हस्त कुछ निमिल सा प्रदश्य है। प्रवाल की रचना म वर्तिका के ग्रहण मे नेत्र-रजन मे और आलेख्य मे तथा आलवृन्तक पीडन मे भी इसी हस्त का प्रयोग करना चाहिए। तदनन्तर इसकी भ्रू और दृष्टि अनुगत करना चाहिए ॥१७२३-१८२३॥

मुकल हस्त-मुद्रा —जिस हस्त की हस-मुख के समान हस्त-मुद्रा ऊर्ध्वा होती है और जिसकी अगुलिया समागताग्रसहिता होती हैं, उस हस्त को मुकुल के नाम से पुकारा जाता है। यहा पर मुकुलो तथा कमलो आदि म इसे सघन बनाना चाहिए। सामने फैलाकर उत्तालित यह हस्त विट-चुम्बक होता है ॥१८२३-१८४३॥

ऊर्णनाभ-हस्त-मुद्रा —पद्मकोष-नामक हस्त की अगुलिया जब कुचित होती हैं तब उस हस्त को ऊर्णनाभ समझना चाहिए और चोरी और केशग्रह

में इसे प्रयुक्त किया जाता है। चोरी और केश-गृह मे इस हाथ को अधोमुख करना चाहिए। शिर को खुजलाने मे मस्तक के प्रदेश मे बार बार चलता हुआ इसे तिर्यक् बनाना चाहिए और कुष्ठ की व्याधि के निरूपण मे इसे टेढा बनाना चाहिए। सिंह और व्याघ्रादि के अभिनय मे इसे अधोमुख करना चाहिए तथा इसको भ्रुकुटि और मुख से सयुक्त बनाना चाहिए। यहा पर भी दृष्टि और भ्रू का कर्म पहले के समान ही बनाया जाता है ॥१८४½–१८८½॥

ताम्रचूड-हस्त मुद्रा —मध्यमा और अगुष्ठ सन्दश के समान जहा पर हों और प्रदेशिनी वक्रा हो तो दोनो अगुलिया तलस्थ कर्तव्य हैं। मृग, व्याल आदि के डराने मे तथा बाल-सधारण मे इस हाथ को भर्त्सना में भृकुटी-युक्त बनाना चाहिए। सिंह एव व्याघ्र आदि के योग मे विच्युत हो कर शब्द करता है। दृष्टि एव भ्रू इस हस्त की सर्वत्र प्रगुण विहित है। दूसरो के द्वारा इसकी दूसरी सज्ञा भी दी गयी है ।१८८½-१९१½॥

अभी तक असयुत चौबीस हस्तो का वर्णन किया गया। अब तेरह सयुत हस्तो के नाम और लक्षण का वर्णन किया जाता है —अजलि, कपोत, कर्कट, स्वस्तिक, खटक, वर्धमान, उत्सग, निषध, डोल पुष्पपुट, मकर, गजदन्तक, अवहित्थ और दूसरा वर्धमान —ये सयुत-सज्ञक तेरह हाथ वर्णित किए गये हैं ॥१९१½–१९५½॥

अञ्जलि-हस्त-मुद्रा —दो पताक हस्तो के सश्लेष से अञ्जलि-नामक हस्त स्मृत किया गया है। वहा पर विद्वान को कुछ विनत शिर करना चाहिए। निकटवर्ती मख मे गुरु को नमस्कार करना चाहिए और वक्षस्थल पर स्थित मित्रो का और स्त्रियो का यथेच्छ विहित है ॥१९५½-१९७½॥

कपोत-हस्त-मुद्रा —दोनो हाथो से परस्पर पार्श्व-सग्रह से कपोत नाम का हस्त होता है इसके कर्म का वर्णन अब किया जाएगा। शिरोनमन मे एव वक्ष स्थल पर हाथ रख कर उसी से गुरु-सम्भाषण करना चाहिए तथा उसी से शीत और भय प्रदर्शन करना चाहिए। विनयाभ्युपगम मे भी यही विहित है। अगुलि से सघृष्यमाण मुक्त पाणि से 'यह नही करना चाहिए, ऐसा ही करना चाहिए''—आदि अभिनेय हैं ॥१९७½–२००॥

कर्कट-हस्त-मुद्रा —जिस हस्त की अगुलिया अन्योन्याभ्यन्तर निःसृत होती हैं, उस को कर्कट समझना चाहिए और उसके कर्म का अब वर्णन किया जाता है। शिर को उठाकर तथा भौहो को नचाकर कामातुरो का

जृम्भण (जमुहाई लेना) तथा अग-मर्दन इसी से दिखाना चाहिए ॥२०१-२०२॥

स्वस्तिक-हस्त-मुद्रा —मणिबन्धन मे विन्यस्त अराल दोनो हस्तो को स्त्रियों के लिये प्रयोजित होते हैं तो उसे स्वस्तिक बताया गया है। चारो तरफ ऊपर प्रदर्श एव विस्तीर्ण रूप मे वनो, मेघो, गगन आदि प्राकृतिक दृश्य अभिप्रेय हैं ॥२०३½-२०४॥

खटकावर्धमान हस्त मुद्रा —खटक मे खटक न्यस्त खटकावर्धमानक-सज्ञक यह हस्त बताया जाता है। शृगार आदि रसो के अर्थ मे इसे प्रयोग करना चाहिए तथा उसी प्रकार इस का परावृत-प्रभेद भी विहित है ॥२०४½-२०५॥

उत्सग-हस्त मुद्रा –दोनो अराल हस्त विपर्यस्त और ऊचे उठे हुए वर्धमानक जब हो तो स्पर्श मे एव ग्रहण मे इसकी सज्ञा उत्सङ्ग बताई गयी है। उत्सग नाम वाले ये दोनो हाथ होते हैं। अब उनका कर्म बताया जाता है। उन दोनो का विशेष प्रहरण अथवा हरण मे विनियोग करना चाहिए और इन दोनो हाथो को स्त्रियो की ईर्षा के योग्य बनाना चाहिए। दायें अथवा बाये हाथ को कूपर के मध्य मे न्यास करना चाहिए ॥२०६ २०८।

निषध हस्त मुद्रा –यह लक्षण गलित एव लुप्त है।

दोल-हस्त-मुद्रा जहा दोनो पताक हस्तो के अभिनय मे कधे प्रशिथिल, मुक्त तथा प्रलम्बित दिखाई पड रहे हो, उसे करण म दोल की सज्ञा हुई ॥२०६॥

पुष्पपुट-हस्त-मुद्रा—जो सर्पशिर नामक हस्त बताया गया है उसका अगुल समक्त हो तथा जो दूसरा हाथ पार्श्व-सश्लिष्ट हस्त होता तो यह हस्त होता है। इसके काम विभिन्न प्रदर्शन, जलपान आदि हैं ॥२१०-२११॥

मकर-हस्त-मुद्रा — जब दोनो पताक-हस्त के अंगूठा उठाकर अधोमुख ऊपर ऊपर विन्यसित होते हैं तब उस हाथ को मकर अथवा मकरध्वज कहते है ॥२१२॥

गजदन्त-हस्त-मुद्रा —कूर्पर मे दोनो हाथ जब सपशीर्षक मथित होते है तब उस हाथ को गजदन्त के नाम से समझना चाहिए ॥२१३॥

अवहित्थ-हस्त-मुद्रा —शुक की चोच के समान दोनो हाथो को बनाकर वक्षस्थल पर रख करके फिर धीरे धीरे मुखाविद्धाभिनय मे उसको अवहित्थ कहा जाता है। इस हाथ से उत्कण्ठा-प्रभृति का अभिनय करना चाहिए ॥२१४-२१५½॥

वर्धमान-हस्त-मुद्रा —दोनो हाथ हस-पक्ष की मुद्रा मे जब हो और वे

एक दूसरे के पराङ्मुख भी हो तो इस को वर्धमान के नाम से पुकारा जाता है ॥२१५॥

टि० (१) इस मूलाध्याय मे आगे के दो श्लोक (२१६-२१७) प्रक्षिप्त प्रतीत होते है अत अनुवादानपेक्ष्य ।

टि० (२) चतुर्विंशति (२४) सयुत हस्त-मुद्राओ एव त्रयोदश (१३) असयुत हस्त-मुद्राओ के वर्णन के उपरान्त अब एकोनत्रिंशद (२६) नृत्य-हस्त-मुद्राओ का वर्णन किया जाता है । इन नृत्य-हस्तो मे इस मूल मे केवल अट्ठाईस नृत्य-हस्त प्राप्त हो रहे हैं उनमे कहनो के लक्षण भ्रष्ट हैं, गलित भी है तथा अव्यवस्थित भी है, अत मुनि की दिशा मे अर्थात् नाट्य-शास्त्र-प्रणेता भरत-मुनि के नाट्य-शास्त्र की दिशा से यत्र-तत्र आवश्यक व्यवस्था का भी प्रयत्न किया गया है ।

ये ही सयुत असयत दोनो हस्त-मुद्रायें नृत्य-हस्त-मुद्राओ मे भी प्रयोग मे लाई जा सकती हैं। चेष्टा, अग—जैसे हस्त से, उसी प्रकार सात्विक विकार जो गड, ओष्ठ, नासिका, पार्श्व, ऊरु, पाद, आदि गतियो एव आक्षेप-विक्षेपो से जिस प्रकार की अनुकृति अभिव्यक्त हो सकती है, उसी प्रतीति से इनका अनुकरण इन मुद्राओ मे विहित है ॥२१८-२१६॥

नृत्त-हस्त :—अब इन नृत्त-हस्तो का वर्णन किया जाता है । पहले इनकी निम्न तालिका प्रस्तुत की जाती है –

(१) चतुरश्र	(१०) उत्तानवञ्चित	(२०) ऊर्ध्व-मडली
(२) उद्वृत्त	(१२) पल्लव-हस्त'	(२२) पार्श्व-मडली
(३) स्वस्तिक	(१३) केश-बन्ध	(२२) उरो मडली
(४) विप्रकीर्णक	(१४) लता-कर	(२३) उर पार्श्वार्धमडल
(५) पद्म-कोश	(१५) करि हस्त	(२४) मुष्टिक-स्वस्तिक
(६) अराल-खटकामुख	(१६) पक्ष-वञ्चित	(२५) नलिनी पद्मकोषक
(७) आविद्ध-वक्त्र	(१७) पक्ष-प्रद्योतक	(२६) हस्तावनपल्लव-कोल्बण
(८) सूची-मुख	(१८) गरुड-पक्षक	(२७) ललित
(६) रेचित	(१६) दड-पक्ष	(२८) वलित
(१०) अध-रेचित ।		

टि० —सकेत २६ नृत्त-हस्तों का है परन्तु प्रदर्शित क्रम से केवल २८ही संख्या मिलती है ॥२२०–२२७॥

चतुरश्र – जब वक्षस्थल के सामने अष्टांगुल-प्रदेश मे स्थित, सम्मुख-खटकामुख, पुन समान कूपराश—ऐसी मुद्रा प्रतीत हो रही हो तो नृत्य हस्त-विशारदो के द्वारा इस नृत्य-हस्त की सज्ञा चतुरश्र दी गई है ॥२२८-२२९½॥

टि० :–यहा पर इस मूल मे उद्वृत्त एव स्वस्तिक इन दोनो नृत्य-हस्त-मुद्राओ का लक्षण गलित है।

विप्रकीर्ण :—हस-पक्ष की आख्या वाले दोनो हस्त जब व्यावृत्ति एव परिवर्तन से स्वस्तिक-आकृति मे लाए जाते हैं, पुन मणि-बधन मे व्यावित अर्थात हटा दिए जाते हैं, तो इस मुद्रा को नृत्याभिनय-कोविदो ने विप्रकीर्ण की सज्ञा दी है ॥२२९½—२३०॥

पद्मकोश :—वे ही दोनो हस पक्ष-हस्त जैसे विप्रकीर्ण उसी प्रकार इसमें व्यावर्तन-किया का आश्रय लेकर, अल-पल्लवता की आकृति मे परिवर्तित कर इन दोनो हस्तो को जब ऊर्ध्व-मुख किया जाता है तो इस की सज्ञा पद्मकोशक बनती है ॥२३१—२३२½॥

अराल-खटकामुख —विवर्तन एव परावर्तन इन दोनो प्रक्रियाओ मे दक्षिण को अराल और वाम को खटकामुख मे स्थित कर जब यह मुद्रा बनती है तो इसको अराल-खटकामुख-नृत्य-हस्त कहते है ॥२३२½-२३३॥

आविद्धवक्त्रक —भुजाए, कधे और कूर्परो के साथ जब बाए और दाए ये दोनो हाथ कुटिलावनन-क्रिया मे अधोमुख-तल, आविद्ध, उद्धत एव विनत इन क्रियाओ से जो मुद्रा प्रतीत होती है वहा इस मुद्रा की आविद्ध-वक्त्रक नृत्य-हस्त-मुद्रा-सज्ञा होती है। इसकी विशेषता यह भी है कि इस मुद्रा मे गदा-वेष्टन-योग भी विहित है ॥२३४—२३५॥

सूची-मुख :—जब सर्प शिर की मुद्रा मे तलस्थ अगुष्ठक वाले दोनो हाथ तिरछे स्थित हो कर और आगे प्रसारित कर जो आकृति प्रतीत होती है, उसमे इस नृत्य-हस्त की सज्ञा सूची-मुख से कीर्तित की गई है ॥२३६॥

रेचित :—मणिबधन से विच्युति प्रदान कर सूचीमुख की ही आकृति इनको पहले देकर पुन बाद मे व्यावृत्ति और परिवृत्ति से हसपक्ष की मुद्रा मे लाकर कमल-वर्तिता करनी चाहिए, पुन इनको द्रुत-भ्रम की गति मे लाकर दोनो बगलो मे धीरे धीरे रेचित करना चाहिए, तो इस नृत्य-हस्त-मुद्रा को विशारदो ने रेचित कहा है ॥२३७-२३८½॥

अर्द्धरेचित —पूर्व-व्यावर्तित-क्रिया का आश्रय लेकर बाहु-वर्तना से चतुरश्र और परिवृत्ति इन दोनो मुद्राओ से जब दक्षिण हाथ चतुरश्र की मुद्र

मे आ जाता है । पुनः बाया हाथ रेचित मुद्रा मे आ जाता है । तो विद्वानो ने इसे अर्द्धरेचित की सज्ञा दी है ॥२३९½-२४१½॥

उत्तान-वञ्चित – दोनो हाथो को चतुरश्र के समान व्यावृत्ति एव परिवृत्ति से वर्तित कर पुन कूर्पर एव अस मे अचित कर जब इस प्रकिया मे ये दोनों हाथ त्रिपताकाकृति प्रतीत होन लगते हैं और कुछ ये दोनों हाथ त्र्यश्रस्थिति (तिकोनी) मे आस्थित होते है तो इनकी सज्ञा उत्तानव ञ्चितनृत्य -हस्त हो जाती है ।२४१½-२४२½॥

पल्लव–हस्त : इस मुद्रा मे या तो बाहु-वर्तन अथवा शीर्ष एव बाहु दोनों के वर्तन से, इस क्रिया मे अभ्यर्णागत दोनो हाथ जब पताका के समान निर्दिष्ट हो जाते हैं तो इस नृत्य-हस्त-मुद्रा की पल्लव-सज्ञा कही गयी है॥२४२½-२४४½॥

केश-बन्ध —मस्तक पर दोनो हाथ जब उद्वेष्टित-वर्तना-गति एव सरणि से शिर के दोनो बगलो पर जब पल्लव-सस्थानाकृति में दोनो हाथ दिखाई पडते है । तो इस नृत्य-हस्त की सज्ञा केश-बन्ध दी गई है ॥२४४½-२४५½॥

लता-हस्त :– . .. . ? जब ये दोनो हाथ अभिमुख निविष्ट हो जाते हैं तथा दोनो बगलो पर पल्लव-हस्त की आकृति मे दिखाई पडते हैं तो इस नृत्य-हस्त की मुद्रा की सज्ञा लता-हस्त दी गई है ॥२४५½-२४६½॥

करि-हस्त —इस करि-हस्त की विशेषता यह है कि व्यवर्तन से दक्षिण हस्त लता-हस्त के समान तथा वाम हस्त उन्नत विलोलित होकर त्रिपताक–हस्त की आकृति मे परिणत हो जाते है तो इस नृत्य-हस्त-मुद्रा को सज्ञा करि-हस्त दी गई है ॥२४६½-२४७½॥

पक्ष-वचितक —उद्वेष्टित वर्तना से जब दोनो हाथ त्रिपताक के समान अभिमुख घटित हो जाते हैं पुन करि-हस्त सन्निविष्ट भी प्रतीत होने लगते है तो इस नृत्य-हस्त की सज्ञा पक्ष-वञ्चितक दी गई है ॥२४७½–२४८½॥

पक्ष-प्रद्योतक :—जब ये दोनो हाथ त्रिपताक हाथो के समान कटिशीर्ष-सन्निविष्टाग्र दिखाई पडते है, पुन विवर्तन एव परावर्तन से यह पक्ष-प्रद्योतक मुद्रा बन जाती है ॥२४८½–२४९½॥

गरुड-पक्षक -अधोमुख-तलाविद्ध मे दोनो हस्त प्रदर्श्य हैं, पुन इन दोनों हस्त मुद्राओ को त्रिपताकाकार-वैशिष्ट्य विहित है ॥२४९॥

दण्ड-पक्षक —व्यावृत्ति एव परावर्तन मुद्रा से दोनो हाथों को फैलाकर दिखाना चाहिए ॥२५०॥

ऊर्ध्व-मण्डलिन —इस नृत्य-मुद्रा मे हाथो का ऊर्ध्वदेश-विवर्तन से दर्शनीय होता है ॥२५१½॥

पार्श्वमण्डलिन —इसकी विशेषता यथानाम पार्श्व-विन्यास विहित है। २५१॥

ऊरोमण्डलिन —दोना हाथो मे से एक तो उद्वेष्टित तथा दूसरा अपवेष्टित प्रदश्य है, पुन वक्ष स्थल-स्थान मे उन्हे भ्रमित प्रदर्श्य है ॥२५२॥

टि० यथा-निर्दिष्ट शेष नृत्य-हस्त-मुद्राओ — उरःपार्श्वार्धमण्डलिन, मुष्टिक-स्वस्तिक, नलिनी-पद्मकोषक, हस्तावलपल्लव-वोल्वण, ललित तथा वलित—इन छहो के लक्षण गलित हैं।

इति शुभम्

अनुवाद खण्ड

समाप्त

शब्दानुक्रमणी

अ

इ

ई

उ

टि० शेषांश पृ० ४ पर देखें।

वास्तु-शिल्प-चित्र-पदावली

राज-निवेश

राज-विलास

एव

राजसी कलाये

(अ) यन्त्र-कला

(ब) चित्र-कला

(स) प्रतिमा-कला

विषय-प्रवेश —समरांगण-सूत्रधार-वास्तुशास्त्र—भाग प्रथम—भवन निवेश—विस्तृत अध्ययन, हिन्दी अनुवाद, वैज्ञानिक-दृष्टि-पुरस्सर परिमार्जित संस्करण—मूल-पाठ तथा वास्तु-पदावली—इस प्रकाशित ग्रन्थ मे विद्वानो एव पाठको ने इस ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड वास्तु-कोष—वास्तु-पदावली का परिशीलन किया ही होगा। यहा पर इस समरांगण-सूत्रधार-वास्तु शास्त्र के भाग द्वितीय राज-निवेश एव राजसी कलायें शीर्षक के इस चतुर्थ-खण्ड—वास्तु-शिल्प चित्र-पदावली मे भी तदनुरूप विभाजन है। जो अमर-कोष की दिशा से सानुगत है समरांगणीय वास्तु-कोष को हम ने तीन वर्गों मे विभाजित किया है —

(अ) वास्तु-खण्ड

१ औपोद्घातिक काण्ड,

२ सामान्य पारिभाषिक काण्ड,

३ पुर-काण्ड तथा

४ भवन-काण्ड।

टि० यह खण्ड भवन-निवेश मे प्रकाशित हो ही चुका है।

(ब) वास्तु-शिल्प-चित्र-खण्ड —यत 'वास्तु' बडा ही व्यापक पद है जिस मे कोई भी स्थापत्य की कृति गतार्थ हो सकती है, परन्तु इन तीनों पदो—वास्तु, शिल्प एव चित्र के व्यावहारिक, शास्त्रीय, कलात्मक दृष्टि से हम वास्तु को केवल भवन मे व्यवहृत करना चाहते हैं। अत विना पुर, नगर, ग्राम निवेश के भवन का निवेश हो ही नहीं सकता, अत भवन-वास्तु मे पुर-निवेश, नगर-निवेश, ग्रामादि-निवेश भी स्वत आपतित होते हैं। पुनश्च भवन चतुर्विध है—आवास-भवन (Residential Houses), जन-भवन (Public Buildings)—जैसे सभा, चित्र शाला, संगीत शाला, प्रेक्षा-गृह आदि आदि, राज-भवन तथा देव-भवन। तथापि भारतीय स्थापत्य मे देव-भवन साधारण भवन से सर्वथा विलक्षण एव विशिष्ट है, जिसका निरूपण भाग तृतीय—प्रासाद निवेश मे पारिशीलनीय होगा।

यहा तक प्रासाद-भवनों के स्थापत्य का प्रश्न था, उसकी पदावली (पुर ग्राम, नगर आदि) पर प्रकाश डाल ही चुके हैं। वास्तु-पदावली में उपर्युक्त दश व अनुरूप अभी तीन क्षेत्र है—जन-भवन, राज-भवन एव देव-भवन। इस इस खण्ड में शिल्प के साथ वास्तु की भी समीक्षना क्यो की गई, यह विद्वान् और पाठक समझ सकेंगे।

यहा पर यह भी सूचक है कि वास्तु और शिल्प का पारस्परिक सम्बन्ध किस प्रकार से विभाजित किया जा सकता है। वास्तु शब्द का स्थापत्य-क्षेत्र में जो व्यवहार या उस पर हम सकेत कर ही चुके हैं। अब आइये शिल्प की ओर। शिल्प पद कला के नाम से बहुत पुराने समय से व्यवहृत किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में कला के लिये सर्व-प्राचीनतम प्रयोग शिल्प है। पुन लगभग २५०० वर्ष पुरानी बात है कि वात्स्यायन के काम-सूत्र में कला के लिये शिल्प ही पद विशेष व्यवहार में लाया गया है। अस्तु, वास्तु-शिल्प की जो नई व्युत्पत्ति सबसे पहले मैंने दी है, वह वैज्ञानिक एव क्रमिक है। भारतीय स्थापत्य-शास्त्र के तीन प्रमुख अंग है—भवन, प्रतिमा तथा चित्र। भवन का सम्बन्ध एव अनुराग वास्तु से है। यत शिल्प कला है, इस लिये इस का सम्बन्ध एव अनुराग प्रतिमा से है। पुन भवन और प्रतिमा दोनों ही बिना अलङ्कृति, कान्ति, छाया, लावण्य भावयोजन, सादृश्य अर्थात् पूर्ण रस निव्यक्ति एव सौन्दर्य दृष्टि के बिना ये दोनों निष्प्राण हैं; अत चित्र-स्थापत्य भी भवन-वास्तु का चरम प्रकर्ष माना जा सकता है। शिल्प-रत्न ने इसी दृष्टि को लेकर जो निम्न प्रवचन दिया है वह हमारी इस समीक्षा का पोषण करता है :

एवं सर्वविमानानि गोपुराद‍ीनि वा पुनः
मनोहरतरं कुर्यान्नानाचित्रैं विचित्रितम् ॥

अन्त में इन उपोद्घात के बाद हमे यह बताना है कि राज-भवन राज-निवेश-उपकरण-भवन यथा चित्र-सगीत नाट्य-नृत्य-शालाए तथा देव-भवन बिना प्रतिमा एव चित्र के कभी भी अपना पूर्ण परिपाक में नहीं निष्पन्न हो सकते हैं। अत हमने यहा पर इस खड में वास्तु और शिल्प दोनों को एक साथ रखा है। अभी एक जिज्ञासा और रहती है, जिसका समाधान भी आवश्यक है कि जिस प्रकार वास्तु पद बड़ा व्यापक है, जो सभी-भवनो का स्थापक है, उसी प्रकार शिल्प पद भी बड़ा व्यापक है, जिसमें सभी कलाए चित्र, नृत्य आदि गतार्थ हो सकता है। हमारे पारिभाषिक वास्तुशास्त्र-शिल्प-शास्त्र ग्रन्थों में चित्र पद भी

व्यापक है, जो प्रतिमा का भी पूर्ण बोधक है। हमारे स्थापत्य का यह चित्र पद यथानाम चित्र कला (Painting) का पर्याय वाची नहीं है। हमने अपने अध्ययन मे प्रतिमा को तीन वर्गों मे विभाजित किया है—चित्र, चित्रार्ध एव चित्राभास। इस दृष्टि से चित्राभास ही आधुनिक चित्र कला (Painting) के पर्याय के रूप म कवलित किया जा सकता है। अत इस पदावली को भी हम इसी खड—चित्र खड मे प्रस्तोत्य करेंगे।

अस्तु, अब इस खण्ड को निम्न-लिखित काण्डो मे विभाजित करेंगे

१ राज-निवेश-काण्ड

२ राज-भवनोचित-सज्जा-काण्ड

३ राज-विलास—नाना यन्त्र

४ चित्र-काण्ड

५ प्रतिमा-काण्ड

(स) प्रासाद खण्ड

टि० यह खण्ड यथा सकेतित प्रासाद निवेश में विवेच्य होगा।

राज-निवेश-काण्ड

प्रारम्भिका

राज-भवन अथवा देवालय आदि भवनों के निर्माण के प्रथम वेदियों की स्थापना तथा पीठों का प्रकल्पन अनिवार्य माना गया है। वेदियों और पीठों की निम्न पद तालिका प्रस्तुत की जाती है। साथ साथ इनके विशेषों को भी तालिकानुरूप निर्दिष्ट किए जाते हैं—

वेदी –

	संज्ञा	प्रमाण	विशेष
१	चतुरस्रा	नौ हाथ	यज्ञार्थ
२	सर्वभद्रा	आठ हाथ	देव-प्रतिष्ठार्थ
३	श्रीधरी	सात हाथ	विवाहार्थ
४	पद्मिनी	छै हाथ	राज्याभिषेकार्थ

पीठ—दे० अनुवाद अ० ४ पृ० ७-८

राज-निवेश

त्रिविध—१ शासनोपयिक

२ आरामोपयिक

३ जनोपयिक

शासनोपयिक —हम अपने अध्ययन और अनुवाद इन दोनों में राज-निवेश पर पूर्ण प्रकाश डाल चुके हैं। यहां पर केवल पदावली के दृष्टिकोण (Terminological stand-point) से केवल हम राज-निवेशांगों की तालिका ही उद्धृत करना पर्याप्त समझते हैं, जो इस खण्ड का प्रमुख विषय पदावली ही तो है। अतः उसकी पुनरावृत्ति अनिवार्य है। साथ ही साथ हम यह भी उपयुक्त समझते हैं, कि समरांगण सूत्रधार के राज-निवेशांगों की तालिका के साथ साथ मानसारीय राज-निवेश-तालिका का भी हम यहां पर आमने सामने अर्थात् समानान्तर प्रस्तुत करें, तो इस ग्रन्थ-रत्न के राज-निवेशांगों की तालिका कितनी व्यापक, समृद्ध और चरम है, वह अपने आप विद्वानों और पाठकों को सद्य समझ में आ सकेगी। समरांगण-सूत्रधार को छोड़कर इतनी बड़ी तालिका अन्यत्र अप्राप्य है।

राज-निवेशांग (समराङ्गणीय)		राज-निवेशांग (मानसारीय)	
१	निवास	१,	निवास—राज-प्रासाद
२	धर्माधिकरण-स्थान	२	ब्रह्म—पीठ
३	कोष्ठागार	३	राज—महिषी
४	पक्षि—भवन, पशु—भवन	४	पुष्प—गृह
५	महानस	५	उद्यान
६	आस्थान—मण्डप	६	तडाग—मज्जनालय
७	भाजन—स्थान	७	कोष्ठागार—वस्तु—निक्षेप—मण्डप
८	यान—शाला	८	कोष—गृह
९	वन्दि—मागध—वेश्म	९	आयुध—शाला
१०	चर्मायुध—शाला	१०	अरिष्टागार
११	स्वर्ण—कर्मान्त—भवन	११	अभिषेक—मण्डप
१२	गुप्ति	१२	आयुधालय (?)
१३	प्रेक्षा—गृह	१३	रक्षक—भवन
१४	रथ—शाला	१४	गोपुर—महाद्वार
१५	गज—शाला	१५	राज-कुमार-हर्म्य—युवराज-भवन
१६,	वापी	१६	पुष्प—मण्डप
१७	अन्तः—पुर	१७	यान-शाला—रथ-शाला
१८	क्रीडा-दोला-आलय	१८	पुरोहित—भवन
१९	महिषी—भवन	१९	क्षौर—गृह
२०	राज-पत्नी—भवन	२०	शिविका—मण्डप
२१	राजकुमार—भवन	२१	प्रतीहार—निकेतन
२२	राजकुमारी—भवन	२२	मृग—शाला
२३	अरिष्टा—गृह	२३	पक्षि—शाला
२४	अशोक—वनिका	२४,	राज—मन्दिर
२५	स्नान—गृह	२५	नृत्य—मण्डप
२६	धारा—गृह	२६,	मन्दुरा—वाजि-शाला
२७	लता—गृह	२७	वैद्य—भवन
२८	दारु-शैल—दारुगिरि	२८	गो—शाला

२९	पुष्प-वीथी—पुष्प-वेश्म	२९	मर्कट—भवन
३०	यन्त्रकर्मान्त—भवन	३०	मयूर—भवन
३१,	पान—गृह	३१,	गुप्ति
३२	कोष्ठागार (१)	३२,	गज-शाला
३३	आयुध—मन्दिर	३३	कारागार
३४	कोष्ठागार (२)	३४	युद्धाधिकरण—शाला
३५	उद्यान भवन तथा शिला-यन्त्र	३५	सभा—मन्त्र-वेश्म
३६	दारु-कर्मान्त—भवन	३६	प्रेक्षा—गृह
३७	व्यायाम—शाला	३७	मेष-युद्धार्थ—मण्डप
३८	नाट्य—शाला	३८	व्यायाम—क्रीडाशाल
३९	चित्र—शाला	३९,	व्याघ्र—मण्डप
४०	भेषज—मन्दिर	४०	कुक्कुटादि-पशु—मण्डप
४१	हस्ति—शाला (२)	४१	निरीक्षण—भवन
४२	क्षीर-गृह—गोशाला	४२	घटिका—भवन
४३,	पुरोहित—सदन		
४४	अभिषेचनक—स्थान		
४५	अश्व—शाला—मन्दुरा		
४६	राज-पुत्र वेश्म(२)		
४७	राज—पुत्र—विद्याधिगम—शाला		
४८	राज—मातृ—भवन		
४९	शिविका—गृह		
५०,	शय्या—गृह		
५१,	आसन-गृह		
५२	कासार तथा तडाग आदि जलाशय		
५३	नलिनी—दीर्घिका		
५४	राज—मातुल—निकेतन		
५५	राज—पितृव्य—भवन		
५६	सामन्त—वेश्म		
५७	देवकुल		
५८	होराज्योतिषी—भवन		
५९	सेनापति—प्रासाद		
६०	सभा		

राज—भवन—द्विविध —१ निवास—भवन

२ विलास—भवन

जहां तक स्थापत्य—पद्धति और आधार—भौतिक निवेश—प्रक्रिया का प्रश्न है-इन दोनों पर हम अध्ययन में काफी समीक्षा कर चुके हैं, तथापि यह पर इतना ही वक्तव्य है कि जहां तक निवास-भवन का प्रश्न है। उसमें केवल कक्ष्याएं (Courts) ही विशेष महत्व रखती हैं, उनमें भूमियों (Storeys) का निवेश विहित नहीं है। हां विलास-भवनों में अंग-भूषाओं के कल्पन के लिये वितान-तुला एवं शिखर आदि नाना-विच्छित्तियों एवं अलङ्कृतियों की आवश्यकता यथानाम अनिवार्य मानी गई हैं। अतः यह विलास-भवन, आवास-भवनों से सर्वथा विलक्षण है। आवास एवं विलास दोनों भवनों में स्तम्भ बाहुल्य ही दोनों की विशेषता है। अलिन्द अर्थात् कक्ष्या का सन्निवेश स्तम्भों पर आधारित है, अतः निवास-भवनों की जो निम्न तालिका हम प्रस्तुत करते हैं, उस तालिका में आलिन्द संख्या और स्तम्भ-संख्या भी तालिका—बद्ध होगी। अस्तु इस उपोद्घात के उपरान्त अब इन दोनों भवन—विधाओं की तालिका का परिशीलन करें।

संख्या संज्ञा	मध्य शालीय अर्थात् केन्द्रीय कक्ष्या निवासोचित स्तम्भ विन्यास							पूर्ण स्तम्भ संख्या	वहि शालीय भद्र विन्यास अलिन्द निर्गोशो संख्या	पूर्ण स्तम्भ संख्या	दोनों की संख्या
निवास-भवन	भूमियाँ	१	२	३	४	५	६				
१ पृथ्वीजय	४	१२	२०	२८	३६	—	—	१००	२८×४	११२	२१२
२ मुक्त-कोण	—	—	—	—	—	४४	—	१४४	४४×४	१७६	३६०
३ सर्वतो-भद्र	—	—	—	—	—	—	५२	१९६	४०×४	१६०	३५६
४ श्रीवत्स	—	—	—	—	—	—	—	१४४	३०×४	१२०	२६४
५ शत्रु मर्दन	—	—	—	—	—	—	—	१००	४४×४	१७६	२७६
६ अवनि शेखर		—	—	—	—	—	—		—	—	—
७ भुवन तिलक	—	—		—	—	—	—		—	—	—
८ विलासस्तवक		—	—	—	—	—	—		=	—	—
९ कीर्तिपताक	—	—	—	—	—	—	—		—	—	—
१० भुवन मण्डन	—	—	—	—	—	—	—		—	—	—
विलास भवन											
११ क्षोणीभूषण	४	१२	२०	२८	—	—	—	६४	१८×४	७२	१३६
१२ पृथ्वी-तिलक	४	—	—	—	—	—	—	३६	५२×४	२०८	२४४
१३ श्रीनिवास	४	—	—	—	—	—	—	३६	१०×४	४०	७६
१४ प्रताप-वर्धन	—	—	—	—	—	—	—	३२	३२	३२	६४
१५ लक्ष्मी-विलास	—	—	—	—	—	—	—	३२	२४	२४	५६

सभा —सभा—वास्तु भारतीय वास्तु का सब प्राचीन प्रारम्भ है। सभा—भवन की स्थापत्य विशेषता स्तम्भ-बहुलता है। ऋग्वेद साहित्यिक-प्रामाण्य स्रोतो मे प्राचीनतम कृति है, उसमे नाना ऋचाओं मे सहस्रस्तम्भ वाले भवनों के निर्देश प्राप्त होते है कि इस उष्ण—प्रधान देश मे जहा तक सामान्य जनता के भवनो की निवेश पद्धति का प्रश्न था, उसमे उन्होने न तो कोई विशेष अभिनिवेश ही दिखाया और न उनको ऊ चे ऊ चे मकानो और नाना भूषाओं से सज्जित रूप में परिकल्पित करने की चेष्टा की। मृण्मय, छाद्य मय भवन ही इस देश की सभ्यता एव जलवायु के अनुकूल थे। ऐसे मकान उपयुक्त माने जाते रहे। अतएव सारा ऐश्वर्य, धन, परिश्रम कौशल सब कुछ जन-भवनों तथा, राज भवनों तथा देव-भवनो के निर्माण मे लगाया गया कोई भी जन भवन (Public Building) राज-भवन (Palaces), देव-भवन (Temples) बिना सभा वास्तु के कभी पूर्ण नहीं माने गए, अस्तु, इस उपोदघात के बाद अब हम समरांगण सूत्रधार के सभाष्टक की तालिका प्रस्तुत करते हैं —

१ नन्दा	२ भद्रा
३ जया	४ पूर्णा
५ भाविता	६ दक्षा
७ प्रवरा	८ विदुरा

टि०—इन सभाओं में तीन स्थापत्य-विशेषताए हैं —

(अ) अलिन्द विनियोग,

(ब) स्तम्भ विनिवेश,

(स) प्राग्ग्रीवादि वैशिष्ट्य।

विश्व-कर्म-वास्तु शास्त्र में वर्णित सभा वास्तु पर भी कुछ उद्धारण आवश्यक है यह वि० वा शा० का सभा—वास्तु राज-निवेश के लिये बहुत ही उपयुक्त विभाज्य है, जो शासनोपयिक राज प्रासाद के लिए अवश्य निवेश्य हैं इन सभाओं को तीन विधाओं मे विभाजित किया गया है —

१ साधारण सभा

२ मुख्य सभा तथा

३ प्रधान सभा

मत समाप्त एक प्रकार से न्याय-सभाओं के रूप में परिकल्पित की जा सकती है, क्योंकि न्याय शाला और सभा ये दोनों ही वि० वा० ५।० के अनुसार प्रासादानिक, सत्ता में उपकल्पित की गई हैं यह न्याय शाला पुनः दो कोटियों में उपस्थापित की गई है —

१ देउया और
२ पौरा

इस प्रकार जैसा हमने सभा वास्तु में स्तम्भ-संयोग माना है, उसी प्रकार इन आस्थानिकों में भी स्तम्भ-संयोग-वैशिष्ट्य रखना है अस्तु निम्न तालिका से ये सभाएं पारिभाषिक पदावली में निखर उठेंगी —

न्याय सभा न्यायविद् परिषत् स्थान —त्रिविधा

१ देवी
२ राजी
३ मानुषी

टि०—राजधानी में प्रधान न्याय शाला (Courts of justice) में चालीस खम्भे अवश्य होने चाहिए। जहां तक पौरा मुख्याभिधाना न्यायशाला का प्रश्न है उसमें ३४ खम्भे होने चाहिए। देउया नाम की साधारण सभा में २० खम्भे होने चाहिए।

गजशाला — जहां तक समरांगण सूत्रधार की गजशाला की विधा है, वह निम्नलिखित तालिका में उद्धृत की जाती है और उसमें उसके विशेषों पर भी सुसम्बद्ध सूचना प्रस्तुत की जाती है —

षड्विधा

१ सुभद्रा	२ नन्दिनी
३ सुभोगदा	४ भद्रिका
५ वर्धिणी	६ प्रमादिका

टि०—वि० वा० शा० गज शालाओं के निवेश में बड़े ही महत्व विवरण प्राप्त होते हैं। यहां पर गोपुरों की छटाएं, विस्तृत मैदान, भिषक भवन प्रस्तुत किए गए हैं। साथ ही साथ यह भी बताया है कि गजशाला में सर्वत्र वालुका बिछी हो और ये शालाएं परिखावलय पर और महामार्गसमीप स्थाप्य हैं और इनका रूप मण्डपाकार होना चाहिए।

टि०—इनमें छटी गजशाला अनिष्ट बताई गई है।

अश्वशाला—हम यह पहले ही प्रतिपादित कर चुके हैं कि समरांगण सूत्रधार को छोड़कर और किसी भी वास्तु-शिल्प-ग्रन्थ में अश्वशाला के सम्बन्ध में इतने विवरण प्राप्त नहीं होते हैं। तथापि यहां पर स्वल्प में पारिभाषिक पदावली उद्धृत की जाती है।

१ अश्वशालीय सन्निवेश—'स्थानानि अर्थात थाने या घोड़े बांधने का स्थान दे० अध्ययन'
२ यवस-स्थान अर्थात जहां पर घास एकत्रित की जाती है।
३ खादन-कोष्ठक—नांदे
४ कीलक खूंटे जो पचांगी-नियह के लिए अनिवार्य है,
५ अश्वशालीय सम्भार— जल-पात्र पूर्वोत्तर
अग्नि दक्षिण-पश्चिम
उदूखल उत्तर—दक्षिण

टि०—जहां तक पूर्व का प्रश्न है वह तो अश्व प्रवेश द्वार है अन्य सम्भार निम्न तालिका में निभालनीय हैं —

१	निश्रेणी	११	गड़से
२	कुश	१२	नाद
३	फलकावृत कूप	१३	प्रदीप
४	कुद्दाल (कुल्हाड़ी)	१४	हस्तग्रासी
५	उद्दाल (फरूहे)	१५	शिला
६	गुडक (गेंद)	१६	दर्वी
७	शुक्त-योग	१७	फाल
८	खुर	१८	उपानह
९	कैंची	१९	पिटक
१०	सींग	२०	बत्तियां

अश्वशालीय—उपभवन—औषधालय

१ भेषजागार
२ अरिष्ट-मन्दिर
३ व्याधित—मन्दिर तथा
४ सर्व-सभार-वेश्म

नृपायतन—वैसे तो आयतन का अर्थ मन्दिर है, परन्तु यहां पर आयतन शब्द का राजानुजीवी जैसे अमात्य, सेनापति, पुरोहित, राजसता,

राजकुमार, राजकुमारी, राजमातल, राजसेवक, राजपितव्य आदि के भवन कभी भी राज-प्रासाद के प्रमाण मे विनिर्मेय नही, वे सदैव न्यून होने चाहिये। इस सन्दर्भ मे कोई विशेष पारिभाषिक पदावली नहीं।

परिशिष्ट—टि० अब हम राजोपकरण-भवन-शीर्षक में थोडी सी और भी सामग्री प्रस्तोतव्य है।

नाट्य-शाला—ये नाट्य शालाए राज-भवन के सम्मुख द्वारादि पदो मे निर्मेय विहित बताई हैं वि० वा० शा० मे इसे रग-शाला के नाम से प्रतीनित किया गया है, जिसकी विधा त्रिविधा है —

१ नाटक-शाला २ सगीत शाला तथा ३ नाटय-शाला

इन शालाओ के भवन के तीन भाग विनिर्दिष्ट किए गये हैं,

१ दैव २ गा धर्व ३ मानुष

देव-भाग मे नाटय एव सगीत आदि प्रारम्भ के प्रथम वहा पर देवता पूज्य हैं।

गान्धर्व-भाग को आज की पारिभाषिक शब्दावली मे रगमच कह सकते हैं। यह रग-मच केवल नटो नतकों के लिए ही नही है, परन्तु सभ्या—दर्शकों के लिए भी है। अब रहा मानुष-भाग उसे हम आजकल की पदावली मे Green Room कह सकते हैं। लेकिन वास्तु शास्त्र की दृष्टि से जो हमारी प्राचीन परम्परा थी उसके अनुरूप यह भाग दो भागो मे विभाजित था—एक महिलाओ के लिए दूसरा मनुष्यो के लिए अर्थात पुरुष-नटो तथा नारी-नटो के लिए।

पुस्तक-शाला—वि० वा० शा० का निम्न प्रवचन हमारी पूर्वोक्त धारणा का पूर्ण समर्थन करता है कि यह उप-भवन राज-निवेश के लिए अनिवार्य है —

"खड्गसधारण राजदशास्त्रसेवनमित्यपि,
द्वय चैव विशेषण शुभप्रदमितीरतम्।"

हमारी प्राचीन पुस्तक-शालाओ के जो भवन थे वे भौमिक भवन थे तथा शिखरादि-भूषणो से अलकृत थे, पुन पुस्तक-भवन की विशेषता यह है कि जिस प्रकार से राज प्रासाद मे अलिन्द अथवा कक्षाए अनिवार्य है उसी प्रकार यहा पर नाना आवरणो का प्रकल्पन आवश्यक है जिससे भिन्न-भिन्न शास्त्रो की स्थापना हो सके —

प्रथम आवरण	वेद
द्वितीय आवरण	स्मृतियां
तृतीय आवरण	आर्ष ज्ञान

पु० एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि प्राचीन पुस्तकालयों में गुरु के लिए पीठ अनिवार्य था। साथ ही साथ भगवती सरस्वती, हयमुख भगवान् विष्णु, शिव तथा भगवती उमा—ये सब चारों सपरिवारिक स्थाप्य है।

विद्या-भवन—इस भवन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस को वहि शाला और अन्त शाला के निवेश मे परिकल्पित करना चाहिए—

वहि शाला—महाशाला, अन्त शाला—मध्यशाला

मध्यशाला मे दो शालाए विशेष निवेश्य है —

१ शास्त्र-शाला—वाद-स्थान

२ परीक्षा-स्थान—अभ्यास-गृह (Laboratory)

इसकी विशेषता यह है कि यह प्रासाद-स्थापत्य के समान विमान-शिखरो सदृश नाना-चित्र-मनोहर, सर्वालंकार-संयुक्त तथा पूर्व-मंडप-शोभित बनाना चाहिए।

मार्ग-शाला—मार्गशालाए आजकल केवल विशिष्ट जनों के लिए किसी नगर अथवा राजधानी मे दिखाई पड़ती है अन्यथा ग्रामीण क्षेत्र मे इस प्रकार की शालाए दिखाई नही पड़ती। वि०वा०शा० के अनुसार ये शालाए बड़ी ही प्रशस्त प्रतिपादित हैं। बड़े-बड़े आगन, परकोटे (प्राकार), गोपुर (महाद्वार) नाना विध मडप तथा विभिन्न भूमिकाओं से अलङ्कृत तथा देवो, गंधर्वों, महाराजो, अधिराजो के चित्रों से चित्रित दीवालो के साथ विमानाकार भूषाओं से अलङ्कृत ये विनिर्मेय बताई गई हैं। साथ ही साथ एक विशेष यह है कि इन मार्ग-शालाओं मे सायुध भटो की नियुक्ति भी प्रतिपादित है। इसको हम श्रान्त पथिको के लिए विश्रान्ति-स्थान के रूप मे परिकल्पित कर सकते हैं।

वापी, कूप, कुण्ड, तडाग—ये सब निम्न तालिका से विभाव्य हैं, क्योंकि जनता के लिये सभी राजे-महाराजे शासन की दृष्टि से तथा राज्य-संचालन की सफलता के लिये ये लोग इन निवेशो को अनिवार्य रूप से बनवाते थे। विशेषकर मध्य-भारत के पूर्व-मध्यकालीन भग्नावशेषो को देखिए वहां बावलियां और

तडाग अब भी दिखाई पडते हैं। अपराजित-पृच्छा ही एकमात्र शिल्प-ग्रन्थ है जहा पर वापी, कुण्ड, तडाग, कूप के जन-वास्तु (Secular Architecture Or Civil Architecture) की दृष्टि से ये निवेश वास्तु-पदावली से कितने विकसित थे—स्वत प्रत्यक्ष है —

कूप-तालिका		वापी-तालिका-सज्ञा	वैशिष्ट्य
श्रीमुख	चूडामणि	नन्दा	एक-वक्त्रा, त्रि-कूटा
विजय	दिग्भद्र	भद्रा	द्वि-वक्त्रा, षट-कूटा
प्रान्त	जय	जया	त्रि-वक्त्रा, नव-कूटा
दुन्दुभि	नन्द तथा	विजया	चतुर्वक्त्रा द्वादश कूटा
मनोहर	शकर		

कुण्ड-तालिका	तडाग-तालिका सज्ञा	आकार
भद्रक	सर	अर्धचन्द्राकार
सुभद्रक	महासर	वृत्ताकार
नन्द तथा	भद्रक	चतुरश्राकार
परिघ	सुभद्र	भद्रावहुल
	परिघ	दर्कस्थल
	युग्मपरिघ	कूलद्वयवक्रपरिवष्टित

टि० जहा तक राज-निवशोचित नाना निवशो का सम्बन्ध है—जैसे भोजन शाला, शय्या-गृह, वसन्त-शाला, कल्याण-शाला, धान्य-गृह, गो-शाला आदि आदि वे, यहा पर इस अध्ययन मे विशेष सम्बन्ध नही रखते। केवल हम यहा पर कोषागार और आयुध-शाला तथा मृग-शाला (Zoo) पर ही कुछ थोडा सा यहा पर वि० वा० शा० के अवतरण उद्धृत करते हैं।

कोषागार-भाण्डागार—यह भी कोषागार न्यायशाला के सदश देश्य और पौरा के रूप मे प्रतिपादित है। पुन इन शालाओ मे किन किन प्रकोष्ठो मे कौन कौन से धन, धान्य, द्रव्य स्थापत्य हैं—इस पर बडा सुन्दर और वैज्ञानिक विवेचन प्राप्त होता है। निम्न तालिका से यह सब दपणवत् आभासित हो रहा है। पहले वास्तु-वैशिष्ट्य देखिये —

देश्या (Urban) — अदुर्गा सालिन्दा द्वारोपद्वारमेदुरा।
देश्या प्राकारत्रयसवीता भित्तमप्तकसवृता।

अर्थात् किलाबन्दी में ईंट, द्वारों तथा उपद्वारों से युक्त, तीन परकोटों से रक्षित नाना दीवालों से अभेद्य ऐसा कोषागार बनाना चाहिये। जहां तक पौर (Capital) का सम्बन्ध है, वह राज-प्रासाद में निवेश्य है। रक्षा-व्यवस्था देखें—

पूर्व—सुवर्ण उत्तर—नव रत्न (हीरे जवाहरात)
पश्चिम—लिपिकारों (Accountants) दक्षिण—रजत, चांदी के सुनार

आयुध-शाला—हम यहां पर आयुध-शाला के अधिपति देव एवं ऋषि (Presiding Deities and Sages) तथा आयुधों के नाम निम्न तालिका से उल्लिखित करते हैं :—

अधिपति देव

परशिव	मरुत्	वैनतेय (गरुड़)
हरि	गन्धर्व	नागराज
ब्रह्मा	कुबेर	केतुमालि
सुरेश	चन्द्रमा	यम
वरुण	चित्रकार्मुक	

अधिपति ऋषि

अत्रि	कण्व	गालव
वशिष्ठ	विश्वामित्र	पञ्चवारक
पुलह	नारद	भरद्वाज
काश्यप	वालखिल्य	क्षत्रपाल
भृगुनन्दन	लोकदर्शक	कौशिक
मरीचि	दीर्घदर्शी	मधुसूदन
च्यवन	कुन्दरोमा	सुदर्शन

आयुध

कुन्त	नरोद्धार	मुशल
पाश	भिन्दिपाल	वह्निबाण
करवाल	मेरक	कनुका
तरी	शकुन्तल	मुष्टि-भेदन
खड्ग	कुठार	परशु
खेटक	टङ्क	तरवारी
भल्ल	शूल	[illegible]
क्षुर	सृणि	विदारिका

मृग-शाला (Zoo)—यहां पर तालिका आदि न देकर केवल इस अवतरण को पढ़कर पाठकों को कितना तत्कालीन वैभव और निवेश-योजना अपना आप स्वतः सिद्ध होगी —

बालानां बालिकानाञ्च युवतीनां विशेषतः ।
शुद्धान्तसुन्दरीणाञ्च चित्तहर्षाभिवृद्धये ॥
कल्पतः विविधं कार्यं स्थलजात्यादिभेदतः ।
शुकानामपि कीराणां मयूराणामपि क्वचित् ॥
हरिणानाञ्च वत्सानां लाल्यलीलादिनामपि ।
शाला तु विविधा स्थाप्या लोहदारुसुयष्टिकैः ॥
शुकानां पञ्जरं कुन्दा हरिणानां निगद्यते ।
वत्सादीनां शालका च त्रैविध्यं मुख्यमीरितम् ॥
लोहदण्ड दारुदण्ड श्रखनान्वितमेव वा ।
बहुरन्ध्रं सकटकं पञ्जरं कल्पयद्बुधः ॥
लोहदण्डमयी प्रायः कुन्ददारुमयी क्वचित् ।
क्वचिच्छिलात्रुमयी सगवाक्षसतोरणा ॥
क्षुद्रशाला क्वचित्कार्या वत्सादीनां शुभे स्थले ।
नानागणसमोपेतशाद्वला वाऽथ भौमिका ॥
सतोयपात्रा साधारा मध्यस्थखलिकान्विता ।
वातायनस्थलकृताभीकरैश्च विवर्जिता ॥
बहिः खेलनभूम्या वा शाखया वा समेयुषी ।
चतुर्दण्डाधिकोन्नतया पटल्या च विभूषिता ।
कल्पनान्तरमूह्यैवं स्थाप्यं शिल्पविशारदैः ॥

वि० वा० शा० ३७

राज-भवनोचित-सज्जा-काण्ड

१ शय्या

२ आसन-सिंहासन

३ पादुका पञ्जर, नीड, दीप, दंड आदि।

परिशिष्ट —

(अ) स्थापत्य-भूषा—तोरण-वितान-लुमा-पताका-पारिभद्र आदि,

(ब) सकीर्ण-भवन तथा आवरण

शय्या	त्रिविधा		प्रमाण	भूषा
राजोचिता	१	ज्येष्ठा	१०८ अगुल	स्वर्ण की जडावट
	२	मध्या	१०४ अगुल	रजत ,, ,,
	३	कनिष्ठा	१०० अगुल	ताम्र ,, ,,*

*हस्ति-दन्त आदि भी।

सेनापति-उचिता	७८ अगुल		
राजपुत्रोचिता	९० अगुल	पुरोहितोचिता	७२ अगुल
अमात्योचिता	८४ अगुल	ब्राह्मणोचिता	७० अगुल

शय्याग १ ईषा-दण्ड २ कुट्य ३ पाद

शय्या-द्रव्य - सारदारु – एक-दारु-घटिता प्रशस्ता

द्विदारु-घटिता अप्रशस्ता-भय जनका त्रिदारु घटिता मृत्यु-घातिनी

शय्या छिद्र-षड् विध —१ निष्कुट २ कोलदक् ३ क्रोडनयन ४ वत्सनाभक ५ कालक ६ बन्धक।

टि०—शयन कक्ष (Bed Room) को देखिये —

पार्श्वयोमङ्गलद्रव्यस्थापन शुभवधकम् ।
मुकरादिसमोपेत जलपात्रेण मञ्जुलम् ॥

आसन—मानसार म आसन और सिंहासन के सुन्दर तथा पृथुल विवरण प्राप्त होते हैं —

राजासन प्रथमासन अभिषेकासन, मगलासन, वीरासन, विजयासन

देवासन—नित्यार्चन, नित्योत्सव, महोत्सव विशेषार्चन,

मानसार ने दस विधाओं मे वर्गीकृत किया है —

सज्ञा	प्रयोज्य	सज्ञा	प्रयोज्य
पद्मासन	शिव तथा विष्णु	श्रीबन्ध	पार्ष्णिक, पट्टधर
पद्मकेशर	अन्य देवो आदि	श्रीमुख	मण्डलेश
पद्म भद्र	महाराजा	भद्रासन	पट्टभाक
श्रीभद्र	अधिराजो, नरेन्द्रो	पदमबन्ध	प्राहारक
श्रीविशाल	नरेन्द्र, पार्ष्णिक	पादबन्ध	अस्त्रग्राही

अन्य राजोचित फर्नीचरो मे निम्न विशेष उद्धरणीय हैं :—

दीपदण्ड-इसकी दूसरी शिल्प-संज्ञा पोतिका है। यह पोतिका वि० वा० शा० के अनुसार त्रिविधा प्रकल्पित की गई है —पंच-ताला, सप्त-ताला तथा अष्ट-ताला

इसे गान्धर्वी, किन्नरी, विद्याधरी अथवा पक्ष-रूपिका के रूप मे चित्रित करना चाहिए और भिन्न-भिन्न स्थानो पर इसका विनिवेश अपेक्षित है—

टि० वा० शा० का उद्धरण राज-निवेश मे देखिये।

टि० जहाँ तक अन्य फर्नीचर जैसे—व्यजन, दर्पण, मञ्जूषा, दोला तथा तुला की बात है उनके विवरण विशेष आवश्यक नहीं हैं।

पञ्जर—निम्न पशु-पक्षियो के लिये कल्प्य होते थे :—
मृग-नाभि, शुक, चाटक, चकोर, मराल, पारावत, नीलकण्ठ, कुञ्जरीय, मञ्जरीट, कुक्कुट कुलाल, नकुल, गोधा, तित्तिर, व्याघ्र

तोरण —वि० वा० शा० के अनुसार त्रिविध —देव, भौम, मानुष

तोरण-क्रिया-कारटक रन्ध्र-टट भेद-टक पट्ट-टक शिखान्वित लता टक

तोरण-विच्छित्ति - चूत-पत्रादि-रूप, पक्षि-रूप, लता-रूप, रेखा-रूप, लक्ष्म्यादि-रूप, गोपुरादि-स्थलाकृति

वितान-शिल्प—वितान और लुमाए दोनो एक दूसरे से सम्बद्ध है। वितान २३ और लुमाए ७। इस शिल्प विच्छित्ति पर हम अपने अध्ययन मे काफी प्रकाश डाल चुके हैं, वहीं पठनीय है। वितानो का वर्ग त्रिविध परिकल्पित किया गया है —समतल, क्षिप्त, उत्क्षिप्त।

पुन इनको शैलियों के अनुरूप निम्न शैलियो मे विभाजित किया गया है —पद्मक, नाभिच्छन्द, सभामार्ग, मन्दारक पुन इनको चार अवान्तर शैलियों मे विभाजित किया गया है—शुद्ध सघाट, भिन्न, उद्भिन्न

मानकद ने इन सब को निम्न तालिका मे ११११३ के कोष्ठक मे विभाजित किया है। इन वितानो का विशेष सम्बन्ध 'अपराजित-पृच्छा' मे

मडप-वास्तु से है और वह भी देवानुरूप वर्गीकृत किया गया है, परन्तु स० सू० की दृष्टि मे यह वितान-वास्तु राज-भवनो की अभिख्या है, जो राज-प्रासाद-स्थापत्य मे वितान-वास्तु (Dome Architecture) उस युग में अर्थात् ११वीं शताब्दी मे पूर्ण पराकाष्ठा को पहुच चुका था। अतएव विस्तार मे न जाकर इस ग्रन्थ की वितान-वास्तु की पदावलो की तालिका ही विशेष प्रस्तोत्य है। पहले हम अ० पृ० की तालिका लेते है पुन. स० सू० की —

अ० पृ०

भेद/सज्ञा	पद्मक	नाभि	सभामार्ग	मन्दारक
शुद्ध	६४	२४	१६	१०
सघाट	३६	४०	३६	१५
भिन्न	२००	१००	४८	४०
उद्भिन्न	२००	१३६	१००	४८
टोटल	५००	३००	२००	११३

=कोडाक=१११३

स० सू०

लुमाय—सप्त—तुम्बिनी मनोरमा, लम्बिनी शान्ता, आध्माता, हेला, कोला

वितान—पञ्चविंशति—कोल, हसपक्ष, मन्दारक, नयनोत्सव, कराल, कुमुद, कोलाविल, विकट पद्म, हस्तितालु, गजकुट्टिम, विकास अष्टपत्र, गगननाभि, गरुडप्रभ, शरावक, सपुष्प, पुरोहत, नागीवार्यी, शुक्ति, पुरारोह, पुष्पक, वृत्ति विद्युन्मन्दारक, भ्रमरावली

सकीर्ण-भवन—यद्यपि यह निवेश एक-मात्र स्थापत्य-भूषा ही नहीं, वरन् यह पौरजानपदो के लिए न केवल शोभामात्र है वरन् ग्रामीणो के लिए बडा ही उपकारी है। यह भवन वास्तव मे जन-भवन है। इन भवनो मे अलिन्द अर्थात् कक्ष्याए और शालाए अनिवार्य निवेश हैं। इन दोनो मे क्रम

से कम २० खम्भे अवश्य होने चाहिए। इनका एक-मात्र प्रयोजन ग्रामीणो के मनोरंजन जैसे नाट्य, नृत्य, वादित्र के साथ-साथ विवाह आदि कार्यों के लिए ये विनिवेश्य विहित थे। आजकल जिस प्रकार धर्मशालाओ मे जनता अपने पास स्थानाभाव के कारण उनमे ये कार्य सम्पादन करती है, प्राचीन काल में यह सब राजाश्रय मे विनिर्मित होता था। इन भवनों का बडा योग-दान था।

सबसे बडी स्थापत्य-विशेषता यह है कि इसमे लगभग २८ द्वार होने चाहिए और तीन चार भूमिया भी होनी चाहिए, जिससे एक ही नही बल्कि बहुत से लोग इसका उपयोग कर सके। यहां पर यह भी उद्घाट्य है कि वाणिज्य और कृषि आदि के लिए भी इन सदनो का उपयोग किया जाता है।

पताका—पताका से अर्थ वैजयन्तिका है। पताका और पारिभद्र दोनो अन्योन्य-आश्रित है। पताका यथानाम पताका है और पारिभद्र उसका दण्ड है। हमारे देश मे शास्त्र-पारगत मुनियो ने पताकाओं की इतनी विधाए परिकल्पित की है, जिनको देखकर बडा आश्चर्य प्राप्त होता है और इनमे तक्षकों चित्र कारो दारु-कारो सभी के कौशल दिखाई पडते हैं। निम्न तालिका प्रस्तुत है जिसमे पताकाओ की सज्ञा और पारिभद्रो का विधान जो दूसरी तालिका मे उद्धृत की जाती हैं —

पताका-विधा—मुख, प्रतिमुख तोना, किरणी रेखिका, छटा, पद्मका, कुमुदा दापा विन्दुका, भपसम्पा नासिका रुचिका कम्पा किंकिणीम्या, अग्र जना गना, प्रस्तरा, रेखा, प्रवा, पर्यङ्किका, मृदङ्गिका, पटहा, वान्या, सौवी छत्रा वरासका, मध्यरेखा मध्यतारा प्रान्ततारा, मरन्ध्रका, दण्डिका, वलिका क्षुम्या, मारा, आन्धारिका, पुष्पा, फला, कुम्भा, देवी, मानुव, ऐरावता, कैलासा, शिखरा विमानिका, रथिका तुरगा, योधा, गजा चन्द्र भास्करा, अर्क-भास्करा

पारिभद्र-विधा —पारिभद्र *विधा-योजन-सम्भार* -मणिका, कुञ्चिका, शकु, कीला, कोल्या, कीलका, शृखला, तजनी हस्ता, शकुला, रज्जिका, पट्टिका पट्टका, पट्टी बाधिका, बोधका बुधा, धारिणी, धरणी, धारा गलिका, कठिका, गला, चित्रिका अर्गला, वेशिनी, प्रवेशिका

यन्त्र - विधान

टि० —अपने अध्ययन के यन्त्र-प्रकरण में यन्त्रों के शास्त्रीय एवं अन्य विवरण पहले ही प्रस्तुत कर चुके हैं। यहा पर पदावली की दृष्टि (Terminologically) से अब हम केवल यह सब स्थापत्य-वैभव तालिका-बद्ध प्रस्तुत करना चाहते हैं।

यन्त्र-लक्षण—देखिए अनुवाद,

यन्त्र-बीज—पंच-विध,

क्षिति-पृथिवी	आप-जल	अनिल-वायु
अनल-अग्नि	वियत्-आकाश	

टि० वैसे तो हमारे भौतिक-शास्त्र के अनुसार यन्त्र-बीजो की विधा चतुर्धा है (क्षिति, आप्, अनिल तथा अनल), परन्तु इन सभी भूतों का आधार अर्थात् आश्रय वियत्-आकाश है, अतः आकाश भी पचम भूत अनिवार्य है।

टि० ये पाचो बीज प्रधान बीज हैं। पुनः इनके अपने-अपने अन्य नाना उप-बीज भी मान गए हैं। पुनः ये प्रधान बीज एक-दूसरे के बीज-बीजक भाव में भी स्वयं सनाथ हो गए हैं। यही विवरण हमारे यान्त्रिक विज्ञान का पोषण करता है। ये सब विवरण अनुवाद तथा मूल में द्रष्टव्य हैं, तथापि कुछ इनकी अपनी-अपनी तालिका यहा पर प्रस्तुत की जाती है —

पार्थिव-बीज

कुड्यकरण-सूत्र	भारगोलक-पीठन	लम्बन
लम्बकार	विविध चक्र	लोहा
ताम्र	पीतल	रागा
मंवित	प्रमर्दन	काष्ठ
चर्म	ऊर्दक	कर्तर
यष्टि	चक्र	भ्रमरक
भ्रगावली	बाण	

जलीय बीज—

ताप	उत्तेजन	स्तोभ	क्षोभ

टि० ये आजकल जल से उत्पन्न विद्युत् के निर्देशक हैं। पुन ये सब पार्थिव बीजों से अनिवार्य सम्बन्ध रखते हैं, पुन. निम्न तालिका भी देखिए —

धारा, जलभार, जल की भ्रमर आदि भी—इस तथ्य के द्योतक हैं।

टि० और जो नाना बीज एवं उप-बीज—ये अनुवाद में परिशीलनीय हैं।

यन्त्र-वर्ग —

स्वयं-वाहक	अन्तरित-वाह्य
सकृत्-प्रेर्य	अदूर-वाह्य

टि० देखिए अनुवाद।

यन्त्र-प्रकार—यद्यपि ता यन्त्रों के प्रकार पर कोई विशेष वैज्ञानिक एवं परिमार्जित प्रतिपादन नहीं है, तथापि देखिए अध्ययन। हमने संस्कृत के पूरे वाङ्मय के आलोडन के उपरान्त इस प्राचीन भारत विशेष कर पूर्व मध्य-भारत में जो नाना यन्त्र प्रचलित थे, उनको हमने निम्नलिखित अष्ट-विधा में विभाजित किया है जो निम्न तालिका से दर्पणवत् स्पष्ट है। जहा तक विवरणों का प्रश्न है वे सब अनुवाद में द्रष्टव्य हैं :—

यन्त्र-विद्या—

आमोद-यन्त्र	सेवा-यन्त्र	रक्षा-यन्त्र
संग्राम-यन्त्र	वारि-यन्त्र	धारा-यन्त्र—फौहारे

टि० प्रथम जल-यन्त्र अर्थात् वारि-यन्त्र, कार्य-सिद्धि के लिए और दूसरा जल-यन्त्र अर्थात् धारा-यन्त्र क्रीडा-शोभा-आनन्द-विहार के लिए हैं।

दोला-यन्त्र	यान-यन्त्र (विमान-यन्त्र)

आमोद यन्त्र —

नाडिका-प्रबोधन	शय्या-प्रसर्पण	
गोलक-भ्रमण	नर्तकी-पुत्रिका	हस्ति-यन्त्र

सेवा-यन्त्र—दासादि-परिजन-यन्त्र

सेवक-यन्त्र	सेविका-यन्त्र

रक्षा-यन्त्र :—

द्वारपाल-यंत्र   योध-यन्त्र

संग्राम-यन्त्र :—

चाप   उष्ट्र-ग्रीवा   शतघ्नी   सहस्रघ्नी

वारि-यन्त्र —

पात-यंत्र   पातसमोच्छ्राय-यंत्र

उच्छ्राय-यंत्र   उच्छ्राय-समपात-यंत्र

धारा-यन्त्र –   धारा-गृह   प्रणाल

प्रवर्षण   जलमग्न   नन्द्यावर्त

दोला यन्त्र :-   वसन्त   वसन्त-तिलक

मदनोत्सव   विभ्रमक   त्रिपुर

यान-यन्त्र –

व्योमचारि-विमान-यंत्र   व्योमचारि-विहगम-यंत्र

चित्र-काण्ड

१ चित्र-प्रशंसा,

२ चित्र-शास्त्रीय-ग्रंथ,

३ चित्रोद्देश,

४ चित्राङ्ग,

५ चित्र-विधा,

६ वर्तिका-बन्धन,

७ भूमि-बन्धन;

८ चित्र-प्रमाण—मानोत्पत्ति तथा अण्डक-वर्तन,

९ लेप्य-कर्म (कूर्चक आदि),

१० चित्र-वर्ण-विन्यास—चित्र-वर्ण एवं वर्ण-प्रक्रिया (लेखनी, तूलिका आदि),

११ आलेख्य-रूढ़ियाँ,

१२ चित्र एवं काव्य तथा नाट्य, रस एवं ध्वनि,

१३ चित्र-शैलियाँ,

१४ चित्र-कार,

१५ चित्र-निदर्शन,

(अ) पुरातत्त्वीय,

(ब) साहित्य-निबन्धनीय।

चित्र-प्रशंसा :—

"चित्र हि सर्वशिल्पाना मुख लोकस्य च प्रियम्"

—स स

चित्र-शास्त्रीय-ग्रन्थ—

१ नग्नजित्-चित्रलक्षण,

२ नारद-शिल्प,

३ सारस्वत-चित्र-कर्म-शास्त्र,

४ भरत का नाट्य-शास्त्र (रस-प्रकरण मे वर्णों के सम्बन्ध मे विवचन है),

५ विष्णु-महापुराण—परिशिष्टाङ्ग—विष्णुधर्मोत्तर—चित्रसूत्र;

६ समरांगण-सूत्रधार;

७ अपराजित-पृच्छा,

८ मानसोल्लास (अभिलषितार्थ-चिन्तामणि);

६ शिल्प-रत्न,

१० शिव-तत्व-रत्नाकर।

चित्रोद्देश (विषय एव क्षत्र)—

टि० यहाँ पर अपराजित-पृच्छा और शिल्प-रत्न के निम्न प्रवचन अवश्य उद्धरणीय हैं —

'कूपो जले जल कूपे विधिपर्यायतस्तथा।
तद्विच्चित्रमय विश्व चित्र विश्वे तथैव च॥" अ०पृ०
'जगमा स्थावरा वा ये सन्ति भुवनत्रये।
तत्तत्स्वभावतस्तेषा करण चित्रमुच्यते।" शि०र०

चित्राग—(अ) साध्य-दृष्टि-पुरस्सर—षडग-चित्र —

रूप-भेद	प्रमाण	लावण्य
भाव-यानन	सादृश्य	वर्णिका-भग

(ब) साधन-पुरस्सर—अष्टाग—

१ वर्तिका (लेप्यकर्मोचित ब्रुश)

२ भूमि-बन्धन (Canvas or Back-ground)

३ लेख्य (Sketch)
४ रेखा-कर्म (Delineation and Articulation of the form)
५. वर्ण-क्रम
६. वर्तना (Light and shade)

टि० सात और आठ गणित हैं—रे०न०सू० मूलम ।

चित्र-विधा—(अ) वि०ध० —

१. सत्य २ वैणिक
३ नागर ४. मिश्र

(ब) मानसो० '— १ विद्ध २ अविद्ध
३. भाव ४ रस ५. धूलि

टि० इन सबकी व्याख्या अध्ययन मे द्रष्टव्य है ।

वर्तिका-बन्धन—जिस प्रकार भूमि-बन्धन विहित है, उसके पहले वर्तिका-बन्धन आवश्यक है। आलेख्य-कर्म का प्रथम सोपान वर्तिका-बन्धन है। पुन दूसरा सोपान भूमि-बन्धन है। तीसरा सोपान मानादि-प्रमाण एव अण्डकादि-विन्यास-पुरस्सर-रेखा-कर्म है। अन्तिम सोपान वर्ण-विन्यास है, जो क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त के अनुकूल कान्ति-छाया-दीप्ति आदि सब विन्यासो का कौशल माना गया है।

इस प्रकार चित्र-कर्म मे चार प्रकार के ब्रुश या लेखनियां अनिवार्य बनाई गई हैं :—

१ वर्तिका २ तूलिका
३ लेखनी ४. बिन्दु

टि० पहिली लेखनी अर्थात् वर्तिका जिसको हम आजकल की भाषा मे (crayon) क्रेयोन के रूप मे विभावित कर सकते हैं। उसका साक्षात्-सम्बन्ध भूमि-बन्धन (Background or Canvas) से है, पुन तूलिका, लेखनी, बिन्दु आदि ये सब वर्ण-विन्यास मे प्रयोग लाई जाती हैं।

भूमि-बन्धन—

१ कुड्य-भूमि-बन्धन (Mural Background for wall Paintings)
२ पट्ट-भूमि-बन्धन (Board Canvas for Portrait-Paintings)
३ पट-भूमि-बन्धन (Cloth Canvas)

चित्र-प्रमाण—यहा पर हम प्रमाण की केवल द्विविध तालिकायें प्रस्तुत करते है,क्योकि मानोत्पत्ति और अण्डक-प्रमाण ही विशेष यहा पर उपादेय हैं। वैसे तो जहा तक प्रतिमा-मान का प्रश्न है, उसमे पञ्च-पुरुष-स्त्री-लक्षण तथा ताल-मान के साथ-साथ मारीचि के वैखानसागम की दिशा से और भी सूक्ष्म प्रतिमा-मान स्थापत्य मे अनिवार्य बताए गए हैं—जैसे मान, प्रमाण, उन्मान, उपमान तथा लम्बमान। इन सब पर हम आगे के काण्ड (प्रतिमा-काण्ड) मे प्रस्तुत करेंगे। यहा चित्र-काण्ड का क्षेत्र चित्राभास अर्थात् आलेख्य-चित्र से सम्बद्ध है, अत इस काण्ड मे अन्य मान-योजना का अवतारण अनावश्यक है।

मानोत्पत्ति तालिका—

१ परमाणु	२ रथरेणु	३ वालाग्र
४ लिक्षा	५. यूका	६ अगुल
७ मात्रा	८ कला	९ भाग
१० वितस्ति	११ ताल	

टि० जहा तक मान-सूत्र-तालिका का प्रश्न है, वह प्रतिमा-काण्ड मे देंगे। यह तालिका अध्ययन मे भी दी जा चुकी है।

अण्डक-मान-तालिका—

टि० जहा तक प्रमाण का प्रश्न है, वह अध्ययन मे द्रष्टव्य है। यहा केवल पदावली ही प्रस्तोत्य है —

१ मनुष्याण्डक	२ वनिताण्डक	३ शिशुकाण्डक
४ राक्षमाण्डक	५ दिव्य-मानुषाण्डक	६ देवाण्डक
७ प्रमथाण्डक	८ यातुधानाण्डक	९ दानवाण्डक
१०. गन्धर्वाण्डक	११ नागाण्डक	१२ यक्षाण्डक
१३ विद्याधराण्डक		

रूप-तालिका —

इसी स्तम्भ मे रूप-तालिका भी अवतार्य है —

देव—३ सुरज, कुम्भक, (तीसरा गलित),

दिव्य-मानुष—१

असुर—३. चक्र, मुत तथा तीर्णक,

राक्षस—३ दुर्दर, शकट, घूर्म;

मानव—५. हंस, शश, रुचक, भद्र, मालव्य,
स्त्री—५ बलाका, पौरुषी, वृत्ता, दण्डा, (पाँचवा गलित)।
वामन—३ पिंड, स्यान, पद्मक,
प्रमथ—३ कूष्माण्डक, चपट, तिर्यक्,
गज—(अ) जन्माश्रय ४ भद्र, मन्द, मृग, मिश्र,

(ब) निवासाश्रय ३ पर्वताश्रय ऊषराश्रय नद्याश्रय
अश्व—२ पारस, उत्तर
सिंह—४ गिरिराश्रय, बिलाश्रय, गुल्माश्रय, तृणाश्रय

व्याल—१६			
	हरिण	अजा	गृध्र
	गज	शुक	क्रोड
	कुक्कुट	अश्व	सिंह
	महिष	शार्दूल	श्वान
	मर्कट	वृक	खर

लेप्य-कर्म (कूर्चकादि)

टि०—जहाँ तक लेप्य के निर्माण की बात है, उसमें कोई विशेष वक्तव्य नहीं है, परन्तु लेप्यकर्मोचित जिन लेप्य-कूर्चकों की समराङ्गण-सूत्रधार ने विधा बताई है, वह अवतरणीय है। अत यह तालिका जैसा अध्ययन में दी गई है, वैसी ही बहुत उपयोगी समझकर यहाँ भी उद्धृत की जाती है। समराङ्गण-सूत्रधार ने इस लेप्यकर्मोचित लेखनी के लिए "विलेखा" की संज्ञा दी है और विलेखा ही ब्रुश है जिसको हम कूर्चक के नाम से पुकारते आए हैं। इन सबकी संज्ञाएँ और आकार इस तालिका में विनिबद्ध है —

	संज्ञा	आकृति
१	कूर्चक	वटांकुराकार
२	हस्त-कूर्चक	अश्वत्थांकुराकार
३	भास-कूर्चक	प्लक्ष-सूची-निभ
४	वल्ल-कूर्चक	उदुम्बराकार

टि०—पाँचवीं विधा 'वर्तनी' प्राप्त होती है जिसका लक्षण और विवरण भ्रष्ट एवं गलित है।

चित्र-वर्ण-विन्यास—यद्यपि यह स्तम्भ बड़ा ही प्रशस्त है, तथापि इसको भी हम यहाँ पर पदानुरूप ही विश्लेषित करेंगे।

वर्णकर्मोचित लेखनी —

लेखिनी अथवा तूलिका—त्रिविधा

१	स्थूला	लेपन	के लिये
२	मध्या	अंकन	,,
३	सूक्ष्मा	रेखन—(सूक्ष्मा-लेखा)	,,

वर्ण-भेद—मूलरंग अर्थात् शुद्ध वर्ण तथा मिश्र वर्ण अर्थात् अन्तरित रंग।

मूल-रंग—

(वि०ध० तथा भ०ना०शा०)	अभि० चि०	शि० र०
१ रक्त	शुभ्र	शुक्ल
२ शुभ्र	रक्त	रक्त
३ कृष्ण	हरित तथा	पीत
४ हरित	कृष्ण	कज्जल
५ पीत		नील
६ नील		

टि०—जहां तक अन्तरित वर्णों का प्रश्न है, वे नाना-विध

वर्ण-द्रव्य —

सुधा	हिंगुल
सिन्दूर	नील
	हरिताल आदि आदि

वर्ण-विन्यास—में स्वर्ण-प्रयोग—

द्विविध —

१ पत्र-विन्यास

२ रस-क्रिया

वर्तना—यह वर्ण-वर्तना क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त पर आश्रित है। यह वर्तना केवल छाया-कान्ति का ही मौलिमालायमान कौशल है, तथापि प्रमाण-प्रतिपालन भी वर्तना के ही परम कौशल हैं।

वि० ध० के अनुसार वर्तना त्रिविध है —

१ पत्रजा (cross-lines)

२ ऐरिका (stumping)

३ बिन्दुजा (dots)

आलेख्य-रूढ़ियाँ—जहाँ तक प्रतीकात्मक रूढ़ियों का प्रश्न है, वहाँ पर विषयक पदावली प्राप्त नहीं होती है। हाँ संबंधित पदावली तो है। इसका श्रेय वि०ध० को है। अर्थात् कौन से पुरुष—कौन से पदार्थ, कौन सी वस्तुएं; कौन सा वातावरण—भिन्न-भिन्न प्रतीकात्मक रूढ़ियों के द्वारा चित्र्य है, जिससे चित्र अपने आप चित्र्य का पूर्ण आभास प्रदान कर सके। अतः उपर्युक्त ग्रन्थ विषयानुरूप हम इसकी सगति-प्रदर्शन-पुरस्सर संबंधित तालिका उपस्थित करते हैं —

ऋषि	देव	गन्धर्व
ब्राह्मण	अमात्य	होरा (ज्योतिषी)
राज-पुरोहित	दैत्य	दानव
गन्धर्व	विद्याधर	किन्नर
राक्षस	यक्ष	नाग
प्रमथ	गण	वेश्या
कुल-स्त्री	विधवा	कञ्चुकी
वैश्य	शूद्र	सेनापति
योद्धा	पदाति	धनुर्धर
अश्व	हस्तिपक	वन्दी
मागध	आह्वानक	दण्डधारी
प्रतीहार	वणिक्	गायक
नर्तक	वादक (अ)	पौरजानपद
कर्मकर	पहलवान	वृषभ
सिंह	सरिताएं	पर्वत
पृथ्वी	समुद्र	त्रिदिवा
ऋतु	आकाश	दिवा
वन	जल	नगर
ग्राम	दुर्ग	आपण-भूमि
आपान-भूमि	जुआरी	युद्ध-क्षेत्र
श्मशान,	मार्ग	निशा
उषा	दिवस	सन्ध्या
अँधेरा	चाँदनी	धूप

वसन्त	ग्रीष्म	वर्षा
शरद्	हेमन्त	शिशिर

चित्र-रस एव रस-दृष्टिया—

जहा तक चित्र-कला, काव्य-कला, नाट्य-कला, नृत्य-कला का जो पारस्परिक सम्बन्ध है, वह पदानुरूप विवेच्य नही, अत वह अनुवाद में द्रष्टव्य है। यहा पर केवल रसो और रस-दृष्टियो की तालिका प्रस्तुत करते हैं —

एकादश चित्र-रस

शृंगार	हास्य
करुण	रौद्र
प्रेमा	गलित
वीर	भयानक
अद्भुत	बीभत्स
	शान्त

अष्टादश रस-दृष्टिया—

ललिता	योगिनी
हृष्टा	दीना
विकसिता	दृष्टा
विकृता	विह्वला
भृकुटी	शंकिता
विभ्रमा	कुंचिता
सकुंचिता	जिह्मा
(गलित)	मध्यस्था
ऊर्ध्वगता	शान्ता

चित्र-शैलिया—चित्रो की शैलियो पर अपराजित-पृच्छा को छोडकर अन्य किसी शिल्प-शास्त्रीय ग्रन्थ मे यह विवरण अप्राप्य है। चित्रो की चित्र-रचना में जो पत्र और कटक आगे चलकर प्राकृतिक वातावरण की प्रोज्ज्वलता के लिए अनिवार्य माने गए हैं, उन्ही पर जो नई शैलियो विकसित हुई, वे इन्ही पत्रो और कटको के आधार पर अनुमेय हैं। अपराजित-पृच्छा मे चित्र-शैलियो की षड्विधा दी गई है, जो निम्न तालिका प्रस्तुत करती है —

(ग) पत्रानुरूप षड्-विध —

नागर	वेसर
द्राविड	कालिंग
व्यन्तर	यामुन

(घ) कटकानुरूप अष्ट-विध —

वनि	व्यावर्त
वलित	व्यावृत्त
व्यामिश्र	सुभग
चित्र-कौशल	सर्वचित्र

चित्रकार—

१ चित्र-लेखा—सर्व-प्राचीन चित्रकार है—देखिए वि०प०
२ नारायण—देखिए वि०प०;
३ नग्नजित्—देखिए वि०प०,
४ सोमेश्वरदेव दे० अभि० चि०।

जहाँ तक अन्य चित्रकारों की बात है वह विशेष प्रस्तोतव्य नहीं।

चित्र-निदर्शन—चित्रों के निदर्शन हमारे देश में सम्प्रातीत हैं। हम केवल क्षेत्रों और पीठों पर ही थोड़ा-सा पदानुरूप प्रस्तुत कर सकते हैं —

क—क्षेत्र उत्तरीय, दक्षिणीय, मध्यदेशीय, पूर्वीय (बंगाल) पश्चिमीय (पंजाब तथा राजस्थान)।

ख—पीठ अजन्ता, सिगरिया, सित्तन्नवसल, सुरगुजा।

प्रतिमा-काण्ड

१. प्रतिमा-कला की पृष्ठ-भूमि—देव-पूजा
२ प्रतिमा-स्थापत्य पर शास्त्रीय ग्रन्थ
३ प्रतिमा-प्रकार
४ प्रतिमा-निवेश एव प्रतिमा-मान तथा प्रतिमा-दोष-गुण
५ प्रतिमा-द्रव्य
६ प्रतिमा-रूप-सयोग एव प्रतिमा-मुद्रा
७ प्रतिगा-वर्ग

(अ) ब्राह्मण-प्रतिमा

१ ब्राह्म एव त्रिमूर्ति २ वैष्णव
३ शैव ४ शाक्त
५ गाणपत्य ६ सौर
७ यक्ष-विधाधर-वसु-मरुद्गण-पितृगण-मुनिगण-ऋषिगण-भक्त

(ब) बौद्ध-प्रतिमा

१ पृष्ठ-भूमि—ऐतिहासिक बौद्ध-धर्म मे विकसित सम्प्रदाय।
२ साधारण-बुद्ध-प्रतिमा
३ विशिष्ट प्रतिमाएं—वज्रयानी प्रतिमाय—चतुर्दश विधा

(स) जैन-प्रतिमा

१ पृष्ठ-भूमि-जन—सम्प्रदाय
२ अर्च्य देव एव देविया
३ जैन-पीठ
४ तीर्थङ्कर
५ चौमुखव
६ यक्ष एव यक्षिणिया
७ श्रुत-देविया—विद्या-देविया
८ अन्य प्रतिमायें—योगिनिया
९ दिग्पालादि।

प्रतिमा-कला की पृष्ठ-भूमि—विस्तृत विवरणों के लिए दे० मेरा 'प्रतिमा-विज्ञान' विशेषकर दशाध्यायी—पूर्व-पीठिका। यहाँ पर केवल इतना ही सूच्य है कि प्रतिमा-स्थापत्य का जन्म, विकास एवं प्रोल्लास नाना भक्ति-सम्प्रदायों—जैसे शैव, वैष्णव, स्मार्त, (पञ्चायतन-परम्परा), शाक्त (महालक्ष्मी महाकाली, महासरस्वती—इन अधिष्ठातृ देवियों के आधार पर), गाणपत्य (कार्त्तिकेय एवं गणेश की पूजा पर), सौर, (सूर्य एवं नवग्रहों के आधार पर), एवं पुनः ब्राह्मणेतर धार्मिक सम्प्रदायों जैसे बौद्ध एवं जैन इन व्यापक एवं प्रवृद्ध अवान्तर भक्ति-सम्प्रदायों ने भी प्रतिमा-कला को महान प्रवर्ष प्रदान किया। कितने शिव-पीठ, कितने शक्ति-पीठ, कितने विष्णु-पीठ तथा मन्दिर, प्रासाद, विमान, आयतन आदि निर्मित हुए, कितने तीर्थ स्थापित हुए, कितने आश्रम उदित हुए, कितनी पुण्य-स्थलियाँ पनपीं (दे० त्रि-स्थली), कितनी पवित्र नगरियाँ, कितने पावन धाम तथा मठ आदि आदि पनपे ? इन सबमें मुख्य देवों के अतिरिक्त नाना परिवार-देवों की स्थापना पुनः सम्प्रदायानुरूप दर्शनानुरूप, रूप-प्रतिरूप-लाञ्छनादि-पुरस्सर अगणित प्रतिमायें प्रकल्पित हुईं। अतः यहाँ पर इस पृष्ठ-भूमि की विशेष समीक्षा नहीं करते वह तो वहीं मेरे इस उपर्युक्त ग्रंथ—प्रतिमा-विज्ञान—में परिशीलनीय है। यहाँ पर केवल इस पृष्ठ भूमि को प्रतिमा-विज्ञान की पूर्व-पीठिकानुरूप यहाँ केवल यह सब तालिका-बद्ध करना ही विशेष संगत एवं समीचीन है। एक विशेष सूच्य यह है कि यह पृष्ठ-भूमि ब्राह्मण-प्रतिमा-स्थापत्य की पृष्ठ-भूमि सर्वसाधारणी समझें।

पूजा-परम्परा—

(अ) देव-यज्ञ (इष्टि)

(ब) देव-पूजा (पूर्त)

पूजा-परम्परा के प्राचीन प्रतीक—

अ—वृक्ष-पूजा

ब—नदी-पूजा

स—पर्वत-पूजा

य—धेनु-पूजा (पशु-पूजा)

ग—पक्षि पूजा

ल—यन्त्र-पूजा

पूजा-परम्परा के प्रामाण्य—

(अ) साहित्यिक— ऋग्वेद—दे० मूरदेव, शिश्नदेव आदि; यजुर्वेद, ब्राह्मण तथा उपनिषदादि, सूत्र-साहित्य, स्मृति-साहित्य, प्राचीन व्याकरण-साहित्य-पाणिनि, पातञ्जलि, अर्थशास्त्र, रामायण एवं महाभारत।

(ब) पुरातत्वीय —

(I) मोहनजोदाडो—पशुपति शिव, देवी शाकम्भरी आदि—नाना देव एवं देवियां,

(II) शिला-लेख—घोषाण्डी, बेसनगर, मोरावेल,

(III) सिक्के—गजजा एवं अगजा लक्ष्मी, शिव, वासुदेव, दुर्गा, सूर्य स्कन्द कार्तिकेय, इन्द्र तथा अग्नि, नाग-नागिनियां, यक्ष एवं यक्षिणियां—गव बसरा, भीटा, राजघाट आदि के अन्वेषणा में प्राप्य हैं।

अर्चा अर्च्य एवं अर्चक—वैष्णव धर्म—

(अ) उपोद्घात—अर्चा के विभिन्न सोपानों में भक्ति का उदय,

(ब) पञ्चायतन-परम्परा,

(स) वैष्णव-धर्म —

वासुदेव-कृष्ण

विष्णु-अवतार-दशावतार

वैदिक विष्णु (विष्णु वासुदेव)

नारायण-वासुदेव।

वैष्णवाचार्य—दक्षिणी —

अ	ब
आलवार	आचार्य
सरोयोगिनादि १२	रामानुज, माधव आदि

वैष्णवाचार्य—उत्तरी —

निम्बार्क	दादू
रामानन्द	तुलसीदास

कबीर	चैतन्य
अन्य रामानन्दी	वल्लभ

राधोपसना—

मराठा देश के वैष्णवाचार्य—नामदेव तथा तुकाराम।

अर्चा अर्च्य एवं अर्चक—शैव-धर्म—

द्वादश ज्योतिर्लिंगादि,

रुद्र-शिव की वैदिक पृष्ठ-भूमि—दे० यजुर्वेद की रुद्राध्यायी,

रुद्र-शिव की उत्तर-वैदिक-कालीन पृष्ठ-भूमि—दे० उपनिषद्,

लिंगोपासना,

शैव-सम्प्रदायों का आविर्भाव,

तामिली शैव, शैवाचार्य, शैव दीक्षा,

पाशुपत-सम्प्रदाय,

कापालि एवं कालमुख,

लिंगायत (वीरशैव)

काश्मीर का त्रिक-प्रत्यभिज्ञा-सम्प्रदाय एवं दर्शन,

शैव दर्शन की आठ शाखाएं —

१ पाशुपत-द्वैतवाद,
२ सिद्धान्तशैव-द्वैतवाद,
३ नकुलीश पाशुपात-द्वैताद्वैतवाद,
४ विशिष्टाद्वैतवाद,
५ वीर-शैवों का विशेषाद्वैतवाद,
६ नन्दिकेश्वर का शैव-दर्शन,
७ रसेश्वर-शैव-दर्शन,
८ काश्मीर का अद्वैत-शैव-दर्शन।

अर्चा अर्च्य एवं अर्चक—शाक्त, गाणपत्य एवं सौर धर्म—

शाक्त धर्म एवं सम्प्रदाय—

तन्त्र, आगम, शैव-सम्प्रदाय, शाक्त-तन्त्र,

शाक्त तन्त्र, तान्त्रिक भाव तथा आचार—कौल, कौल-सम्प्रदाय, कुलाचार समयाचार, शाक्त-तन्त्र की व्यापकता, शाक्त-तन्त्र की वैदिक पृष्ठ-भूमि—शाक्त-तन्त्रों की परम्परा, शाक्तों का धर्म, शाक्तों की देवी के उदय का ऐतिहासिक सिंहावलोकन—भगवती दुर्गा के उदय की पांच परम्परायें, शाक्तों की देवी विराट्-स्वरूपा-महालक्ष्मी की तीनों शक्तियों से आविर्भूत देव एवं देवियां, देवी-पूजा गाणपत्य-सम्प्रदाय—ऐतिहासिक समीक्षा—गणपति, विनायक, विघ्नेश्वर, गणेश आदि—सम्प्रदाय।—

महागणपति-पूजक-सम्प्रदाय	नवनीत-गणपति-पूजक-सम्प्रदाय
हरिद्रा-गणपति ,, ,,	स्वर्ण-गणपति ,, ,,
उच्छिष्टगणपति ,, ,,	सन्तान-गणपति ,, ,,

सौर-धर्म

अ देशी ६ प्रतिमा दे० प्र०वि० पृष्ठ १२६

ब विदेशी दे० प्र०वि०

प्रतिमा स्थापत्य पर शास्त्रीय ग्रन्थ—

पुराण—मत्स्य, अग्नि विष्णु;

आगम—कामिक, कर्ण, सुप्रभेद, वैखानस, अंशुमद्भेद आदि;

तन्त्र-हयशीर्ष और नाना तन्त्र दे० (Vastusastra Vol. II)

दे० मेरी कृति—वास्तु-शास्त्र वाल्यूम सेकण्ड

शिल्प-प्रमुख-ग्रन्थ—

दक्षिणी	उत्तरी
मयमत	विश्वकर्म-प्रकाश
मानसार	विश्वकर्म-वास्तु-शास्त्र
काश्यपीय	समराङ्गण-सूत्रधार
आगस्त्य-सकलाधिकार	अपराजित-पृच्छा
शिल्प-रत्न	रूप-मण्डन

प्रतिमा-प्रकार

टि०—प्रतिमा-प्रकार अध्ययन को शास्त्रीय दृष्टि से तथा एवं वैज्ञानिक

हैं, परन्तु स्थापत्यानुरूप अथवा निदर्शनानुरूप जो आधुनिक विद्वानों ने अपने-अपने ग्रन्थों में प्रतिमाओं की विधा पर कुछ प्रकाश डाला है, वह दोष युक्त है—कहीं अतिव्याप्ति-दोष, कहीं अव्याप्ति-दोष। अस्तु—यह सब समीक्षा हमारे प्रतिमा-विज्ञान में द्रष्टव्य है। यहां पर हम पाठकों के सम्मुख नाना आकृतों के अनुसार पदावली-पुरस्सर तालिकायें प्रस्तुत करते हैं।—

(अ) केन्द्रानुरूपी —

१	गान्धार-प्रतिमायें	२	मगध-प्रतिमायें
३	नैपाली-प्रतिमायें	४	तिब्बती (महाचीनी) प्रतिमायें
५	द्राविडी-प्रतिमायें	६	मथुरा की प्रतिमायें

(ब) धर्मानुरूपी।—

१ वैदिक २. पौराणिक ३ तान्त्रिक

धर्म-सम्प्रदायानुरूपी—

१	ब्राह्मण-प्रतिमायें	अ	पौराणिक एवं	ब	तान्त्रिक
२	बौद्ध-प्रतिमायें	अ	पौराणिक एवं	ब	तान्त्रिक
३	जैन-प्रतिमायें	अ	पौराणिक एवं	ब	तान्त्रिक

(स) १ चल तथा अचल

२. पूर्ण तथा अपूर्ण

३. शान्त तथा अशान्त
(सौम्य) (उग्र)

टि०—भृगु-वैखानसागम के अनुसार चला एवं अचला इन दोनों को निम्न तालिका में वर्गीकृत किया गया है—

चला-प्रतिमायें—

१. कौतुक-बेर—पूजार्थ;
२ उत्सव-बेर—उत्सवार्थ—पर्व-विशेष पर बाहर ले जाने के लिए;
३ बलि-बेर—दैनिक उपाचारात्मक पूजा में उपहारार्थ;
४ स्नपन-बेर—स्नानार्थ।

अचला प्रतिमायें—ध्रुव-बेर 'बेर' का अर्थ प्रतिमा है :—

१ स्थानक—खड़ी हुई;

२ आसन—बैठी हुई,

३. शयन—विश्राम करती हुई।

टि०—ये अचला प्रतिमायें मूल-विग्रह अथवा "ध्रुव-बेर" की संज्ञा से सङ्कीर्तित हैं। ये प्रासाद-गर्भ में स्थाप्य हैं, अतः सदैव यथास्थान स्थापित एवं प्रतिष्ठित रहती हैं।

टि०—२ इस वर्गीकरण का आधार देह-मुद्रा (posture) है।

टि०—३ इस वर्गीकरण की दूसरी विशेषता यह है कि केवल वैष्णव प्रतिमायें ही इन मुद्राओं में विभाजित की जा सकती हैं, अन्य देवों की नहीं। शयन-देह-मुद्रा विष्णु को छोड़कर अन्य किसी देव के लिए परिकल्प्य नहीं। अथच, वैष्णव प्रतिमाओं के इस वर्गीकरण में निम्नलिखित उप-वर्ग भी मान्य होते हैं —

१ योग   २ भोग   ३ वीर   ४ अभिचार।

प्रथम प्रकार अर्थात् योग-मूर्तियों की उपासना आध्यात्मिक निःश्रेयस-प्राप्त्यर्थ, भोग मूर्तियों की उपासना ऐहिक-अभ्युदय-निष्पादनार्थ, वीर मूर्तियों की अर्चा राजन्यों-शूर-वीर-योद्धाओं के लिए प्रभु-शक्ति तथा सैन्य-शक्ति की उपलब्ध्यर्थ एवं आभिचारिक-मूर्तियों की उपासना आभिचारिक कृत्यों—जैसे शत्रु-मारण, प्रति-द्वन्द्वादि-पराजय-आदि के लिए विहित हैं। आभिचारिक-मूर्तियों के सम्बन्ध में शास्त्र का यह भी आदेश है कि इनकी प्रतिष्ठा नगर के अभ्यन्तर नहीं ठीक है। बाहर पर्वतों, अरण्यों तथा इसी प्रकार के निर्जन प्रदेशों पर इनकी स्थापना विहित है। इस प्रकार अचला प्रतिमाओं—ध्रुव-बेरों की निम्न द्वादश श्रेणियां सम्पटित होती हैं—

१ योग-स्थानक	५ योगासन	९. योग-शयन
२ भोग-स्थानक	६ भोगासन	१०. भोग-शयन
३ वीर-स्थानक	७ वीरासन	११ वीर-शयन
४ आभिचारिक-स्थानक	८ आभिचारिकासन	१२. आभिचारिक-शयन

पूर्णापूर्ण-प्रतिमायें—इस वर्ग के भी तीन अवान्तर भेद हैं अर्थात् प्रथम वे मूर्तियां, जिनकी आकृति के पूर्णावयवों की विरचना की गयी है, दूसरी जिनकी अर्ध कल्पना ही अभीष्ट है, तीसरी जिनका आकार क्या है—इसकी व्यक्ति न हो—प्रतीक-मात्र। प्रथम को व्यक्त (manifest) कहते हैं—fully sculptured in the round), दूसरी को व्यक्ताव्यक्त (manifest and non-manifest) कहते हैं। इसके निदर्शन में मुख-लिंग-प्रतिमाओं एवं त्रिमूर्ति-प्रतिमायें (दे॰ एलीफन्टा की त्रिमूर्ति-प्रतिमा) का समावेश है। लिंग-मूर्तियां, बाण-लिंग, शालग्राम आदि तीसरी कोटि अर्थात् अव्यक्त (प्रतीक-मात्र) प्रतिमाओं के निदर्शन हैं।

इसी वर्ग के सदृश प्रतिमाओं का एक दूसरा वर्ग भी द्रष्टव्य है –

१ चित्र—वे प्रतिमायें जो सांगोपांग व्यक्त है,

२ चित्राध—वे जो अर्ध-व्यक्त हैं,

- चित्राभास से तात्पर्य चित्रजा प्रतिमाओं painting से है।

शान्ताशान्त-प्रतिमायें —

इन प्रतिमाओं का आधार भाव है। कुछ प्रतिमायें रौद्र अथवा उग्र चित्रित की जाती हैं और शेष शान्त अथवा सौम्य। शान्ति-पूर्ण उद्देश्यों के लिए शान्त-प्रतिमाओं की पूजा का विधान है, इसके विपरीत आभिचारिक, मारण, उच्चाटन आदि के लिए उग्र प्रतिमाओं की पूजा का विधान है। अशान्त (उग्र) मूर्तियों के चित्रण में उनके भयावह—तीक्ष्ण-नख, दीर्घ-दन्त, बहु-भुज, अस्त्र-शस्त्र-सुसज्जित, मुण्डमाला-विभूषित, रक्ताभ-स्फुलिंगोज्वल नेत्र प्रदर्शित किये जाते हैं।

वैष्णव एवं शैव दोनों प्रकार की मूर्तियों के निम्न स्वरूप अशान्त प्रभेद के निदर्शन हैं –

वैष्णव—विश्व-रूप, नृसिंह, वटपत्र-शायी, परशुराम आदि।

शैव—कामारि, गजहा, त्रिपुरान्तक, यमारि आदि।

यह तो जैसी अभी तक प्राप्त सामग्री है, उसके अनुसार हमने पाठकों के ज्ञानार्थ ये सब तालिकायें प्रस्तुत की हैं, अब हमने अपने अध्ययन, गवेषण, अन्वेषण एवं अनुसन्धान में जो निष्कर्ष निकाला है, उसके अनुसार प्रतिमा वर्गीकरण निम्न

स्तम्भों के अनुसार परिकल्प्य हैं—

१. धर्मानुरूप
२. देवानुरूप
३. द्रव्यानुरूप
४. शास्त्रानुरूप तथा
५. शैल्यनुरूप

१. धर्म—ब्राह्मण, बौद्ध, जैन

२ देव—ब्राह्म, वैष्णव, शैव, सौर तथा गाणपत्य,

टि०—अन्य देवों एव देवियों तथा यक्षादि गणों की सभी प्रतिमायें इन्हीं मे गतार्थ हैं क्योंकि वे सब परिवार है ।

३. द्रव्य

१. मृण्मयी २ शिलामयी ३. दारुजा
४ धातुजा या पाकजा—काञ्चनी, राजती, ताम्री, रैतिकी, लोहजा आदि ;
५ रत्नोद्भवा ६ लेप्या
७ चित्रजा ८ मिश्रजा

४ शास्त्र

१ पौराणिक
२ आगमिक
३ तान्त्रिक
४ शिल्प-शास्त्रीय
५ मिश्रित

५ शैलियां

१ नागर
२ द्राविड
३ वेसर
४ लाट
५. वावाट
६ भूमिज
७ गान्धार
८ नेपाल
९. मथुरा
१० तिब्बतती (महाचीनी)
११ द्वीपान्तर भारत

प्रतिमा-निवेश (Iconometry) तथा

प्रतिमा-गुण-दोष

टि०—चित्र अर्थात् प्रतिमा के मान पर पीछे चित्र-काण्ड मे सामान्य

मानो एव अण्डक-प्रमाणो पर कुछ सकेत कर ही चुके हैं — यहा पर पाषाणी प्रतिमा के अनुरूप जो मान शास्त्र मे निर्धारित किये गये हैं उनकी तालिका यहा पर प्रस्तोत्य है .—

पंच-पुरुष-स्त्री-लक्षण

टि०—देव-प्रतिमा मानवानुरूप—महापुरुष, राजे-महाराजे;
देवी-प्रतिमा स्त्र्यनुरूप—इन्द्राणी, स्थूला बाल्या आदि।

पच-पुरुष-सज्ञा	प्रमाण	
	स० सू०	बृ० स०
हस	८८ अगुल	९६ अगुल
शश	९० अगुल	९९ अगुल
रूचक	९२ अगुल	१०२ अगुल
भद्र	९४ अगुल	१०५ अगुल
मालव्य	९६ अगुल	१०८ अगुल

पच-स्त्री— वृत्ता पौरुषी ———
बलाका दण्डा

टि०—इनके प्रमाणो पर सकेत नही। यहा इतना ही सूच्य है कि स्त्री-प्रमाण पुरुष से न्यून अर्थात् पुरुष के स्कन्ध से ऊपर इनका मान नही जाना चाहिए।

समरागण-सूत्रधार के अनुसार स्त्री-प्रतिमा का वक्ष २८ तथा कटि २४ अगुलो मे प्रमाण निर्दिष्ट किया गया है।

प्रतिमा मे मान दो प्रकार के है—एक अगुल-मान, दूसरा ताल-मान। इनके भी उपवर्ग है—स्वाश्रय अर्थात् Absolute तथा सहायक अर्थात् Relative। प्रथम का आधार कतिपय प्राकृतिक पदार्थों Natural objects की लम्बाई है और दूसरा मेय प्रतिमा के अग-विशेष अथवा अवयव-विशेष पर आधारित रहता है। प्रथम की तालिका परमाणु-रज-रोम आदि को हम पीछे चित्र-काण्ड में प्रस्तुत कर ही चुके हैं। इसका दूसरा वर्ग भवन-निवेश से सम्बन्धित है जैसे किष्कु, प्राजापत्य (दण्ड) आदि आदि, उनकी अवतारणो यहा आवश्यक नहीं। अब आइये सहायक-मान-पद्धति पर उसमे मात्रागुल एव

देहांगुल की परम्परा प्रचलित है।

मात्रांगुल–प्रतिमा-कार स्थपति (तक्षक) अथवा प्रतिमा-कारक यजमान की मध्यमा अंगुलि का मध्य पर्व है।

देहांगुल–मेय प्रतिमा के सम्पूर्ण कलेवर को १२४, १२० अथवा ११६ सम भागों में विभाजन से प्राप्त होता है। प्रत्येक भाग को देहलब्धांगुल कहते हैं।

देहांगुल-तालिका–

१	अंगुल	अवकाश मूर्ति, इन्दु, विश्वम्भरा, मोक्ष, तथा उक्त,
२	,,	कला, गोलक, अश्विनी युग्म, ब्राह्मण, विहग, अग्नि तथा पद्म;
३	,,	गुण, अग्नि, रुद्राक्ष, गुण, काल, शूल, राम, वर्ग तथा मध्या,
४	,,	वेद, प्रतिष्ठा, जाति, वर्ण, वर्ण (करण), ब्रह्मानन, युग, तुर्य तथा तुरीय,
५	,,	विषय, इन्द्रिय, भूत, इषु, सुप्रतिष्ठा तथा पृथ्वी,
६	,,	कर्म, अंग, रस, समय, गायत्री, कृत्तिका, कुमारानन, कौशिक तथा ऋतु,
७	,,	पाताल मुनि, धातु, लोक, उष्णिक, रोहिणी, द्वीप, अग, अम्भोनिधि,
८	,,	लोकपाल, नाग, उरग, वसु, अनुष्टुप तथा गण;
९	,,	बृहती, गृह, रन्ध्र, नन्द, सूत्र,
१०	,,	दिक्, प्रादुर्भावा, नाडि तथा पंक्ति;
११	,,	रुद्र तथा त्रिष्टुप,
१२	,,	वितस्ति, मुख, ताल, यम, अर्क, राशि तथा जगती;
१३	,,	अतिजगती;
१४	,,	मनु तथा शक्वरी,
१५	,,	अतिशक्वरी तथा तिथि,
१६	,,	क्रिया, अष्टि, इन्दु, कला,
१७	,,	अत्यष्टि,

१८ ,, स्मृति तथा धृति,
१६ ,, प्रतिधृति,
२० ,, कृति,
२१ ,, प्रकृति,
२२ ,, आकृति,
२३ ,, विकृति,
२४ ,, सस्कृति,
२५ ,, अतिकृति,
२६ ,, उत्कृति,
२७ ,, नक्षत्र।

मान-तालिका—षड्वर्गीय—

१ मान से तात्पर्य प्रतिमा-कलेवर की लम्बाई (Length)
२ प्रमाण से तात्पर्य प्रतिमा-कलेवर की चौड़ाई (Breadth)
३ उन्मान से तात्पर्य प्रतिमा-कलेवर की मोटाई (Thickness)
४ परिमाण से तात्पर्य प्रतिमा-कलेवर का परीणाह (Girth)
५ उपमान से तात्पर्य प्रतिमा-कलेवर के दो अवयवों जैसे पैरों के अन्तरावकाश (Interspaces)
६ लम्बमान से तात्पर्य प्रतिमा-कलेवर की प्रलम्ब रेखाओं (Plumb Lines) से है।

ताल-मान—प्राथमिक —

ताल	देव
उत्तम दशताल	ब्रह्मा, विष्णु, शिव की मूर्तियां,
अधम दशताल	श्री देवी, भू-देवी, उमा, सरस्वती, दुर्गा, सप्तमातृका, उषा
मध्यम दशताल	इन्द्रादि-लोकपाल, चन्द्र-सूर्य, द्वादश-आदित्य, एकादश-रुद्र, अस्टवसु-गण, अश्विनी, भृगु तथा मार्कण्डेय, गरूड, शेष, दुर्गा, गुह (सुब्राह्मण्य) सप्तर्षि, गुरु (बृहस्पति), आय, चण्डेश तथा क्षेत्र-पाल,
नवार्ध ताल	कुबेर तथा नव-ग्रह आदि,
उत्तम नवताल	दैत्य, यक्षेश उरगेश, सिद्ध, गन्धर्व, चारण, विद्येश तथा शिव की मूर्तियां,
सप्त्यङ्गुल	पूर्ण महापुरुष (देवरत्व-मनुज),

नवताल	राक्षस, असुर, यक्ष, अप्सरायें, अन्य-भूतिया, और मरुद्-गण;
अष्टताल	मानव;
सप्तताल	वेताल, प्रेत;
षट्ताल	प्रेत;
पञ्चताल	कुब्ज तथा विघ्नेश्वर;
चतुस्ताल	वामन और बच्चे;
त्रिताल	भूत और किन्नर,
द्विताल	कूष्माण्ड;
एकताल	कवन्ध।

टि०—ताल-मान मे प्रयुक्त विभिन्न सूत्रों का सकेत भी आवश्यक है, जो हमने मानसोल्लास की दिशा में अपने "अध्ययन" खण्ड मे प्रस्तुत की हैं वह वहीं द्रष्टव्य हैं, पुनरावृत्ति ठीक नहीं।

अस्तु, इस स्तम्भ मे यहा समरागण की प्रतिमा-मान-पद्धति की तालिका पदावली-क्रम से (Terminologically) अवश्य अवतार्य हैं।—

अग	उपाग-प्रत्यग	प्रमाण
(I) श्रवण	नेत्र-श्रवण-मध्य	४ अगु०
	नेत्र और श्रवण—सम	उत्सेध से द्विगुणायत
	कर्ण-पिप्पली	१ अ० ४ य०

पिप्पली और आघात के बीच का लकार आया० ½ अ०, विस्तार १अ०, मध्य की गहराई ४ यव

पिप्पली के मूल पर श्रोत्र-छिद्र	४ य०
स्तृतिका	½ अ० आया०, ½ य० वि०
पीयूषी (लकारावर्त-मध्या)	२ अ० आया०, ½ अ० वि०
आवर्त (कर्ण-बाह्य-रेखा)	६ अ० (वक्र और वृत्तायत)
मूलाश (श्रोत्र-मूल-अवकाश)	१।२ अं० परिणाह (Girth)
,, ,, मध्यावकाश	२ य० परिणाह ,,
,, ,, तदग्रे	१ य० परिणाह ,,
उद्घात (लकारावर्तमध्य ?) (पीयूषी के अधोभाग पर)	३ अ० ,, ,,

कर्णा का ऊपरी विस्तार	१ गोलक २ य०
,, ,, मध्य ,,	नाल का दुगना
,, ,, मूल ,,	६ मात्रा
पूरा का पूरा	२ गोल का परिणाह
नाल (पश्चिम)	१ अ० का परिणाह
नाल (पूर्व)	½ अ० का परि०
२ कोमल नाल	१ कला का परि०
(ii) चिबुक	२ अगुल लम्बा
अधरोष्ठ	१ अ० लम्बा
उतरोष्ठ	१।२ अगुल लम्बा
भाजी	१।२ अगुल (ऊचाई)
(iii) नासिका—	४ अगुल लम्बाई
२ नासिका-पुट-प्रान्त	२ अ० लम्बाई
२ नासा-पुट	ओष्ठ के प्रमाण का चौथा
नासा-पुट-प्रान्त	करबीरसम ?
(iv) ललाट	८ अगुल विस्तत ४ अ० आयत

टि०—१ इस प्रकार चिबुक से केशान्त मान २२ अगुल होता है।

टि०—२ आगे का पाठ भ्रष्ट होने से १८ अगुल किस का प्रमाण है—पता नही। ग्रीवा का परीणाह २४ अगुल प्रतिपादित है। जहा तक वक्ष एव नाभि के प्रमाण का प्रश्न है, वह ग्रीवा-प्रमाण से अनुगत है। इसी प्रकार मेढ़ का मान नाभि के मान के दो भागो से परिकल्पित है और उरू तथा जघाओ का मान समान माना गया है। दोनो जानुओ का मान ४ अगुल बताया गय है।

—स० सू० ७६ २७-२६

(v) पाद	१४ अ० लम्बे, ६ अ० चौडे और ४ अ० ऊचे
पादागुष्ठ	(५ अ० परीणाह, ३ अ० लम्बे और १ अ० ३ य० ऊचे)
पाद-प्रदेशिनी	५ अ० परी०, ३ अ० आयत
पाद-मध्यमागुलि	—

	पाद-अनामिका	मध्यमा के प्रमाण में १।२ कम
	पाद-कनिष्ठा	अनामिका के प्रमाण मे १।२ कम
	अगुष्ठ-नख	३।४ अगुल
	अगुलि-नख	३।५ अ०
(vi)	जघा-मध्य-परीणाह्	१८ अगुल
(vii)	जानु-मध्य-परीणाह्	२१ अगुल
	जानुकपाल	जानु का १।७ परीणाह्
(viii)	ऊरु-मध्य-परीणाह्	३२ अगुल
(ix)	वृषण (scrotums)	
	मेढ्र (वृषण-मस्थित)	६ अगुल-परीणाह्
	कोश	४ अगुल
(x)	कटि	१८ अगुल
(xi)	नाभि-मध्य परीणाह्	४६ अगुल
(xii)	२ स्तनो का अन्तर	१२ अगुल
(xiii)	२ कक्ष-प्रान्त	६ अगुल लम्बे
(xiv)	पृष्ठ-विस्तार	२४ अगुल
	पृष्ठ-परीणाह्	वक्ष-सम
(xv)	ग्रीवा	६ अगुल
(xvi)	भुजायाम	४६ अगुल
	दोनो का पर्वोपरितन (wrist)	१८ अगुल
	दूसरा पर्व	१६ अगुल
	दोनो बाहुओ का मध्य-परीणाह्	१८ अगुल
	दोनों प्रबाहुओ का मध्य परीणाह	१२ अगुल
	(अर्थात् चतुर्भुजी प्रतिमायें)	
	भुज-तल (सागुलि)	१२ अगुल
	भुज-तल (निरगुलि)	७ अगुल
	मध्यमागुलि	५ अगुल
	प्रदेशिनी और अनामिका	दोनों बराबर (परन्तु मध्यमा से एक पर्व-हीन

कनिष्ठिका	प्रदेशिनी से एक पर्व-हीन
हस्त-नख (प्रकृति)	सब पर्व के प्राधे
उनका परीणाह	?
हस्ताग्र-पृष्ठ-लम्बाई	४ अंगुल
हस्त-परीणाह	५ अंगुल
अंगुष्ठ-नख	?

प्रतिमा-गुण-दोष—

टि०—ये गुण-दोष मान-पालन अथवा मान-अपालन पर ही आधारित है। अतएव यह तालिका इसी स्तम्भानुकूल है :

प्रतिमा-दोष

सं०	दोष	फल
१	अश्लिष्ट सन्धि	मरण
२	विभ्रान्ता	स्थान-विभ्रम
	वक्र	कलह
४	अवनता	वयसः क्षय
५	अस्थिता	अर्थक्षय
६	उन्नता	हृद्रोग
७	काकजंघा	देशान्तर-गमन
८	प्रत्यगहीना	अनपत्यता
६	विकटाकारा	दारुण भय
१०	मध्य-ग्रन्थि-नता	अनर्थका
११	उद्बद्ध-पिण्डिका	दुःख
१२	अधोमुखी	शिरोरोग
१३	कुक्षिण्ठा १	दुर्भिक्ष
१४	कुब्जा	रोग
१५.	पार्श्व-हीना	राज्याशुभ
१६	आसन-हीना	बन्धन और स्थान-च्युति
१७	आयत-पिण्डिता	अनर्थदा

१८	मालम-हीना	मन्धनन और स्थान-च्युति
१६	नाना-काष्ठ समायुक्ता	अनर्थदा
२०	—	—

टि०—इन दोषो का अभाव ही गुण हैं तथापि निम्न तालिका द्रष्टव्य हैं।

प्रतिमा-गुण

१	सुश्लिष्टसन्धि	८	शुभा
२	ताम्र-लोह-सुवर्ण-रजत-बद्धा	६	सुविभक्ता
३	प्रमाण-सुविभक्ता	१०	यथोत्सेधा
४.	अक्षता	११	प्रसन्न-वदना
५	अपदिशा	१२	निगूढ-सन्धि-करणा
६	अप्रत्यग-हीना	१३	समामती
७	अविवर्जिता	१४.	ऋजु-स्थिता

प्रतिमा-द्रव्य (Iconoplastic art)

टि०-इस स्तम्भ पर हमने अपने तीनो ग्रन्थो—दे० प्रतिमा-विज्ञान, Vastusastra Vol II—Hindu Canons of Iconography and Painting and Royal Arts--Yantras and Citras—मे इस विषय पर विस्तृत समीक्षा की है और अन्त मे केवल द्रव्यो की सप्तधा विधा पर पहुचे है।

द्रव्य

सामान्य तालिका–

१ मृन्मयी
२ काष्ठमयी
३ पाषाणमयी
४ धातुजा (धातुत्था अर्थात् अष्ट-लोह-मयी)
५ रत्नजा
६ आलेख्य—चित्रजा
७. मिश्रा

अब हम विभिन्न ग्रन्थो की तालिका प्रस्तुत करते हैं।

समरांगणीय प्रतिमा-द्रव्य—७ पुराणीय (भविष्य) प्र० द्र० ७

सुवर्ण	काचनी
रजत	राजती
ताम्र	ताम्री
पाषाण	पार्थिवी
लेप्य (मृत्तिका)	वार्क्षी
आलेख्य (चित्र)	आलेख्यका

शुक्रनीति-सारीय प्र० द्र०

शुक्रनीति-सार का निम्न प्रवचन सप्तधा से हमे अष्टधा की ओर ले जाता है तथा द्रव्योत्तर प्राशस्त्य प्रतिपादित करता है —

प्रतिमा सैकती पैष्टी लेख्या लेप्या च मृण्मयी ।

वार्क्षी पाषाणधातूत्था स्थिरा ज्ञेया यथोत्तरा ॥

अब आइये गोपालभट्ट-विरचित हरिभक्ति-विलास की ओर, जहा प्रतिमा को द्रव्यानुरूप से पहले चतुर्धा कहा है—पुन सप्तधा —

हरि० वि० चतुर्धा द्रव्य

चित्रजा	पाकजा
लेप्यजा	शस्त्रोत्कीर्णा

हरि० वि० सप्तधा द्रव्य

१ मृण्मयी	४ रत्नजा
२ दारु-घटिता	५ शैलजा
३ लोहजा	६ गन्धजा
	७ कौसुमी

आगमिक द्रव्य — रत्नजा प्रतिमा

१ स्फटिक	४ वैदूर्य
२ पद्मराग	५ विद्रुम
३ वज्र	६. पुष्प

टि० आगमो मे इष्टिका (ईंट) तथा कडिशर्करा एव हस्तिदन्त भी द्रव्य उपश्लोकित हैं ।

अब आइये अन्त में अपराजित-पृच्छा की द्रव्य-तालिका की ओर—

अपराजित-प्रतिमा-द्रव्य

	संज्ञा	पूजक	फल
१.	वज्रमयी प्रतिमा	इन्द्र	सुरराजत्व
२	स्वर्णमयी प्रतिमा	कुबेर	धनदत्व
३	रूप्यमयी प्रतिमा	विश्वेदेवा	विश्वेदेवात्व
४	पित्तलमयी प्रतिमा	मरूद्‍गण	पवनत्व
५	कांस्यमयी प्रतिमा	अष्टवसुगण	वसुत्व
६	सीसकोद्भवा	पिशाच	मोक्ष
७	सूर्यकान्तमयी	आदित्य	सूर्यत्व
८	चन्द्रकान्तमयी	चन्द्र	नक्षत्रराजत्व
९	प्रवालकमयी	मंगल	—
१०	इन्द्रनीलमयी	बुद्ध	—
११	पुष्परागमयी	बृहस्पति	—
१२	शंखमयी	शुक्र	—
१३	कृष्णनीलमयी	शनि	—
१४.	वैडूर्यमयी	केतु	—
१५.	गोमेधीय	राहु	—
१६	शुद्धस्फटिकमयी	अर्हत	—
१७	हेमवती (शिलामयी)	ब्रह्मा	—
१८	हेमकूटजा (महालिंग)	विष्णु	—
१९.	अष्टलोहमयी	सर्वदेविया	—
२०.	ध्यानजा दिव्यलिंग	योगिनियां	—
२१	रत्नजा	राजे-महाराजे	—

अष्टधा शैलजा प्रतिमा

१	श्वेता	ब्राह्मणोचिता
२	पद्मवर्णा	राजोचिता—क्षत्रियोचिता
३	— [illegible]	वैश्योचिता

४	मुद्गाभा	शूद्रोचिता
५	पाण्डुरा	स्वास्थ्यकारका
६	माक्षिकनिभा	विजयकारका
७	कपोताभा	धनैश्वर्य-विधायिका
८	मृगाभा	सन्तति-दायिनी

पार्थिवा

पक्वा	अपक्वा

अन्य द्रव्यजा

कर्पूरा	कस्तूरिका	करवीरा
कुंकुमा	मातुलिंगिका	नाना-फलविनिर्मिता

प्रतिमा-रूप-संयोग एवं प्रतिमा-मुद्रा

आधुनिक विद्वानों ने मुद्रा का अर्थ एक-मात्र हस्त-मुद्रा, पाद-मुद्रा तथा शरीर-मुद्रा इन्हीं तक सीमित रक्खा है। मैंने वास्तु-शिल्प-चित्र के अनुसन्धान, गवेषण एवं अध्ययन से जो नई उद्भावना अपने ग्रन्थों में (देखिये Vastu-sastra Vol II — Hindu Canons of Iconography and Painting) की है, उस से मुद्रा एक-मात्र भाव मुद्रा जो हस्त पाद-मुखादिका की स्थिति, गति एवं आकृति के द्वारा अभिव्यक्त होती हैं, वे ही एक-मात्र मुद्रा नहीं हैं। नाना रूप-संयोग एवं लाञ्छन, आभूषण, आयुध आसन प्रतीक आदि भी मुद्रा ही हैं। मुद्रा के उपर्युक्त सीमित अर्थ ने ही आधुनिक स्थापत्य-लेखकों को यह प्रेरणा दी और सिद्धान्त पर पहुंचाया कि ब्राह्मण-प्रतिमायें मुद्रा-विहीन हैं और बौद्ध एवं जैन प्रतिमायें ही मुद्रालङ्कृत हैं। हेमाद्रि की चतुर्वर्ग-चिन्तामणि में जो हम ने निम्न उल्लेख पाये हैं, उससे हमारा सिद्धान्त पुष्ट हो गया —

एकोनविंशतिमुद्रा विष्णोरुक्ता मनीषिभि।
शङ्खचक्रगदापद्मवेणुश्रीवत्सकौस्तुभा ॥
शिवस्य दशमुद्रिका:
लिंगयोनित्रिशूलाख्या मालेष्टाभीमृगाह्वया ॥

सूर्यस्यैकैव पद्माख्या सप्तमुद्रा गणेशितु ॥

— — — —

लक्ष्मीमुद्रार्चने लक्ष्म्या वाग्वादिन्याश्च पूजने ।
अक्षमाला तथा वीणा व्याख्या पुस्तकमुद्रिका ॥
सप्तजिह्वाह्वया मुद्रा विज्ञेया वह्निपूजने ॥

अस्तु, यद्यपि बौद्ध-प्रतिमाओं मे इन हस्त-मुद्राओं का विपुल विनियोग है, परन्तु प्रतिमा-स्थापत्य मे मुद्रा देव-विशेष के मनोभावो को ही नही अभिव्यक्त करती हैं, वरन् उसके महान् कार्य—दैवी काय को भी इंगित करती है। भगवान् बुद्ध की भूमि-स्पर्श-मुद्रा इस तथ्य का उदाहरण है । इस दृष्टि से मुद्रा एक प्रतीक Symbol है, जो प्रतिमा और प्रतिमा के स्वरूप (Idea) का परिचायक (Conductor) है।

अस्तु, इस स्थूल उपोद्‌घात के अनन्तर अब हम इन मुद्राओं को निम्न-लिखित दो महावर्गों मे विभाजित कर रहे हैं —

१ रूप-मुद्रा २ शरीर-मुद्रा

पहले हम रूप-मुद्रा को लेते हैं। रूप-मुद्रा का अर्थ रूप-सयोग है। अत' इस रूप सयोग में निम्न उपवर्गों पर नाना रूप-मुद्राओं की तालिका उपस्थित की जाएगी —

१	पात्र	४	आभूषण
२	आसन	५	आयुध
३	वाहन	६	वस्त्र

अ-पात्र

सज्ञा	देव
१ स्रुक्	ब्रह्मा
२. स्रुवा	ब्रह्मा
३ कमण्डलु	ब्रह्मा, शिव, पार्वती तथा सरस्वती
४ पुस्तक	ब्रह्मा, सरस्वती
५ अक्षमाला (अक्षसूत्र)	ब्रह्मा, सरस्वती, शिव
रुद्राक्ष—कमालक्ष	सरस्वती

६.	कपाल	कपाल-भृत् शिव तथा अन्य तान्त्रिक देवता
७	दण्ड	यम
८	दर्पण	देवी
९	पद्म	लक्ष्मी
१०	श्रीफल	लक्ष्मी
११	अमृत-घट	लक्ष्मी
१२	मोदक	गणेश

टि० इनको हम पात्र अर्थात् Implements के रूप मे विभाजित करते हैं परन्तु यहा पात्र पर हम वाद्य-यन्त्र को भी ले सकते हैं, जिनकी तालिका निम्न है :—

	सज्ञा	दे०
१	वीणा अथवा वल्लकी	सरस्वती
२	वेणु	कृष्ण
३	डमरू	शिव
४	शख (पञ्चजन्य)	विष्णु
५	घटा	दुर्गा तथा कार्तिकेय
६	मृदग, करताल आदि	देवगण, मुनिगण, भक्त आदि ।

ब–आसन —आसन पद म केवल यथा-नाम आसन ही है वरन् यह निम्नलिखित तीन उपसर्गो मे विभाजित किया जा सकता है —

१ शरीरासन अर्थात् योगासन, चक्रासन, पद्मासन

२ पीठासन (detached seat)

३ पशु-आसन (वाहन)

टि० इन पशु-आसनो को वाहन मे भी गतार्थ कर सकते हैं, परन्तु बहुत से ऐसे भी देव हैं जो साक्षात् गज, सिंह, मयूर आदि पशुओं पर आरूढ चित्र्य हैं। अत उनको हम वाहन मे लेंगे।

१ शरीर-आसन(यौगिकासन)—इनकी सख्या सख्यातीत है निरुक्ततन्त्र, (दे० शब्द-कल्पद्रुम) के अनुसार इन आसनो की सख्या ८४ लाख है।

अहिर्बुध्न्य-संहिता के अनुसार निम्नलिखित ११ आसन विशेष प्रसिद्ध हैं, जो प्रतिमा-स्थापत्य में भी चित्रित किये गए हैं :—

१ चक्रासन	५ कौस्तुभासन	९ सिंहासन
२ पद्मासन	६ वीरासन	१० मुक्तासन तथा
३ कूर्मासन	७ स्वस्तिकासन	११ गोमुखासन
४ मयूरासन	८ भद्रासन	

इन ११ यौगिकासनों के अतिरिक्त पतञ्जलि के योग-दर्शन में जो अन्य यौगिकासन संकीर्तित हैं, वे भी प्रतिमा-स्थापत्य में चित्रित हैं — दण्डासन, सोपाश्रयासन, पर्यंकासन, समसंस्थानासन आदि तथा ज्ञानासन, वज्रासन, योगासन, आलीढासन और सुखासन।

टि० डा० वैनर्जी के अनुसार (cf Development of Hindu Iconography) निम्नलिखित आसन भी चित्र-स्थापत्य में प्रदर्शित हैं —

१ उत्कुटिकासन	४ बद्ध-पद्मासन
२ पर्यंकासन	५ वज्रासन
३ वज्रपर्यंकासन	६ ललितासन

२-पीठासन—सुप्रभेदागम में निम्न पांच प्रकार के पीठों का वर्णन किया गया है, जिन्हें हम यौगिकासनों के रूप में नहीं वरन् Detached Seat के रूप पाते हैं। ये आकारानुरूप निर्मेय हैं —

पीठ	आकार	प्रयोजन
१ अनन्तासन	त्र्यश्र (Triangular)	कौतुकदर्शनार्थ
२ सिंहासन	आयताकार (Rectangular)	स्नानार्थ
३ योगासन	अष्टाश्रि (Octagonal)	प्रार्थनार्थ
४ पद्मासन तथा	वर्तुल (Circular)	पूजार्थ
५ विमलासन	षडश्रि (Hexagonal)	बल्यार्थ

इनके अतिरिक्त राव महाशय ने (E H I vol I p 20) अन्य चार पीठों का भी निर्देश किया है, जो पादमूर्द्धीय आसन नहीं, द्रव्यीय पीठ हैं।

१ भद्र-पीठ (भद्रासन)	प्रेत-पीठ (प्रेतासन)
२. कूर्म-पीठ (कूर्मासन)	सिंह-पीठ (सिंहासन)

३ पशु-आसन —

वाहन—वाहन अर्थात यान की निम्न तालिका उद्धरणीय है —

देव		देविया	
१ हसवाहन ब्रह्मा	१	सिंहवाहिनी दुर्गा	टि० यान मे देवो के
२ गरूडारूढ विष्णु	२	हसवाहिनी सरस्वती	विमान ही विशेष
३ वृषभासीन शिव	३	वृषभवाहिनी गौरी	प्रसिद्ध हैं, ब्रह्मा विष्णु,
४ गजारुढ रुद्र	४	गदभासना शीतला	महेश के विमानो का
५ मयूरासन कार्तिकेय	५	उलूकवाहिनी लक्ष्मी	क्रमश वैराज,त्रिविष्टप
६ मूषिकासन गणेश	६	नक्रवाहिनी गगा	और कैलाश नाम है ।

टि० अपराजित-पृच्छा मे षट्त्रिंशत् ३६ आयुधो का वर्णन है । इतनी सुदीर्घ तालिका अन्यत्र अप्राप्य है । उसी प्रकार से उसमें षोडश आभूषणो का भी वर्णन है, जो आगे के स्तम्भ मे लेंगे । पहले हम आगमो, तन्त्रो, पुराणो तथा अन्य शिल्प-ग्रन्थो मे आयुधो (अस्त्र शस्त्रो) का जो प्रतिपादन है, उसके अनुसार पहली तालिका प्रस्तुत करते है —

आयुध–तालिका-(सामान्या)

आयुध	देव-विशेष-सयोग
१ चक्र (सुदर्शन)	विष्णु
२ गदा (कौमोदकी)	विष्णु
३ शारग धनुष	विष्णु
४ त्रिशूल	शिव
५ पिनाक धनुष	शिव
६ खट्वाग	शिव
७ अग्नि	शिव
८ परशु	शिव
९ अकुश	गणेश
१० पाश	गणेश
११ शक्ति	सुब्रह्मण्य
१२ वज्र	सुब्रह्मण्य
१३ ठक	सुब्रह्मण्य (इन्द्र भी)

१४	मुसल	बलराम
१५	हल	बलराम
१६	शर	कार्तिकेय
१७	खड्ग	कार्तिकेय
१८	मुसुण्ठि	कार्तिकेय
१९	मुद्गर	कार्तिकेय
२०	भेट	कार्तिकेय
२१	धनु	कार्तिकेय
२२	पताका	कार्तिकेय
२३	परिघ	दुर्गा
२४	पट्टिश	दुर्गा
२५.	चर्म	दुर्गा

आयुध-तालिका—अपराजित पृच्छोया षट्त्रिंशत-आयुध—३६ आयुध -

१	त्रिशूल	१३	दंड	२५	दीपक
२	छुरिका	१४	शंख	२६	सर्प
३	खड्ग	१५	चक्र	२७	श्रग
४	खेटक	१६	गदा	२८	हल
५	खट्वांग	१७	वज्र	२९	कुन्तक
६	धनुष	१८	शक्ति	३०	पुस्तक
७	बाण	१९	मुदगर	३१	अक्षमाला
८	पाश	२०	भृशुंडि	३२	कमंडलु
९	अंकुश	२१	मुसल	३३	स्रुक्
१०	घंटा	२२	परशु	३४	पद्म
११	रिष्टि	२३	कर्तिका	३५.	पत्र
१२	दर्पण	२४	कपाल	३६	योग-मुद्रा

टि० इनमें बहुत सी सज्ञायें जैसे दर्पण, कपाल तथा ३०-३६ ये सब Improvised weapons मे गतार्थ किये जा सकते है।

आभूषण—वस्त्रो एव अभूषणों को हम एक ही वर्ग में परिकल्पित कर सकते हैं। ये एक प्रकार से वस्त्र हैं, भूषण है और मौलिया है।

वस्त्र— (१) कौशेय (२) कार्पास (३) चम

इन कोटियो मे, नाना परिधान, नाना देवो मे, विभाजित है —

विष्णु	पीताम्बर
बलराम	नीलाम्बर
ब्रह्मा	शुक्लाम्बर

प्राचीनकाल मे परिधानो मे दो ही वस्त्र विशेष थे, एक उत्तरीय तथा दूसरा अधोवस्त्र । देवी-मूर्तियो तथा देव-मूर्तियो मे बन्ध भी चित्रित पाए जाते है । निम्न तालिका देखिए —

१	हार	६	कुच-बन्ध	११	चोलक (सूर्य-देविया)
२	केयूर	७	भुजगवलय	१२	कृत्तिवास (शिव)
३	कंकण	८	वनमाला	१६	शुक्लाम्बर (ब्र०)
४	उदर-बन्ध	९	पीताम्बर (वि०)	१४	मखला (श्री)
५	कटि-बन्ध	१०	उदीच्यवष (सूय)	१५	कञ्चुक (लक्ष्मी)

टि०— इनमे से प्रथम पाच सभी देवो एव देवियो के सामान्य परिधान है , कुच-बन्ध तथा चोलक स्त्री-परिधान होन के कारण देवी-प्रतिमाओ की विशष्टिता है ।

अलकार तथा आभूषण—

अलकार अथवा आभूषणो को अगानुरूप सात-आठ वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है —

कर्णाभूषण—कुण्डल

पत्र कुण्डल (उमा) ३ शख-पत्र-कुण्डल (उमा)

२ नक्र-कुण्डल (सामान्य) ४ रत्न-कुण्डल (सामा०)

टि०, कर्णाभूषणो मे कर्ण-पूर (सरस्वती), कर्णिका (काली), मणि–कुण्डल (लक्ष्मी), कर्णावली (पार्वती) आदि भी उल्लेख्य है ।

नासा भूषण—वेसर (कृष्ण और राधा)

गल-भूषण— १ निष्क २ हार ३ ग्रैवेयक ४ कौस्तुक तथा ५ वैजयन्ती

टि० कौस्तुभ एव वैजयन्ती वैष्णव-आभूषण है, कौस्तुभ मणि है

जो समुद्र-मन्थन में प्राप्त १४ रत्नो मे एक है। इसे भगवान् विष्णु वक्षस्थल पर धारण करते है।

भागवत-पुराण कौस्तुभ को सहस्र-सूर्य-समप्रभ एक लाल मणि सकीर्तित करता है। वैजयन्ती के विषय मे यह प्रतिपाद्य है कि इसकी रचना पाच प्रकार की रत्न-पचिका से निष्पन्न होती है। विष्णु-पुराण मे इन पच-विध रत्नो को पञ्च तत्वो का प्रतीक माना गया है। नीलम (नीलमणि) पार्थिव तत्व, मौक्तिक जलीय तत्व, कौस्तुभ तेजस् तत्व, वैडूर्य वायव्य तत्व एव पुष्पराग आकाशीय तत्व के प्रतीक है —अतएव वैजयन्ती विराट विष्णु की रूपोद्भावना का कैसा वैराज्य समुपस्थित करती है।

वक्ष-आभूषण—इन मे श्रीवत्स, चन्नवीर, भुजबन्ध (परिधान और अलकार दोनो ही) विशेपोल्लेखनीय हैं।

कटि-आभूषण—इन मे कटिबन्ध, मेखला तथा कान्चीदाम विशेष प्रसिद्ध है।

पाद-आभूषण—इन मे मञ्जीर ही विशेष उल्लेख्य है।

बाहु एव भुजा के आभूषण—इन मे कङ्कण, वलय, केयूर, अगद विशेष विख्यात है।

टि० 'श्रीवत्स' वैष्णव लाञ्छन है, जो विष्णु के वक्ष स्थल पर 'कुञ्चित रोमावलि' की सज्ञा है। वैष्णवी प्रतिमाओं मे वासुदेव—विष्णु एवं दशावतारों, मे प्रदर्श्य है।

शिरोभूषण—मानसार मे लगभग द्वादश १२ शिरोभूषण (अलकरण एव प्रसाधन दोनो ही) वर्णित है, जिनको हम निम्न तालिका मे देव पुरस्सर देख सकते हैं —

सज्ञा	देव	सज्ञा	देव
जटा मु०	ब्रह्मा, शिव	कशबन्ध	सरस्वती, सावित्री
मौलि म०	मनोन्मानिनी	धम्मिल्ल	अन्य देविया
किरीट मु०	विष्णु, वासुदेव, नारायण	चूड	अन्य देविया
		मुकुट	ब्रह्मा, विष्णु, शिव

करण्डक मु०	अन्य देव और देवियां	पट्ट	राजे-महाराजे, रानियां
शिरस्त्रक	यक्ष, नाग, विद्याधर	अ पत्र-पट्ट	,,
कुन्तल	लक्ष्मी, सरस्वती	ब रत्न-पट्ट	,,
	सावित्री	स पुष्प-पट्ट	,,

टि० १ काक पक्ष भी एक शिरोभूषण संकीर्तित है। यह बाल-कृष्ण का शिरोभूषण अथवा केश-बन्ध है—

'मस्तकपार्श्वद्वये केशरचनाविशेष ।

टि० २ मानसार की इस शिरोभूषण-मालिका की कुछ समीक्षा आवश्यक है। राव महाशय (श्री गोपीनाथ) तथा उनके अनुयायी डा० बैनर्जी ने मानसारीय मौलि-लक्षण से केवल आठ प्रकार के शिरोभूषणों का निर्देश माना है—जटामुकुट, किरीटमुकुट, करण्डमुकुट, शिरस्त्रक, कुन्तल, केशबन्ध, धम्मिल्ल तथा अलकचूड। शिव और ब्रह्मा के लिये विहित शिरोभूषण जटा-मुकुट से जटा और मुकुट (द्वन्द्व) नहीं ग्राह्य है जटा ही है मुकुट—ऐसा विशेष सगत है। मौलि या मकुट एक प्रकार से सामान्य सज्ञा है और अन्य प्रभेद Species है। इसी प्रकार धम्मिल्लालकचूड मे तीन के स्थान पर दो ही शिरोभूषण अभिप्रेत है—धम्मिल तथा अलकचूड (न कि अलक अलग और चूड अलग)।

राव महाशय ने मौलि अर्थात् शिरोभूषण के केवल तीन ही प्रधान भेद माने है—जटा-मुकुट, किरीट-मुकुट तथा करण्डक-मुकुट। शेष क्षुद्र आभूषण हैं। पट्ट के सम्बन्ध मे राव महाशय की धारणा सम्भवत निर्भ्रान्त नही है। पट्ट को राव केश-बन्ध का प्रभेद मानते हैं—वह ठीक नहीं। पट्ट एक प्रकार का साफा है, जो उष्णीष (शिरोभूषण) के रूप मे स्थापत्य मे प्रकल्पित है।

टि० ३ किरीट-मुकुट वैष्णव मूर्तियों के अतिरिक्त सूर्य तथा कुबेर के लिये भी विहित है। देखिए बृ० स०) गान्धार-कला-निदर्शनो मे शक्र अर्थात् इन्द्र का भी यह शिरोभूषण है।

शरीर-मुद्रा

१ हस्त-मुद्रा
२ पाद-मुद्रा
३ शरीर-मुद्रा—मुखावयवादि।

हस्त-मुद्रा

असयुत हस्त —

१.	पताक	६.	कपित्थ	१७	चतुर
२	त्रिपताक	१०.	खटक-मुख	१८	भ्रमर
३	कर्तरीमुख	११	सूची-मुख	१९	हंसवक्त्र
४	अर्ध-चन्द्र	१२	पद्मकोष	२०	हंसपक्ष
५	अराल	१३	सर्पशिर	२१	सन्दंश
६	शुक-तुण्ड	१४.	मृगशीर्ष	२२	मुकुल
७	मुष्ठि	१५	कांगूल	२३.	ऊर्णनाभ
८	शिखर	१६.	अलपद्म	२४	ताम्रचूड

संयुत हस्त .—

१	अंजलि	६	उत्संग	११	अवहित्थ
२	कपोत	७	दोल	१२	वर्धमान
३	कर्कट	८.	पुष्पपुट	१६	—
४	स्वस्तिक	९	मकर		
५	खटक	१०	गजदन्त		

नृत्य हस्त :—

१	चतुरश्र	८	उत्तानवञ्चित	१५	पक्ष-प्रद्योतक
२	विप्रकीर्ण	९	अर्धरेचित	१६	गरुड-पक्ष
३	पद्मकोष	१०	पल्लव	१७	दण्ड-पक्ष
४	अरालखटकामुख	११	केश-बन्ध	१८	ऊर्ध्व-मण्डल
५	आविद्धवक्रक	१२	लता हस्त	१९	पार्श्व मण्डल
६	सूचीमुख	१३	कटि-हस्त	२०	उरो-मण्डल
७	रेचितहस्त	१४	पक्ष-वञ्चितक	२१	उर पार्श्वार्ध-मण्डल

पाद-मुद्रा —

वैष्णव ध्रुव बेरो के योग, भोग, वीर एवं आभिचारिक वर्गीकरण की चतुर्विधा में स्थानक, आसन एवं शयन प्रभेद से द्वादश वर्ग का ऊपर उल्लेख हो ही चुका है। तदनुरूप स्थानक-आकृति Standing posture से सम्बन्धित पाद-मुद्राओ के समरागण की दिशा से निम्नलिखित ६ प्रभेद किये गये हैं।

१	वैष्णवम्	३	वैशाखम्	५	आलीढम्
२	समपादम्	४	मण्डलम्	६	प्रत्यालीढम्

शरीर-मुद्रा (चेष्टा) —

शरीर के स्थान-विशेष, उनके परावृत्तो और उनके व्यन्तरो के त्रिभेद से स० सू० मे इन चेष्टाओ का निम्न वर्गीकरण द्रष्टव्य है —

(अ) १ ऋज्वागत, २ अधर्ज्वागत, ३ साचीकृत, ४ अध्यर्धाक्ष ५ पार्श्वागत,

(ब) ६-६ चतुर्विध परावृत,

(स) २० विंशति अन्तर (या व्यन्तर)।

विष्णु-धर्मोत्तर के अनुसार निम्नलिखित नौ प्रधान शरीर-चेष्टाये हैं —

१ ऋज्वागत—आभिमुखीनम्—the front view

२ अनृजु—पराचीनम—back view

३ साचीकृत शरीर—यथानाम—A bent position in profile view

४ अर्धविलोचन—The face in profile, the body in three quarter profile view

५ पार्श्वागत—The side view profile

६ परावृत्त—With head and shoulder turned backwards

७ पृष्ठागत—Back view with upper part of the body partly visible in profile view

८ परिवृत्त—With the body sharply turned back from the waist upwards and lastly

६ समनत—the back view, in squating position with body bent

प्रतिमा-वर्ग

ब्राह्मण-प्रतिमाएं

त्रिमूर्ति एवं ब्राह्म-प्रतिमाएं

त्रिमूर्ति—ब्रह्मा-विष्णु-महेश
त्रिमूर्ति—हरि-हर-पितामह . प्र० पृ०
त्रिमूर्ति—चन्द्र-सूर्य-पितामह .. ,,
त्रिमूर्ति—हर-हरि-हिरण्यगर्भ प्र० पृ०
चतुर्मूर्ति—हर-हरि (विष्णु तथा सूर्य)-हिरण्यगर्भ
पंच-मूर्ति—ब्रह्मा, विष्णु, शिव, पार्वती, गणेश, दे० पंचायतन-पूजा परम्परा

द्विमूर्ति—	हरि-हर	उमा-महेश्वर
	हर-गौरी	अर्धनारीश्वर
	हर्यर्धमूर्ति	मार्तण्ड-भैरव
	कृष्ण-शङ्कर	नर-नारायण

ब्रह्मा—ब्राह्मी मूर्ति

उचित-सस्थाना	प्रतिनिर्मेया	
प्रतार्चि-प्रतिमा	रौद्रा	
प्रथम-यौवन स्थिता	दीना	दे० प्र० वि०, पृ० २४८
स्थूलाङ्गा	कृशा	
कमलासना	विरूपा	
हंस-वाहना		
स्मारक-निदर्शन		दे० प्र० वि०

विष्णु—सप्त उपवर्ग :—

१. साधारण
२ असाधारण
३ ध्रुव वेर
४. दशावतार
५ चतुर्विंशति मूर्तियां
६ अन्यावतार
७ आयुध-पुरुष

साधारण—चतुर्बाहु, शख, चक्र, गदा, पद्म, वनमाला, कौस्तुभ-आदि-लाछित

असाधारण

१	अनन्तशायी नारायण	५	विश्वरूप
२	नारायण वासुदेव (दैविक)	६	वैकुण्ठ
३	मानुप वासुदेव	७	अनन्त
४	त्रैलोक्य-मोहन	८	योगेश्वर तथा
		९	लक्ष्मी-नारायण

ध्रुव बेर—द्वादश मूर्तिया

१	योग-स्थानक	५	योगासन	९	योग-शयन
२	भोग-स्थानक	६	भोगासन	१०	भोग-शयन
३	वीर-स्थानक	७	वीरासन	११	वीर-शयन
४	आभिचारिक-स्थानक	८	आभिचारिकासन	१२	आभिचारिक-शयन

अवतार—

टि०—विष्णु के अवतार त्रिविध — पूर्णावतार, आवेशावतार तथा अंशावतार,

पूर्णावतार	राम तथा कृष्ण
आवेशावतार	परशु-राम
अंशावतार	शखचक्रादि-आयुध-पुरुष

दशावतार—

१	मत्स्य	३	वराह	५	वामन	७	राघव राम	९	बुद्ध तथा
२	कूर्म	४	नृसिंह	६	परशुराम	८	कृष्ण	१०	कलकी

चतुर्विंशति विष्णु मूर्तिया

१	केशव	२	नारायण	३	माधव	४	गोविन्द
५	विष्णु	६	मधुसूदन	७	त्रिविक्रम	८	वामन
९	श्रीधर	१०	हृषीकेश	११	पद्मनाभ	१२	दामोदर
१३	सकर्षण	१४	वासुदेव	१५	प्रद्युम्न	१६	अनिरुद्ध
१७	पुरुषोत्तम	१८	अधोक्षज	१९	नृसिंह	२०	अच्युत
२१	जनार्दन	२२	उपेन्द्र	२३	हरि	२४	श्रीकृष्ण

अंशावतार

१	पुष्प	५	धन्वन्तरि	९	आदिमूर्ति	१३	जगन्नाथ
२	कपिल	६	दत्तात्रेय	१०	धर्म	१४	नर-नारायण
३	यज्ञ-मूर्ति	७	हरिहर-पितामह	११	वेंकटेश	१५	वरदराज
४	व्यास	८	हय-ग्रीव	१२	विठोबा	१६	रंगनाथ तथा
						१७	मन्मथ

आयुध-पुरुष—

सुदर्शन चक्र	त्रिशूल
चक्र	शंख
गदा	बाण
दण्ड	धनुष
ध्वज	शक्ति
पाश	खड्ग

टि०—			
	गदा	प्रतीक	बुद्धि
	शंख	प्रतीक	अहंकार
	चक्र	प्रतीक	मन (परिवर्तन)
	बाण	प्रतीक	कर्म-ज्ञान-इन्द्रिय
	असि	प्रतीक	विद्या
	असि-आवरण	प्रतीक	अ-विद्या

शिव—१　लिंग-प्रतिमा
　　　२　रूप-प्रतिमा

लिंग-प्रतिमा—लिंग-भेद

शैव-सम्प्रदायानुरूप		लिङ्गोत्सेधानुरूप		प्रयोजनानुरूप	
२	पाशुपत	१	जाति	१	आत्मार्थ
३	कालमुख	२	छन्द	२	परार्थ
४	महाव्रत	३	विकल्प		
५	वाम	४	आभास		
६	भैरव				

वर्णानुरूप	वास्तुशैल्यनुरूप	प्रतिष्ठानुरूप
१ समकर्ण—ब्रा०	१ नागर	१ एकलिंग
२ वर्धमान—क्ष०	२ द्राविड	२ बहुलिंग
३ शिवार्क—वै०	३ वेसर	**द्रव्यानुरूप**
४ स्वस्तिक—शू०		वज्र-सुवर्णादि-नाना-द्रव्यमय

प्रकृत्यनुरूप	कालानुरूप
१ दैविक	१ क्षणिक
२ मानुष	२ सर्वकालिक
३ बाणप	
४ आर्ष	

लिंग-भाग

ब्रह्म-भाग	मूल-भाग	चतुरश्र
विष्णु-भाग	मध्य	अष्टाश्र
शिव-भाग	ऊर्ध्व	(वर्तुल)

लिंग-पीठ—पाच भाग —

१ प्रणाल (योनि-द्वार)	३ घृतवारि
२ जल-धारा	४-५ निम्न तथा पट्टिका

चल-लिंग— द्रव्यानुरूप—षड्विध

मृण्मय, लोहज, रत्नज, दारुज, शैलज तथा क्षणिक (पार्थिव-लिंग)

अचल-लिंग

१ स्वायम्भुव	४ गाणपत्य	७ आर्ष
२ पूर्व (पुराण)	५ असुर	८ राक्षस
३ दैवत	६ सुर	९ मानुष

मानुष-लिंग

१ अष्टोत्तरशत-लिंग	५ सार्वदेशिक
२ सहस्र-लिंग	६ सर्वसम
३ धारा-लिंग	७ वर्धमान
४ मुख-लिंग	८ शैवाधिक

रूप-प्रतिमा	शिव रूप	त्रिविधा
शान्ता	अशान्ता (उग्रा)	नानाविधा
शांत शिव	उग्र शिव	रूप-विशेष
१. साधारण-असाधारण	१ संहार	१. विश्वेश्वर
२ शान्त-सौम्य	२ भैरव	२ मूर्त्यष्टक
३ अनुग्रह	३ कंकाल तथा भिक्षाटन	३ पंचमूर्ति
४ दक्षिणा	४ अघोर	४ महादेव
५ नृत्त	५ रूद्र	५ शिवगण
		६. शिव-भक्त

टि०—शिल्प-रत्न मे लिंगोद्भव निम्न अष्टादश रूप-प्रतिमाओं का उल्लेख है —

सुखासन	त्रिपुरारि	भिक्षाटन
स्कंदोमासहित	कल्याण-सुन्दर	अर्ध-नारीश्वर (२)
चन्द्रशेखर	अर्ध-नारीश्वर	चण्डेशानुग्रह
वृष-वाहन	गजहा	दक्षिणा-मूर्ति
नृत्त-मूर्ति	पाशुपत	कालारि
गंगाधर	कंकाल	

शान्ता-प्रतिमा

साधारणी —चन्द्रशेखर आदि

असाधारणी—

१ महासदाशिव   ३ द्वादश-कला-सम्पूर्ण सदाशिव (अ० पृ०)

२ सदाशिव   ४ पाशुपत-रूद्र-पाशुपत

बंगाल के सेनवंशी राजा, सदाशिव के समुपासक थे, अत ये प्रतिमायें वही प्राप्य हैं। महासदाशिव दक्षिण भारत (तंजौर) के वैंट्टिश्वरकोयिल मन्दिर मे यह अभूतपूर्व चित्रण है। यह दार्शनिक मूर्ति है। पाशु-पत मूर्तियों के नाना निदर्शन तो सभी जानते हैं। विशेष विवरण मेरे ग्रन्थो मे देखिये।

सौम्य-शांत—

अर्धनारीश्वर	वृषवाहन
गंगाधर	विषापहरण
कल्याण-सुंदर	चन्द्रशेखर

टि०—इनके निदर्शन प्राय सर्वत्र प्रासाद-पीठो पर प्राप्त हैं।

अनुग्रहमूर्तियां—विशेष विवरणो के लिये देखें—वास्तु-शास्त्र—द्वितीय भाग तथा प्रतिमा-विज्ञान

१. विष्ण्वनुग्रह	४ रावणानुग्रह
२ नन्दीशानुग्रह	५ विघ्नेशानुग्रह
३ अर्जु नानुग्रह (किरा ताजु न-मूर्ति)	६ चण्डेशानुग्रह

टि०— ये सब पुराणेतिहास-वृत्तो पर आधारित हैं—ये विवरण यथा-प्राक सूचित मेरे ग्रन्थो में देखिये। पुन इनके स्थापत्य-निदर्शन भी तत्रैव पठनीय हैं।

दक्षिणामूर्तियां—

१ व्याख्यान-दक्षिणा

२ ज्ञान-दक्षिणा-मूर्ति

३ योग-दक्षिणा-मूर्ति

४ वीणाधर-दक्षिणा-मूर्ति

टि०— व्याख्यान और ज्ञान स्वयं शास्त्रोपदेश है। इसी मूर्ति मे प्राय दक्षिणा-मूर्तियो की शिव-मन्दिरो मे चित्रणा देखी जाती है। इस मूर्ति के लाञ्छनो मे हिमाद्रि का वातावरण, वट-वृक्ष-तल, शार्दू ल-चम, अक्षमाला, वीरासन आदि के साथ जिज्ञासु ऋषियो का चित्रण भी अभीष्ट है। देवगढ और तिरूवोर्रीयूर, आबू, तन्जौर, सुचीन्द्रम, कावेरी-पककम् आदि स्थानो की ज्ञान-दक्षिणा-मूर्तिया दर्शनीया हैं। कन्जीवरम् की योग-दक्षिणा-मूर्तिया तथा वडरङ्गम और मद्रास-सग्रहालय की वीणाधर-मूर्तिया भी अवलोक्य हैं।

नृत्त-मूर्तिया—

भगवान् शिव नटराज के नाम से पुकारे जाते है। इनसे वढकर कौन नर्तक हुआ? जिस प्रकार ब्रह्म की कल्पना नाद मे, वास्तु मे, शब्द मे की गयी है, उसी प्रकार ताण्डव-नृत्य सम्पूर्ण ब्रह्म-व्यापक विश्व की सृष्टि, स्थिति एव प्रलय—इन तीनो अवस्थाओ का प्रतीक है। डा० कुमारस्वामी ने इसकी बडो सुन्दर व्याख्या की है।

वैसे तो नृत्य-मुद्राओ की सख्या १०८ है, परन्तु इनका चित्र

दुष्कर है। भरत के नाट्य-शास्त्र मे १०८ नृत्य-विधा हैं, परन्तु शिव-प्रतिमा विज्ञान (Siva's Iconography) पर जितने भी आगमो, पुराणों तथा शिल्प-ग्रन्थो मे विवरण है, उनमे इन नृत्यों का बड़ा ही स्वल्प वर्णन है। आगमों मे केवल नौ शिव-नृत्य-प्रतिमायें वर्णित हैं। स्थापत्य नो शास्त्र मे बाजी मार ले गया। चिदम्बरम् के गोपुर को देखिए जहा नट-राज शिव को एक सौ आठ नृत्यो मे नचा दिया है। यह सब महादेव की ही कृपा थी। अस्तु, इन पर वि्ेष विवरण न करके इतना ही सूच्य है कि इन नृत्य-मूर्तियो की तालिका बर्ड्‌ ्वल्प हैं —

नटराज—शिव—

१	कटिसम	३	ललाट-तिलक
२	ललित नृत्य	४	चतुर-[illegible]

अब आइयें अशान्त प्रतिमा की ओर—

अशान्त (उग्र

सहार-मूर्तिया

१	कामान्तक	६	[illegible]दक
२	गजासुर-सहार		
३	कालारि		भद्र
४	त्रिपुरान्तक	९	जलन्धर-हर
५	शरभेश	१०	अन्धकासुर
		११	अघोर

इनके विवरण यथ निदिष्ट मेरे ग्रन्थो मे देखे। भैरव के सम्बन्ध मे तालिकानुरूप कुछ विशेष विहित है —

भैरव/त्रिविध

अ बटुक

ब स्वर्णाकिपण

स चतुष्पष्टिक

चतुष्पष्टिक भैरव—प्रधान आठ के आठ प्रभेदो से ६४ हुए। इनमे आठ है

असिताग	उन्मत्त
रुरु	कपाल
चण्ड	भीषण
	सहार

टि०—इनके आठ भेदों की अवतारणा विशेष विवरणीय नहीं।

कङ्काल एवं भिक्षाटन मूर्तियाँ —

टि०— विशेष विवरण अपेक्षय नहीं

अघोर

अ—सामान्य ब—दशभुज

एकादश रुद्र

मा०	वि० ध०	रू० म०	अपरा० पृ०
महादेव	अज	तत्पुरुष	सद्योजात
शिव	एकपाद	अघोर	वामदेव
शङ्कर	अहिर्बुध्न्य	ईशान	अघोर
नीललोहित	विरूपाक्ष	वामदेव	तत्पुरुष
ईशान	रेवत	मृत्युञ्जय	ईशान
विजय	हर	किरणाक्ष	मृत्युञ्जय
भीम	बहुरूप	श्रीकण्ठ	विजय
देव-देव	त्र्यम्बक	अहिर्बुध्न्य	किरणाक्ष
भवोद्भव	सुरेश्वर	विरूपाक्ष	अघोरास्त्र
रुद्र	जयन्त	बहुरूप	श्रीकण्ठ
कपालीश	अपराजित	त्र्यम्बक	महादेव

टि०—रूप-मण्डन एवं अपराजित-पृच्छा की तालिका सर्वाधिक सम है।

गाणपत्य-प्रतिमायें

गणेश—गाणपत्य-सम्प्रदाय के निम्न उप-सम्प्रदाय प्रादुर्भूत हो गये —

१ महा-गणपति
२ हरिद्रा गणपति
३ स्वर्ण-गणपति
४ सन्तान गणपति
५ नवनीत गणपति
६ उन्मत्त उच्छिष्ट-गणपति

गणेश की प्रतिमानुरूप निम्न दो तालिकायें दी जाती हैं —

दश विध

१ विघ्नराज
२ लक्ष्मी-गणपति
३ शक्ति गणेश
४ शक्ति-प्रमादन
५ वक्र-तुण्ड
६ हेरम्ब
७ पीन-गणेश
८ महागणपति
९ विरञ्चि
[illegible]

षोडश-विध

१ बाल-गणपति
२ तरुण-गणपति
३ भक्ति-विघ्नेश्वर
४ वीर-विघ्नेश्वर
५ शक्ति गणेश
  अ लक्ष्मी-गणपति
  ब—उच्छिष्ट-गणपति
  स-महागणपति
  य-ऊर्ध्व गणपति
  र-पिङ्गल-गणपति
६ हेरम्ब (पञ्चगजानन
७ प्रसन्न-गणपति
८ ध्वज-गणपति
९ उन्मत्त-उच्छिष्ट-गणपति
१० विघ्नराज-गणपति
११ भुवनेश-गणपति
१२ नृत्त गणपति
१३ हरिद्रा-गणपति (रात्रि-गणपति)
१४ भालचन्द्र
१५ शूर्पकर्ण
१६ एकदन्त

कार्तिकेय—दश-रूप

१ कार्तिकेय
२ षण्मुख-षडानन
३ शरवणभव (शरजन्मा)
४ सेनानी
५ तारकजित
६ क्रौञ्च-भेत्ता
७ गङ्गापुत्र
८ गुह
९ अनलभू
१० स्कन्द तथा स्वामिनाथ

प्रतिमा-रूप—दे० कुमार-तन्त्र —

१ शक्ति-धर
२ स्कन्द
३ सेनापति
४ सुब्रह्मण्य
५ गजवाहन
६ शारवणभव
७ कार्तिकेय
८ कुमार
९ षण्मुख
१० तारकारि
११ सेनानी
१२ ब्रह्म-शास्ता
१३ वल्लि-कल्याण सुन्दर-मूर्ति
१४ बाल-स्वामी
१५ क्रौञ्च-भेत्ता
१६ शिखिवाहन

सौर–प्रतिमायें

अ-द्वादशादित्य

१	धाता	७	भग
२	मित्र	८	विवस्वान
३	अर्यमा	९	पूषन्
४	रुद्र	१०	सविता
५	वरुण	११	त्वष्टा
६	सूर्य	१२	विष्णु

ब नव ग्रह

१	सूर्य	५	गुरु
२	सोम	६	शुक्र
३	भौम	७	शनि
४	बुध	८	राहु
		९	केतु

स-अष्ट दिग्पाल

१	इन्द्र	५	वरुण
२	अग्नि	६	वायु
३	यम	७	कुबेर
४	निर्ऋति	८	ईशान

शाक्त–प्रतिमायें–देवियाँ

महासरस्वती	महालक्ष्मी	महाकाली
महासरस्वती	सरस्वती	
महालक्ष्मी	लक्ष्मी	अष्टमंगला
	गजलक्ष्मी	सिंहवाहिनी द्विभुजा
महाकाली	भद्र-काली	

दुर्गा

नवदुर्गा

आगमिकी	पौराणिकी	अपराजिनी
नीलकण्ठी	रुद्र-चण्डा	मङ्गलदेवी
क्षेमङ्करी	प्रचण्डा	नन्दा

हरसिद्धी	चण्डोग्रा	क्षेमकरी
रुद्राश दुर्गा	चण्ड-नायिका	शिवदूती
वन-दुर्गा	चण्डा	महारण्डा
अग्नि-दुर्गा	चण्डवती	भ्रमरी
जय-दुर्गा	चण्डरूपा	सर्व-मङ्गला
विन्ध्यवासिनी-दुर्गा	अतिचण्डा	रेवती
रिपुमर्दिनी-दुर्गा	उग्र-चण्डा	हरिसिद्धी

गौरी—द्वादश-मूर्तियां

१	उमा	५	श्री-श्रियासमा	९	सावित्री
२	पार्वती	६	कृष्णा	१०	त्रिपण्डा
३	गौरी	७	हेमवती	११	तोतला
४	ललिता	८	रम्भा	१२	त्रिपुरा

अन्य देवियाँ

महिष-मर्दिनी	—	रति
कात्यायनी	ज्येष्ठा	श्वेता
भद्रकाली	काली	जया-विजया
महाकाली	कलविकर्णिका	काली
अम्बा	बलविकरिणी	घण्ट-कर्णी
अम्बिका	बलप्रमथिनी	जयन्ती
मंगला	सर्वभूत-दमनी	दिति
सर्व-मंगला	मनोन्मनी	अरुन्धती
काल-रात्रि	कर्णि-चामुण्डा	अपराजिता
ललिता	रक्त-चामुण्डा	सुरभि
गौरी	शिव-दूती	कृष्णा
उमा	योगेश्वरी	इन्द्रा
पार्वती	भैरवी	अन्नपूर्णा
रम्भा	त्रिपुर भैरवी	तुलसादेवी
तोतला	शिवा	अश्वरूढादेवी

त्रिपुरा	सिद्धी	भुवनेश्वरी
भूतमाता	ऋद्धी	बाला
योगनिद्रा	क्षमा	राजमातंगी
वामा	दीप्ति	

सप्तमातृका —

मातृका	देव	दुर्गुण—अन्त शत्रु
१ योगेश्वरी	शिव	काम
२ माहेश्वरी	महेश्वर	क्रोध
३ वैष्णवी	विष्णु	लोभ
४ ब्रह्माणी	ब्रह्मा	मद
५ कौमारी	कुमार	मोह
६ इन्द्राणी	इन्द्र	मात्सर्य
७ यमी (चामुण्डा)	यम	पैशुन्य
८ वाराही	वराह	असूया

यक्ष विद्याधर-वसु-मुनि-पितृ-गणादि-प्रतिमायें

वसु—अष्ट विध

१ धर	२ ध्रुव	३ सोम	४ आप
५ अनिल	६ अनल	७ प्रत्यूष	८ प्रभास

नाग

वासुकि	कर्कोटक	शंखपाल
तक्षक	पद्म	कुलिक
	महापद्म	—

साध्य—द्वादश

१ मन	५ अपान	९ दक्ष
२ मन्त	६ वीर्यवान	१० नारायण
३ प्राण	७ विनिभय	११ वृष
४ नर	८ नय	१२ प्रभि

असुर-दानव-दैत्य-पिशाच-भूत

टि० १—राव ने इन्हें क्षुद्र-देव प्रतिपादित किया है, वह ठीक नहीं। इन को क्षुद्र देव कहना उचित नहीं, वे तो सनातन से सुर-द्रोही हैं।

ऐतिहासिक एवं पौराणिक नाना उपाख्यान इस तथ्य के साथ है। इनमें जहां तक अप्सराओं, गन्धर्वों तथा यक्षों एवं किन्नरों की कथा है, उससे प्रकट है कि कोई भी भारतीय वास्तु कृति बिना इनके चित्रण अद्रष्टव्य है। वास्तु-शास्त्रों में इनके चित्रण पर विपुल संकेत हैं।

टि० २—समरांगण में यद्यपि इनके लक्षण पूर्ण नहीं हैं, तथापि इनकी आपेक्षिक आकृति-रचना पर इसका संकेत बड़ा महत्त्वपूर्ण है। आकार की घटती के अनुरूप दैत्यों का आकार दानवों से छोटा, उनसे छोटा यक्षों का, फिर गन्धर्वों का, पुनः पन्नगों का और सबसे छोटा राक्षसों का। विद्याधार यक्षों से छोटे चित्र्य है। भत-सघ पिशाचों से सब प्रकार प्रवरतर मोटे भी ज्यादा और क्रूर भी अधिक प्रदर्श्य है।

इनकी प्रतिमा-प्रकल्पना में वेश-भूषा पर समरांगणीय लक्षण यह है कि भूत और पिशाच रोहित-वर्ण विकृत-वदन, रक्त-लोचन, बहुरूपी निर्देश्य है। केशों में नागों का प्रदर्शन उचित है। आभरण और अम्बर एक दूसरे से बेमेल (विरागाभरणाम्बरा) है। आकार वामन, नाना आयुधों से सम्पन्न। शरीर पर यज्ञोपवीत और चित्र विचित्र वाटिकाये भी प्रदश्य है।

यक्ष-विद्याधर-किन्नर-गन्धर्व-अप्सरायें

टि० ये क्षुद्र-देव संज्ञा से सज्ञापित किये जा सकते है। ये ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन तीनों प्रतिमा-स्थापत्य में पृथुल, विशाल एवं प्रशस्त चित्रण में पाये जाते है। इनका कैसा आकार, कैसा परिधान, क्या जीवन, क्या परिचर्या—यह सब हमारे ग्रन्थों में विवरण-सहित पढ़े।

ऋषि-गण

टि०—मानसार (दे० ५७-५९वां अ०) में मुनि-लक्षण और भवन-लक्षण भी दिये गये हैं। समरांगण में धन्वन्तरि और भरद्वाज का संकेत है। अन्य स्थापत्य में भी अगस्त्यादि ऋषियों की प्रतिमायें प्राप्त होती हैं। ऋषियों में व्यासादि महर्षि, कण्वादि देवर्षि, वशिष्ठादि ब्रह्मर्षि, सुश्रुतादि श्रुतर्षि, ऋतुपर्णादि राजर्षि और जैमि यादि काण्डर्षि सात ऋषिवर्ग है।

आगमों (दे० अशु० तथा सुप्र०) में सप्तऋषियों की नामावली कुछ भिन्न है। मनु आत्रेय, वशिष्ठ, गौतम, अंगिरस, विश्वामित्र और भरद्वाज—अशु० के सप्तऋषि हैं। भृगु, वशिष्ठ, पुलस्त्य, क्रतु, काश्यप, कौशिक और अगस्त्य—सुप्र० के ऋषि है। पूर्वका० में अगस्त्य, पुलस्त्य, विश्वामित्र पराशर, जमदग्नि वाल्मीकि और सनत्कुमार का संकीर्तन है।

सप्त-ऋषि-वर्ग

महर्षि	व्यासादि	ब्रह्मर्षि	वशिष्ठादि
परमर्षि	भेलादि	श्रुतर्षि	सुश्रुतादि
देवर्षि	कण्वादि	राजर्षि	ऋतुपर्णादि
		काण्डर्षि	जमिन्यादि

टि०—अभी तक हम भारतीय प्रतिमाओं के इन ब्राह्मण-प्रतिमाओं के ब्राह्म, वैष्णव, शैव, शाक्त आदि प्रतिमा वर्गों पर पदानुरूप प्रकाश डाल ही चुके है । प्रतिमा-शास्त्र (प्रतिमा-विज्ञान) बडा ही कठिन, पृथुल तथा व्यापक विषय है। यदि कोई भी अनुसंधानाभिलाषी छात्र अथवा विद्वान् एक प्रतिमा-स्वरूप को भी ले ले तो उस पर बहुत नवीन उद्भावनाओ, अध्ययनो एव स्थपत्यानुपगो से अलग अलग प्रबन्ध तैयार हो सकते है । उदाहरण के लिए यक्ष-विद्याधर किन्नर इसी विषय पर बडा अनुसन्धान अपेक्षित है । प्रथित-कीर्ति विद्वानो-जैसे डा० जितेद्र नाथ बैनर्जी, डा० स्टेला क्रैम्रिश, डा० मोती चन्द्र—जिन्होने प्रतिमा, प्रासाद एव चित्र पर ग्रन्थ लिखे हैं, उनकी बहुत सी त्रुटियो पर मैंने प्रकाश डाला और समाधान भी किया, उसे देखकर उन्होने गद्गद हृदय से स्वीकार किया। लीजिए मुद्राओ को। इन पर अलग अलग मुद्राओ (हस्त, पाद,शरीर) पर प्रबन्ध लिखे जा सकते है । अत भारत का विशाल शिक्षित समाज प्राचीन भारतीय वाङ्मय के प्रति बिल्कुल उदासीन है, तो उनके साधारण एव स्वल्प ज्ञान के लिए मैंने यह सरल पदावली प्रस्तुत की हैं। अन्यथा यह वास्तु-कोष लगभग दश वृहद ग्रन्थो मे परिणत किया जा सकता है और ऐसे महान् काम के लिए जब मैंने भारत सरकार के हिन्दी-विभाग को लिखा (विशेषकर पारिभाषिक और तकनीकी विभाग) तो उनका जवाब आता हैं कि हमारे पास कोई योजना नही है तो मुझे बडा आश्चर्य हुआ। इसका एकमात्र यही कारण हो सकता है कि हमारे राष्ट्र-निर्माता अपनी राष्ट्रीय थाती का भी मूल्यांकन नही करते।

अब आइये बौद्ध एव जैन प्रतिमा-वर्ग पर । समराङ्गण-सूत्रधार मे बौद्ध एव जैन प्रतिमाओ का कोई लक्षण नही मिलता है। यद्यपि यह अध्ययन विशेष कर इसी ग्रन्थ से सम्बन्धित है तथापि इन दोनो वर्गों पर थोडा सा सकेत आवश्यक है।

(ब) बौद्ध प्रतिमायें

टि०—बौद्ध प्रतिमाओं का विलास तान्त्रिक महायान में प्रारम्भ हुआ क्योंकि प्राचीन हीन-यान प्रतिमा-पूजा से सवथा विमुख था। हां, भगवान् बुद्ध के महा-निर्वाण के उपरान्त उस समय भी बुद्ध-चिन्हों एवं बुद्ध-स्मारकों की उपासना एवं पूजा प्रारम्भ हो चुकी थी। बौद्ध-दर्शन में भी जो शून्य-वाद था वह भी शिष्टों को सतुष्ट नहीं कर सका। अत आगे चलकर ८वीं शताब्दी में बौद्ध दार्शनिकों में घनघोर तर्क प्रादुर्भूत हो गए। पहले तो शून्य और विज्ञान पर संघर्ष था, पुन: परिणाम यह निकला कि महासुख-वाद का सिद्धान्त विकसित हो गया और उसकी पृष्ठ-भूमि तान्त्रिक प्रभाव था। अत इस तान्त्रिक अर्थात् शाक्त पृष्ठ-भूमि पर इस महासुख वाद के सिद्धान्त पर वज्र-यान नामक सम्प्रदाय पल्लवित हो गया। आप नेपाल जाइए, तिब्बत या जापान घूमिए चीन की ओर मुड़िए सर्वत्र इन्हीं शाक्त प्रतिमाओं का बोल बाला है। अद्वय-वज्र-नामक बौद्ध दार्शनिक, जो ११वीं शताब्दी में उत्पन्न हुए थे, इन्होंने इस वज्रयान को विज्ञान-वाद और शून्य-वाद से भी आगे बढ़ा दिया। उनके अद्वय-वज्र-सग्रह का निम्न प्रवचन पढ़ें वही पर्याप्त है —

दृढ सारमसौशीर्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणम्।
अदाही अविनाशी च शून्यता वज्रमुच्यते॥

अन्त में यह भी निर्देश करना है कि कोई भी मध्य-कालीन बौद्ध-प्रतिमा बिना शक्ति के नहीं परिकल्पित हुई। तिब्बती भाषा में इसे याब यूम कहते है, अत हम बौद्ध प्रतिमाओं को दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं —

१ ऐतिहासिक बुद्ध—बोधि-सत्व आदि।

२ वज्रयान-तान्त्रिक—बुद्ध—ध्यानी-बुद्ध, बुद्ध-शक्तियां आदि आदि।

जहा तक ऐतिहासिक बुद्ध की बात है, हम भगवान् बुद्ध के रूप को दशावतारों में सम्मिलित कर चुके हैं। यहां पर केवल वज्रयान बौद्ध प्रतिमाओं से सम्बन्ध है जिनकी पदावली निम्न तालिकाओं में प्रस्तुत की जाती है।

प्रथम हम इन बौद्ध-प्रतिमाओं की द्वादश विधा उपस्थित करते हैं। :—

वज्रयानी प्रतिमायें—१२

१ दिव्य-बुद्ध, बुद्ध-शक्तियां और बोधिसत्व,

२. मञ्जुश्री

३ बोधिसत्व अवलोकितेश्वर,

४ अमिताभ से आविर्मूत देव,
५ अक्षोभ्य से आविभू त देव
६ अक्षोम्य—आविर्भूत देविया
७. वैरोचन से आविर्भू त देव
८ अमोघसिद्धि से आविर्भू त देव
९ रत्न-सम्भव से आविभू त देव
१० पच ध्यानी बुद्धो से आविर्भू त देव
११ चुतुर्ध्यानी बुद्धो से आविर्भू त देव
१२ अन्य स्वतत्र देव एव देविया

ध्यानी बुद्ध	बुद्ध-शक्तिया	बोधिसत्व
वैरोचन	वज्रधात्वीश्वरी	सामान्तभद्र
अक्षोम्य	लोचना	वज्रपाणि
रत्नसम्भव	मामकी	रत्नपाणि
अमोघसिद्धि	आर्यतारा	विश्वपाणि
वज्रसत्व	वज्रसन्वात्मिक	घण्टापाणि

	मानुष बुद्ध	मानुष-बुद्ध-शक्तिया	एव मानुष-बोधिसत्व
१	विपश्यिन्	विपश्यन्ती	महामति
२	शिखी	शिखिमालिनी	रत्नधर
३	विश्वभू	विश्वधरा	आकाशगञ्ज
४	ककुच्छन्द	ककुद्वती	शकमगल
५	कनकमुनि	कण्ठमालिनी	कनकराज
६,	कश्यप	महीधरा	धर्मधर
७	शाक्यसिंह	यशोधरा	आनन्द

बोधिसत्व मञ्जुश्री के चतुर्दश रूप

१	वाक्	६	नामसगीति	११	अरपचन
२	धर्मधातु	७	वागीश्वर	१२	स्थिरचक्र
३,	मजुघोष	८	मजुवर	१३	वादिराट्
४	सिद्धैकवीर	९	मजुवद्ध	१४	मजनाथ
५.	वज्रानग	१०	मञ्जुकुमार		

बोधिसत्व अवलोकितेश्वर के पंच-दश-रूप—

१	षडक्षरी-लोकेश्वर	६	पद्मनर्तेश्वर	११	नीलकण्ठ
२	सिंहनाद	७	हरिहर-वाहनोदभव	१२	सुगति-सन्दर्शन
३	खसपर्ण	८	त्रैलोक्यवशंकर	१३	प्रेत-सर्तपित
४	लोकनाथ	९	रक्तलोकेश्वर	१४	सुखावतीलोकेश्वर
५	हालाहल	१०	मायाजालाक्रम	१५	वज्रधर्मलोकेश्वर

अन्य विवरण यथा द्वादश-वर्गीय देव एवं देवियां 'प्रतिमा-विज्ञान' तथा वास्तु-शास्त्र, द्वितीय भाग मे द्रष्टव्य हैं। विशेष उल्लेख्य यह है कि अवलोकितेश्वर की प्रतिमायें विपुल हैं।

जैन-प्रतिमायें—जैन प्रतिमाओं का आविर्भाव जैनों के तीर्थंकरो से प्रारम्भ हुआ। सर्व-प्रथम प्रतीक, पुनः प्रतिमायें। अब आइये तीर्थङ्कर-प्रतिमा की ओर।

तीर्थङ्कर—इनके सम्बन्ध मे निम्न प्रवचन अवतार्य है—

आजानुलम्बबाहुः श्रीवत्साङ्कः प्रशान्तमूर्तिश्च ।
दिग्वासास्तरूणो रूपवाश्च कार्योऽर्हता देव ॥

२४ तीर्थङ्कर	२४ यक्ष	२४ यक्षणियां
आदिनाथ	वृषवक्त्र	चक्रेश्वरी
अजितनाथ	महायक्ष	अजितबला
सम्भवनाथ	त्रिमुख	दुरितारि
अभिनन्दननाथ	चतुरानन	काली
सुमतिनाथ	तुम्बुरु	महाकाली
पद्मप्रभ	कुसुम	अच्युता (श्यामा)
सुपार्श्वनाथ	मातङ्ग	शान्ता
चन्द्रनाथ	विजय	ज्वाला (भृकुटि)
सुविधिनाथ	जय	सुतारा
शीतलनाथ	ब्रह्मा	अशोका
श्रेयासनाथ	यक्षेश	मानवी (श्रीवत्सा)
वसुपूज्य	कुमार	प्रचण्डा (प्रवरा)

बिमलनाथ	षण्मुख	विदिता (विजया)
अनन्तनाथ	पाताल	अकुंशा
धर्मनाथ	किन्नर	कन्दर्पा (पन्नगा)
शान्तिनाथ	गरूड	निर्वाणी
कुन्थनाथ	गन्धर्व	बला
अरनाथ	यक्षेश	धारिणी
मल्लिनाथ	कुबेर	वैरोटया
मुनिसुव्रत	वरूण	नरदत्ता
नमिनाथ	भृकुटी	गान्धारी
नेमिनाथ	गोमेध	अम्बिका
पार्श्वनाथ	पाश्व	पद्मावती
महावीर (वर्धमान)	मातङ्ग	सिद्धायिका

१० दिग्पाल—

१	इन्द्र	६	वायु
२	अग्नि	७	कुबेर
३	यम	८	ईशान
४	निर्ऋति	९	नागदेव
५	वरूण	१०	ब्रह्मदेव

९ ग्रह—नव-ग्रह सर्वविदित हैं—

१	सूर्य	६	शुक्र
२	चन्द्र	७	शनैश्चर
३	मगल	८	राहु
४,	बुध	९	केतु
५.	बृहस्पति		

क्षेत्रपाल—एक प्रकार से यह जैनों का भैरव है।

श्रुत-देवियाँ—

१	रोहिणी	६	पुरुषदता	११	महाज्वाला
२	प्रज्ञप्ति	७	कालीदेवी	१२	मानवी
३	वज्रशृंखला	८	महाकाली	१३	वैरोट्या
४	वज्राकुशी	९	गौरी	१४	अच्युता
५	अप्रतिचक्रा	१०.	गान्धारी	१५	मानसी
				१६	महामानसी

६४ योगिनियाँ—ये योगिनिया ब्राह्मणो से विलक्षण हैं।

प्रासाद-काण्ड

१—प्रासाद का अर्थ एव जन्म तथा विकास—उत्पत्ति एव प्रसृति ,

२—प्रासादाङ्ग

३—प्रासाद-जातिया ,

४—प्रासाद-वर्ग

५—प्रसाद-शैलिया ,

६—प्रासाद भूषा ,

७—प्रासाद मण्डप ,

८—प्रासाद जगती ,

९ प्रासाद-प्रतिमा-लिङ्ग ।

वास्तु-शिल्प-पदावली

(प्रासाद-खण्ड)

१—प्रसाद-काण्ड—नागर-शिल्प ,

२ —विमान-काण्ड-द्राविड शिल्प ,

३—पुरतत्त्वीय-काण्ड स्मारक-निदर्शन ।

प्रासाद का अर्थ '—प्रासाद शब्द नैरुक्तिक—प्रकर्षेण सादनम् है। अतः यह शब्द 'सादन' वैदिक चिति (चैत्य) से अनुगम रखता है। इसीलिए यह प्रासाद अर्थात् देव-भवन वैदिक वेदी की आधार-शिला पर अपना उद्भव प्राप्त कर सका। इसी लिए इस का संज्ञा प्रासाद बनी।

वास्तु शिल्प-शास्त्रीय ग्रन्थों के साथ साथ महाभारत, रामायण तथा पुराणों आदि में जो देव-भवनों के लिए पद प्रयुक्त हुए हैं, वे भी प्रासाद के जन्म, विकास पर भी प्रकाश डालते हैं। प्रा० नि० में तालिका तथा समरांगण प्रवचन इस तथ्य के समर्थक हैं।

एक युग था जब लोग जैसे पक्षी वृक्षों के नीडों में आश्रय लेते थे, उसी प्रकार प्राचीन मानव वृक्षों के नीचे और गुफाओं में रहते थे। इसी लिए नीड और निलय इन शब्दों का प्रयोग किया गया है। हमने अपने अंग्रेजी ग्रन्थ (देखिए वास्तु-शास्त्र प्रथम भाग हिन्दू साइन्स आफ आरकीटेक्चर) में लिखा है कि ये पद यथा 'नीड' 'निलय' सौध' मन्दिर' विमान' सूचित करते हैं कि भवनों का विकास छोटी सी कुटियों से प्रारम्भ होकर गगन-चुम्बी प्रासादों एवं विमानों में प्रत्यवसित हुआ।

यहाँ पर भी सूच्य है कि प्रासाद के जन्म और विकास (Origin and Development) में जो आधुनिक विद्वानों ने मत दिये हैं बड़े ही भ्रान्त हैं। कोई हिन्दू प्रासाद के जन्म में स्तूप Theory लेता है कोई छत्र Umbrella Theory लेता है, कोई Mound Theory लेता है, परन्तु हम ने इसे Organic Theory माना है और इस सम्बन्ध में जो प्रामाण्य है उस को हम ने अपने प्रासाद-खण्ड के अध्ययन में प्रस्तुत किया है वही द्रष्टव्य है।

प्रासाद की उत्पत्ति एवं प्रकृति —

इस स्तम्भ में उत्पत्ति से अर्थ प्रासाद स्थापत्य से है। प्रश्न यह है कि प्रासाद-स्थापत्य की दो प्रमुख शैलियां हैं—एक उत्तरापथीय (नागर), दूसरी दक्षिणापथीय (द्राविड)। द्राविड शिल्प ग्रन्थों में देव-भवन के लिए विशेषकर विमान शब्द का प्रयोग किया गया है। समरांगण तथा अपराजित पृच्छा जैसे नागर ग्रन्थों में मन्दिर के लिए 'प्रासाद' शब्द का ही प्रयोग किया गया है। अब सब से महत्वपूर्ण समीक्षा यह कि द्राविडी अग्रजा है कि नागरी ? विमान अग्रज है कि प्रासाद ? समरांगण प्रवचन (दे० ५५) से स्पष्ट है कि विमान अग्रज और प्रासाद अनुज।

प्रासाद जातिया इस प्रकार निम्नलिखित पंच विमानो से निम्नोद्धृत साद-जातिया उत्पन्न हुई —

(अ) **विमान पचक** —

	सज्ञा	आकार	देव
१	वैराज	चतुरश्र	ब्रह्मा
२	कैलाश	वृत्त	शिव
३	पुष्पक	चतुरश्रायत	कुबेर
४	मणिक	वृत्तायत	वरुण
५	त्रिविष्टप	अष्टाश्रि	विष्णु

(ब) **विमानोत्पन्न-प्रसाद-जातिया**

वैराज-भेद-चतुर्विंशति चतुरश्र प्रासाद -

१ रुचक, २ चित्रकूट ३ सिंह-पञ्जर ४ भद्र ५ श्रीकूट ६ उष्णीष शालाख्य ८ गजयूथप, ९ नन्द्यावर्त १० अवतस ११ स्वस्तिक क्षितिभूषण १३ भूजय १४ विजय १५ नन्दी १६ श्रीतरु १७ प्रमदा-प्रिय : व्यामिश्र १९ हस्तिजातीय २० कुबेर २१ वसुधाधर २२ सर्वभद्र ३ विमान २४ मुक्तकोण।

कैलाश-भेद दश-वृत प्रासाद—

१ वलय २ दुन्दुभि ३ प्रान्त ४ पद्म ५ कान्त ६ चतुर्मुख माण्डूक्य ८ कर्म ९ ताली-गृह १० उलपिक।

पुष्पक प्रभेद-दश-चतुरश्रायत प्रासाद —

१ भव २ विशाल ३ साम्मुख्य ४ प्रभव ५ शिविरागृह मुखशाल ७ द्विशाल ८ गृहराज ९ अमल १० विभु।

मणिक-प्रभेद-दश वृत्तायत प्रासाद —

१ आमोद २ रैतिक ३ तुग ४ चारु ५ भूति ६ निषेवक सदानिषेध ८ सुप्रभ ९ लोचनोत्सव।

त्रिविष्टप-प्रभेद दश अष्टाश्रि प्रासाद —

१ वज्रक २ नन्दन ३ शकु ४ मेखल ५ वामन ६, लय महापद्म ८ हम ९ व्योम १० चन्द्रोदय।

प्रासादांग—प्रासादांगो को हम निम्न तालिका मे प्रमुख अगो एव उपागो तथा निवेशगो से विभाजित कर सकते है —

प्रासाद के प्रधान अग —पुरुषाग-प्रतीक—शरीराग —

पीठ—पाद आदि, जघा—कटि आदि, मण्डोवर—वक्ष स्थल स्कन्धादि, शिखर—शिर-मस्तक-मूर्धादि ।

निवेशाग—१ पीठ-जगती २ अन्तराल ३ अर्धमण्डप ४ महामण्डप ५ गर्भ-गृह ।

टि०—प्रासादाग पुरुषाग के समान विभाव्य है। हमने विमान की ओर प्रासाद को विराट्-पुरुष के रूप मे विभावित किया है जो हमने अपने अध्ययन मे अग्निपुराण, हयशीर्ष-पञ्चरात्र शिल्परत्न आदि के जो उद्धरण दिए हैं, उनके अनुसार प्रासादांगो की निम्न तालिका देखिए जो पुरुषाग पर आधारित है

१. पादुका २ पद ३ चरण ४ अघ्रि ५ जघा ६ ऊरू ७ कटि ८ कुक्षि ९ पर्व १० गल ११ ग्रीवा १२ कन्धर १३ कट १४. शिखर १५ शिरष् १६. शीर्ष १७ मूर्धा १८ मस्तक १९ मुख २०. वक्त्र २१. कूट २२ कर्ण २३ नासिका २४ शिखा

यहा पर यह भी सूच्य है कि प्रासाद-स्थापत्य का मौलिक आधार क्या है ? जिस प्रकार आत्मा और परमात्मा, ईश्वर और जीव निराकार एव साकार अन्योन्याश्रयी है अथवा एक हैं उसी प्रकार ब्रह्म (विराट् पुरुष) तथा प्रासाद देवता एक ही है। प्रासाद का आकार इसी दार्शनिक एव आध्यात्मिक उन्मेष से यह प्रोल्लास दिखाई पडता है। नागर प्रासादो के सर्वोच्च शिखर पर कलश एव आमलक ये जो दो प्रतीक हैं वे ब्रह्म-रन्ध्र तथा निराकार ब्रह्म के प्रतीक हैं। महाविशाल पीठ से यह प्रासाद आमलक अर्थात 'विन्दु' मे प्रत्यवसयित होता है यही रहस्य है।

टि०—प्रासाद-निवेश की प्रक्रिया नाना-विधा है। यह प्रक्रिया मुख्यतया द्विविधा है द्राविडी तथा नागरी। द्राविड प्रासादो (विमानो) मे सभा, शाला, गोपुर, रग-मण्डप, परिवार भी प्रासाद—गर्भ-गृह अर्थात् प्रासाद (Proper—Sanctum Sanctorium) के अतिरिक्त विशेष निवेश्य है। विमानो के ये यथोक्त अग अनिवार्य है अतएव मयमत मे यही तथ्य पूर्ण रूप से पुष्ट होता है -

'सभा, शाला, प्रपा, रङ्गमण्डप, मन्दिर—रम्य०'

जहा तक नागर प्रासादो की विधा है, उसमें प्रासाद ही मुख्य सन्निवेश्य है। पर तु इस परम पावन स्थान म प्रवेशार्थ, अन्तराल, अर्घ-मण्डप एव महा-मण्डप भी भुवनेश्वर, खजुराहो आदि नागर-प्रासाद-पीठों पर ये निवेश प्रत्यक्ष हैं।

इन दो वास्तु-शैलियो के अतिरिक्त प्रासाद-निवेश बहुत कुछ देवानुरूप विहित होता है। भगवान् शिव के मन्दिर, जिस किसी भी उत्तरापथ के प्रदेश मे जाए, वहा, जगती तथा प्रासादो के अतिरिक्त एकमात्र अन्तराल, अर्घ-मण्डप अथवा महामण्डप के अतिरिक्त अ य कोई निवेशाग नही दिखाई पडते। अब मुडिए दक्षिणापथ की ओर, वहा वैष्णव मन्दिरो को देखिए जो भौमिक विमान हैं। भगवान् विष्णु के लिए आगमो मे स्थानक, आसन एव शयन तान मुद्रा-रूप-कोटिया बताई गयी हैं, अतएव स्थानक पहली भूमि मे, आसन दूसरी भूमि मे तथा शयन तीसरी भूमि मे प्रकल्प्य हैं। अत भगवान् विष्णु राजत्व, आधिराज्यत्व एव भोग-विलास-ऐश्वय का प्रतिनिधित्व करते हैं। अत ऐसे वैष्णव मन्दिरो के लिए रग-मडप, परिवार-देवालय राज-प्रासादोपम महाद्वार, महागोपुर, महाप्राकार, महाशालाय एव अन्य नाना सभाये भी आवश्यक हैं। दक्षिण के *रामेश्वरम् चिदम्बरम मीनाक्षीसुन्दरेश्वरम्, श्री-रगम (रगनाथ)* आदि प्रख्यात मन्दिर इसी प्रोल्लाम के निदशन हैं।

प्रासाद-जातिया—टि०—जाति का अर्थ शैली ही है, जो देवानुरूप एव स्थापत्यानुरूप दोनो दृष्टियो से विभाजित कर सकते है। समरागण सूत्रधार ही एक मात्र वास्तु-शिल्प-ग्रन्थ है जहा पर निम्न जातिया एव उनके प्रासाद वर्णित है। प्रासाद-जाति, प्रासाद-वग तथा प्रासाद-शैलिया एक प्रकार से एक ही शीर्षक मे विचारणीय हैं तथा प इनको हम निम्न तालिकाओ से स्फुट करेंगे—

नागर, लाट-लतिन, द्राविड, भूमिज वावाट वैराट

प्रसाद वर्ग—टि०—*उपर्युक्त जातियो के अनुरुप प्रासाद-वर्गों की* निम्न-तालिकाए उद्धत की जाती है। यहा पर यह भी सूच्य है वैराज सभी प्रासाद-जातियो मे भगवान ब्रह्मा के द्वारा, प्रकल्पित यह वैराज-प्रासाद जाति सर्व-प्रमुख एव आदि जाति है, अत उसके निम्न भेद-प्रभेद इस प्रथम तालिका मे दिए जाते हैं—

वैराज-जाति-प्रभव-प्रासाद-प्रथम तालिका—

१	स्वस्तिक	५.	हिरण्यीक	९.	कुम्भक
२	गृहच्छन्द	६.	सिद्धार्थक	१०	विमान
३.	चतुश्शाल	७	द्विशाल	११	वीर
४	त्रिशाल	८	एकशाल	१२	चतुर्मुख

टि० ये द्वादश प्रासाद चार चार करके देवानुरूप अर्थात् गणों, देवों तथा स्कन्द के लिए विनिवेश्य हैं।

दूसरी तालिका—

१ स्वस्तिक, २. श्रीतरु, ३ क्षितिभूषण ४ भूजय, ५ विजय, ६ भद्र, ७. श्रीकूट, ८ उष्णीष ९ नन्द्यावर्त, १०. विमान ११ सर्वतोभद्र, १२ विमुक्तकोण

टि०—यह दूसरी तालिका जनक-जन्य-भावानुरूप प्रस्तुत की जाती है जनक स्वस्तिक आदि विमुक्तकोणान्त तथा जन्य निम्नोद्धृत रुचकादि धराधरान्त—

रुचक	अवतंस	व्यामिश्र	गजयूथप
सिंह-पंजर	नन्दी	हस्तिजातिक	प्रदर्माप्रिय
शाला	चित्रकूट	कुबेर	धराधर

तीसरी तालिका—

वैराजसम्भव—अष्ट-शिखरोत्तम-प्रासाद—ब्रह्मजाति-वंशज—

१	रुचक	३	अवतंस	५	सर्वतोभद्र	७	मेरु
२	वर्धमान	४	भद्र	६	मुक्त-कोणक	८	मन्दर

समरांगण-सूत्रधार में जहां तक जात्यनुरूप प्रासाद वर्गीकरण का प्रश्न था, उस पर हम इन तीनों तालिकाओं से कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। अब हम शैल्यनुरूप आगे की तालिकाओं में यह प्रासाद-वर्ग विजृम्भण प्रस्तुत करते हैं। किसी भी वास्तु-शिल्प ग्रन्थ में इतना प्रबल प्रासाद-वर्ग अप्राप्य है। मानसार में केवल ९८ विमानों का वर्णन है। मयमत आदि में और उससे आगे भी नहीं है। इसी प्रकार तन्त्र समुच्चय, ईशान-शिव-गुरुदेव-पद्धति, कामिकागम, सुप्रभेदागम आदि सभी शिल्प ग्रन्थों में यही कमी है। अपराजित-पृच्छा ही एक-मात्र ग्रन्थ है जो समरांगण सूत्र धार का समकालीन है और उसमें भी इसी प्रकार का विजृम्भण प्राप्त होता है, परन्तु वहां पर अर्थात् अपराजित,

पृच्छा मे यह वर्गीकरण विशेष पारिभाषिक, वैज्ञानिक एव स्थापत्यानुपगिक नही है। स० सू० ही एक मात्र वास्तु ग्रथ है जो शास्त्र और कला दोनो का प्रतिनिधित्व करता है। ११वी शताब्दी तक बगाल बिहार-आसाम मे भूमिज शैली भी निखर चुकी थी नागर-शैली और द्राविड-शैली ये तो बहुत पुरानी है, जो शुग, आध्र, गुप्त वाकाटक कालों मे विकसित हो चुकी थी। एक महान् शैली का जन्म मध्य-काल की देन है, जिसका नाम लाट शैली है और लाट का अर्थ गुजरात है। गुर्जर त उस समय बडा ही समृद्ध एव व्यावसायिक प्रदेश था। यह प्रदेश द्वीपान्तर भारत से भी वाणिज्य से बहुत सम्पर्क रखता था। धन की कमी न थी अतः इस सरक्षण में एक बडी अलकृत-शैली का जन्म हो गया है। गुर्जर-प्रदेश मोढेरा) का सूर्य-मदिर देख, उसके सभा-मडप के स्तम्भो की अलकृतियो का, देवे शिखरो की सुषमा निहारे तो ऐसा प्रतीत होता है कि स्थापति ने तक्षक का रूप धारण कर लिया जिसको हम यह वास्तु कला, तक्षण-कला (Sculptor s Art) के रूप म उन्मिषित कर सकते हैं उत्तरापथ म ९वी और १२वी शताब्दी के बीच म जो इन अलकृतियो का जन्म हुआ वही उत्तर-मध्यकाल म दक्षिण भारत में विशेषकर मैसूर के मन्दिरो मे यही छटा देखने को मिलती है (देखिये . . तथा हलेबिड)। अस्तु अब इस उपोद्घात के बाद यह भी यहा पर हम बताना चाहते हैं कि इस समरागण-सूत्र म इन शैलियो के क्रमिक विकास के अनुरूप हम तालिकाए प्रस्तुत करेगे जो एक-मात्र तालिका (Tables) ही नहीं वरन् विकास एव प्रोल्लास के भी प्रतीक हैं। अत यह अविकृत ग्रन्थ लाट-शैली का प्रतिष्ठापक ग्रन्थ है अत हम पहले लाट शैली को लेगे।

लाट-प्रासाद—

(अ) प्राक्कालिक-रुचक आदि ६४ प्रासाद वैशिष्ट्य-पुरस्सर -

२५ ललित अर्थात् लाट—

१	रुचक	२	भद्रक	३	हस	४	हंसोद्भव
५	प्रतिहस	६	नन्द	७	नन्द्यावर्त	८	धराधर
९	वर्धमान	१०	गिरिकूट	११	श्रीवत्स	१२	त्रिकूटक५.

१३ मुक्त-कोण १४. गज १५. गरुड १६ सिंह
१७. भव १८ विभव १९ पद्म २० मालाधर
२१. वज्रक २२ स्वस्तिक २३ शंकु २४ मलय
२५ मकरध्वज ।

९ मिश्रक—

२६. सुभद्र २७ योकिट (?) २८ सवतोभद्र
२९. सिंह-केसरी ३० चित्रकूट ३१. घराधर
३२. तिलक ३३ स्वस्तिक ३४ सर्वांगसुन्दर

३० सान्धार—

३५. केसरी ३६ सर्वतोभद्र ३७ नंदन ३८ नंदिशालक
३९ नंदीश ४० मंदिर ४१ श्रीवृक्ष ४२ अमृतोद्भव
४३ हिमवान् ४४ हेमकूट ४५ कैलास ४६ पृथ्वीजय
४७ इन्द्रनील ४८ महानील ४९ भूधर ५०. रत्नकूटक
५१ वैडूर्य ५२ पद्मराग ५३ वज्रक ५४ मुकुटोत्कट
५५. ऐरावत ५६ राजहंस ५७ गरुड ५८ वृषभ
५९ प्रासाद-राज-मेरु ६० लता ६१ त्रिपुष्कर ६२ पंचवक्त्र
६३ चतुर्मुख ६४ नवात्मक ।

टि०—ललित प्रासादों मे प्रथम १८ भेद चतुरश्राकार (चौकोर) मेय हैं, भव तथा विभव चतुरश्रायताकार, पद्म तथा मालाधर ये दोनों गोल (वृत्त) तथा वज्रक, स्वस्तिक एवं शंकु ये तीनों अष्टकोण विनिर्मेय हैं।

टि०—यत १०वी शताब्दी के बाद पूर्त-धर्म पराकाष्ठा पर पहुंच चुका था अत देवानुरूप प्रासादों का निर्माण भी स्थापत्य को प्रभावित कर गया। और यह ठीक भी था जैसा देव, जैसे उसके लाञ्छन परिवार एवं कार्य इसी प्रकार उसके प्रासाद का छंद (Prospect and Aspect of the Building) तदनुकूल होना ही चाहिए। अत यह, लाट-प्रासाद की तृतीय श्रेणी निम्न तालिका में उद्धृत की जाती है जो आठ देवों के आठ आठ

प्रासाद हैं —

१—शिव-प्रासाद	विष्णु प्रासाद	ब्रह्मा के प्रासाद
१ विमान	१ गरुड	१ मेरु
२ सर्वतोभद्र	२ वर्धमान	२ मन्दर
३ गज-पृष्ठक	३ नन्द्यावर्त	३ कैलाश
४ पद्मक	४ पुष्पक	४ हंस
५ वृषभ	५ गृहराज	५ भद्र
६ मुक्तकोण	६ स्वस्तिक	६ उत्तुंग
७ नलिन	७ रुचक	७ मिश्रक
८ द्राविड	८ पुण्ड्रवर्धन	८ मालाधर

सौर-प्रासाद	चण्डिका-प्रासाद	विनायक प्रासाद
गवय	नन्द्यावर्त	गुहाधर
चित्रकूट	वलभ्य	शालाक
किरण	सुपर्ण	वेणुभद्र
सर्वसुन्दर	सिंह	कुञ्जर
श्रीवत्स	विचित्र	हर्ष
पद्मनाभ	योगपीठ	विजय
वैराज	घटानाद	उदकुम्भ
वृत्त	पताकी	मोदक

लक्ष्मी-प्रासाद	सर्वदेव-साधारण प्रासाद
महापद्म	वृत्त
हर्म्य	वृत्तायत
उज्जयन्त	चैत्य
गन्धमादन	किंकणीक
शतशृंग	लयन
अनवद्यक	पट्टिश
सुविभ्रान्त	विभव
मनोहारी	तारागण

टि०—क श्रेणी—छाद्य-प्रासादों, सभा-प्रासादों (दे० ऐहोल, बादामी आदि प्रासाद-पीठ) तथा ख श्रेणी गुहा-प्रासादों (दे० एलोरा, अजन्ता आदि) के प्रतिबिम्बक तो हैं ही, साथ ही साथ द्वितीय श्रेणी शिखरोत्तम तथा तृतीय श्रेणी भौमिक विमानों में भी परिकल्प्य है।

ब-प्रागुत्तर-लाट शैली

मेरु आदि षोडश प्रासाद—

क—श्रेणी—

मेरु	नन्दन	वर्धमान
कैलास	स्वस्तिक	गरुड
सर्वतोभद्र	मुक्तकोण	गज
श्रीवृक्ष	रुचक	सिंह
विमानच्छन्द	हंस,	पद्मक तथा वलभी

ख श्रेणी— मेरु आदि विंशति-प्रासाद

मेरु	सर्वतोभद्र	रुचक
मन्दर	विमान	वर्धमान
कैलास	नन्दन	गरुड
त्रिविष्टप	स्वस्तिक	गज
पृथ्वीजय	मुक्तकोण	सिंह
क्षितिभूषण	श्रीवत्स	पद्मक
	हंस	नन्दिवर्धन

ग-श्रेणी—

श्रीधरादि चत्वारिंशत्-प्रासाद—शुद्धा जो देवानुरूप वर्ग्य हैं—

१-भगवती दुर्गा के प्रिय प्रासाद—

श्रीधर	हेमकूट
सुभद्र	रिपुकेसरी
पुष्पक	विजयभद्र
श्रीनिवास	सुदर्शन
कुसुमशेखर	

शिव के प्रिय प्रासाद—

सुरसुन्दर	नन्द्यावर्त

पूण	ग्रव-बघन
सिद्धाथ	त्रैलोक्य भूषण

ब्रह्मा के प्रिय-प्रासाद —

पद्म
विशाल
हसध्वज
पक्षबाहु
कमलोद्भव

विष्णु के प्रिय प्रासाद—

लक्ष्मीधर	महावज्र	रतिदेह
सिद्धकाम	पञ्चामर	नन्दिघोष
अनुवीण		
सुभद्र	सुरानन्द	हर्षण
दुधर	त्रिकूट	नवशेखर
दुजय		
पुडरीक	सुनाभ	महेन्द्र
शिखि-शेखर	वराट	सुमुख

घ—श्रेणी नन्दन आदि दश मिश्रक-प्रासाद—

नन्द	बृहच्छाल, सुधाधर	सम्वर
महाघोष	वसुन्धर	शुक निभ
वृद्धि-राम	मृगदक	सर्वाङ्ग सुन्दर

टि०—लाट प्रासाद-वर्गों की ये तालिकायें—जो हमने नाना श्रेणियों मे विभाजित की है, वे एक प्रकार से बिलकुल नवीन उद्भावना है। विद्वानो ने स्थापत्य-निबधनीय जो मन्दिर पूर्व-मध्यकाल तथा मध्य-काल मे बने है, उनको नागर शैली म ही गताथ किया है। नागर' पद का अथ वास्तव में लोगों ने ठीक तरह से नही समझा। राज सरक्षण म विशेषकर राजधानियों तथा महान् नगरो म, जो प्रासाद निर्मित एव निर्मित होते थे वे ही नागर-प्रासाद कहे जाते थे। अथच अरण्यो जनाश्रयो, जनपदो आदि म जो नाना स्थापत्य-निदशन जैसे अजन्ता, ऐलोरा, खजुराहो आदि प्रदेशों मे पाये जाते है वे मेरी दृष्टि मे लाट शैली म गताथ किए जा सकते है जिसकी हमने उपर तीन श्रेणिया प्रदान की हैं और पुराणो तथा अन्य साहित्य-सन्दर्भों में भी इस की पुष्टि प्राप्त होती है। यह लाट शैली सभी निवेशो का

प्रतिनिधित्व करती है जैसे छाद्य-प्रासाद, सभा मण्डप लयन, गुहाघर, गुह राज (Cave temples), शिखरोत्तम तथा भौमिक सभी का प्रतिनिधित्व करता है। अब आइये नागर प्रासादों की ओर।

नागर-प्रासाद—

इस शैली के दो ही वर्ग इस ग्रन्थ मे प्राप्त होते हैं, एक परम्परागत और दूसरे नवीन उद्भावना के अनुरूप। प्रथम श्रेणी के बीस नागर प्रासाद प्राय सभी स्रोतों मे एक समान हैं—पुराण, आगम तथा अन्य शिल्प-ग्रन्थ। अब हम इन नागर प्रासादों को निम्न दो तालिकाओं मे वर्गीकृत करते हैं —

पारम्परिका-विधिका

मेरु	विमानच्छन्द	नन्दन
मन्दर	चतुरश्र	नन्दि-वर्धन
कैलाश	अष्टाश्र	हंसक
कुम्भ	षोडशाश्र	वृष
मृगराज	वर्तुल	गरुड
गज	सर्वतोभद्रक	पद्मक
	सिंहास्य	समुद्र

श्रीकूटादि ३६ नागर-प्रासाद—

श्रीकूट-षटक	अन्तरिक्ष-षटक	सौभाग्य षटक
श्रीकूट	अन्तरिक्ष	सौभाग्य
श्रीमुख	पुष्पाभास	विभागक
श्रीधर	विशालक	विभव
वरद्	सकीर्ण	वीभत्स
प्रिय-दर्शन	महानन्द	श्रीतुंग
कुलानन्द	नन्द्यावर्त	मानतुंग
सर्वतोभद्र-षटक	**चित्रकूट-षटक**	**उज्जयन्त षटक**
सर्वतोभद्र	चित्रकूट	उज्जयन्त
दारु यौदर	विमल	मेरु
निर्यूहोदर	दर्पण	मन्दर
मत्त्कोष	भद्रसंकीर्ण	कैलाश

समोदर	भद्रविशालक	कुम्भ
नन्दिभद्र	भद्रविष्कम्भ	गृहराज

मेरी दृष्टि मे ये प्रासाद यद्यपि नागरी शैली मे निर्मेय एव निर्मित हुए हैं, तथापि इन को हम क्षुद्र-प्रासादो Minor Temples मे विभाजित कर सकते है, जो जन-पदो, ग्रामो, अरण्यो, आश्रमो, तीर्थों, सिरता कूलो के लिए विशेष उपयोगी थे।

इस महाविशाल उत्तरापथ की इन दोनो शैलियो—लाट एव नागर शैलियो के प्रासादो के उपरान्त हम पहले दक्षिण की ओर मुडते है, पुन बगाल, विहार तथा आसाम मे जाएगे।

द्राविड प्रासाद—

टि० द्राविड प्रासादो की सबप्रमुख विशेषता विमान अर्थात् Storeyed Structure है। अत इन प्रासादो को हम भौमिक विमानो म दखते हैं—शास्त्र तथा कला दोनो मे। मानसार मयमत आदि सभी दक्षिणात्य ग्रथो मे यह विमान-वास्तु भूमि पुरस्सर वर्णित किया गया है। उसी पद्धति से समरागण-सूत्रधार मे भी इनको द्वादश भूमियो के अनुरूप द्वादश वर्ग मे विभाजित किया गया है। पुन विमान-प्रासादो के पीठ भी नागर-प्रासादो के पीठ अर्थात जगती से कुछ वैलक्षण्य रखते हैं। अतएव हम द्राविड प्रासादो के पीठा की तालिका पहले प्रस्तुत करते है पुन उनके वर्ग। पीठ एव तलच्छन्द दोनो ही जगती के प्राधान्य है। अत इन दोनो की तालिका उपस्थित की जाती है।

द्राविड-पीठ पचक	द्राविड-तलच्छन्द-पचक
पाद-बन्ध	पद्म-तलच्छन्द
श्रीबन्ध	महापद्म-तलच्छन्द
वेदी-बन्ध	वर्धमान छन्द
प्रतिक्रम	स्वस्तिक-छन्द
क्षुर-बन्ध	सर्वतोभद्र

द्राविड प्रासाद—

एक-भूमिक	सप्त-भूमिक
द्विभूमिक	अष्ट-भूमिक
त्रि-भूमिक	नव भूमिक
चतुर्भूमिक	दशभूमिक

पच-भूमिक	एकादश-भूमिक
षड्-भूमिक	द्वादश भूमिक

टि० जहा तक इनकी सज्ञाग्रो, विधाग्रो एव ग्र-विधाग्रो का प्रश्न है वह स० सू० के अध्ययन से सम्बन्ध नही रखता। ग्रत यह विवरण यहा पर प्रस्तोत्य नही है ग्रत हम वावाट (वैराट) तथा भूमिज (अर्थात् बगाल, बिहार ग्रासाम) प्रासादो की तालिका उपस्थित करते हैं।

वावाट

क—श्रेणी दिग्भद्रादि १२—		ख—श्रेणी वृक्षजातीय कुमुदादि ७
१	दिग्भद्र	कुमुद
२	श्रीवत्स	कमल
३	वर्धमान	कमलोद्भव
४	नन्द्यावर्त	किरण
५	नन्दि-वर्धन	शतशृग
		निरवद्य
६	विमान	सर्वांग-सुन्दर
७	पद्य	(ग) श्रेणी अष्टशाल-स्वस्तिक-आदि—५
८	महापद्म	स्वस्तिक
९	श्रीवर्धमान	वज्रस्वस्तिक
१०	महापद्म	हर्म्यतल
११	पचशाल	उदयाचल
१२	पृथिवी-जय	गधमादन

टि०—इन भूमिज प्रासादो की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि इनकी शैली नागर शैली से ही प्रभावित हुई थी। नागर क्रिया मे ही इन की भूषा विहित है। अतएव इन प्रासादो की शिखर-कल्पना मे निम्नलिखित रेखाग्रो पर सकेत किया गया है, जिनकी निम्न तालिका मात्र प्रस्तुत की जाती है। साथ ही उपर्युक्त सिद्धान्त के दृढीकरणार्थ स० सू० का प्रवचन भी अवतरणीय है—

> उदयस्य विभेदेन रेखा या पचविंशति ।
> लतिनागरभौमाना ता कथ्यन्ते यथागमम् ॥

नागर-क्रिया-रेखा पचविंशति

शोभना	लोला	वसुन्धरा

भद्रा	करवीरा	हंसी
सुरूपा	कुमुदा	विशाखा
सुमनोरमा	पद्मिनी	नन्दिनी
शुभा	वनका	जया
शान्ता	विकटा	विजया
कावेरी	देवरम्या	सुमुखा
सरस्वती	रमणी	प्रियानना

———?

इस समरागणीय प्रासाद-वर्ग की तालिकाओं के उपरान्त अब हमें यहा यथा-मवेत शैलियों की छानबीन उचित नहीं वह अध्ययन-खण्ड मे परिशीलनीय है अत अब हम प्रासाद-भूषा पर आते है। प्रासाद-भूषा एव प्रासादाग एक प्रकार से अगागिभाव है। अत इस मिश्रण-योजना मे अब एतद्विषयिणी तालिकाए निम्न प्रमुख अगानुषगिका तालिका प्रस्तुत की जाता है —

१ वास्तु-क्षेत्र Site Plan
२ तल-च्छन्द Internal as well External Arrangement of the Ground Plan
३ ऊर्ध्वच्छन्द Arrangement of Parts in Elevation
४ पीठ Basement
५ द्वार-विया, मान एव भूषा
६ प्रासाद-उदय
७ मण्डोवर (मण्डप + उपरि)
८ शिखर Spire
९ कलश Finial
१० रेखा Profile
११ प्रासाद-भूषायें Ornamentative motifs
१२ पत्र तथा कण्टक Mouldings

वास्तु-क्षेत्र —

टि० यह विषय हम अपने भवन विवेचन मे ले चुके हैं, वह वहीं पठनीय हैं।

तलच्छन्द—प्रासाद-प्रसृति के सम्बन्ध मे जिस मौलिक विमान-पचक का ऊपर सकेत है वह गाकारानुरूप—चतुरश्र, चतुरश्रायत, वृत्त, वृत्तायत एव अष्टाश्र जो प्रतिपादन किया गया है तदनुरूप यह बाह्य-तलच्छन्द है। साथ ही साथ आन्तर-तलच्छन्द भी उपश्लोक्य है।

आन्तर तलच्छन्द

गर्भगृह भ्रमणी-अन्धकारिका—Circum-ambulatory passage and walls of the Sanctum Sanctorium

बाह्य तलच्छन्द—

टि० बाह्य तलच्छन्द के नाना अग है जिन की सख्या दो दजनो से भी अधिक है परन्तु स्थापत्य की दृष्टि से उन्हे दो प्रधान अगो मे विभाजित किया किया जा सकता है —

१ रचनात्मक २ मानात्मक

इन मे प्रमुख अग हैं—

भद्र	कर्ण	नन्दी	तिलक
मुखभद्र	प्रतिकर्ण	वारिमार्ग	स्कन्ध
प्रतिभद्र	रथ	कोणिका	ग्रीवा
उपभद्र	प्रतिरथ	नन्दिका	गल आदि आदि
	उपरथ		

ऊर्ध्वच्छन्द—

टि० ऊर्ध्वच्छन्द से तात्पर्य है Structural Disposition वह छन्द-षट्क मे विभाजित है—जैसा भवन वैसा रूप। मेरु, खण्ड-मेरु, आदि इन छहो छन्दो पर हम अपने भवन निवेश मे प्रतिपादन कर चुके हैं वह वही द्रष्टव्य है।

पीठ—पीठ के सम्बन्ध मे हम विमान-वास्तु मे विशेष चर्चा करेंगे।

द्वार—

एक-शाख-द्वार

त्रिशाख-द्वार

पच-शाख-द्वार

टि०—शाखा का अर्थ (Door-Frame) से है। ये ही शाखा-द्वार शास्त्र एवं कला में विशेष गत हैं।

सप्त-शाख-द्वार

नव-शाख-द्वार

अपराजित-पृच्छा में एक से लगाकर नौ तक शाखाओं का वर्णन है जिनकी संज्ञा ये यहां प्रस्तुत की जाती हैं —

पद्मिनी	नव-शाख	गान्धारी	चतु:शाख
मुकुटी	अष्ट-शाख	सुभगा	त्रिशाख
हस्तिनी	सप्त-शाख	सुप्रभा	द्विशाख
नन्दिनी	पंच-शाख	स्मरा (?)	एक-शाख
मालिनी	षट्शाख		

टि०—अन्य शिल्प-ग्रंथों जैसे वास्तु राज-वल्लभ, प्रासाद-मण्डन आदि में इन शाखाओं पर बड़ा प्रचुर विजृम्भण है। द्वार मान पर हम अपने भवन-निवेश में प्रतिपादन कर चुके हैं, जहां तक भूषा का सम्बन्ध है उन पर थोड़ा सा यहां संकेत आवश्यक है।

द्वार-भूषा—

प्रासाद-स्थापत्य में द्वार-भूषा मध्यकालीन एवं उत्तर-मध्यकालीन भारतीय स्थापत्य की एक नवीन अलङ्कृति-शैली के रूप में हम इसे विभाजित कर सकते हैं। जैन-मंदिरों में तथा नाट-शैली में निर्मित प्रासादों जैसे आबू तथा मोधारा (गुजरात) आदि में द्वार-भूषा बड़ी ही आकर्षक एवं अलङ्कृति प्रधान है। द्वार-कपाट पर पच्चीकारी में नाना रूप-प्रतिमायें—ललाट-बिम्ब, देवता प्रतिबिम्ब नाना लतायें—फूलों आदि सब इन शाखाओं पर चित्रित हैं। अतएव इन चित्रणों के लिये एक-शाखद्वार में नव शाखा-द्वार की कल्पना एवं रचना-विच्छित्ति या हुई हैं।

प्रासाद उदय तथा शिखर—

प्रासाद का उदय तथा उनकी शिखर-रचना रेखित कला विशेषकर रेखा गणित की प्रक्रिया से Geometrical Progression and Regression से सम्पाद्य है, अतएव नागर-वास्तु-विद्या की सबसे बड़ी देन [illegible] Setting of the Curves है।

यहां पर विशेष समीक्षण असम्भव है। हमारे सुपुत्र डा० [illegible]कुमार शुक्ल ने इस सम्बध में बड़ी छानबीन तथा अध्यवसाय एवं तत्परता से

एतद्विषयिणी पदानुरूप Terminological अध्ययन के द्वारा (दे० A Study of Hindu Art and Architecture with esf ref to Terminology) जो प्रबन्ध प्रस्तुत किया था, उसको विश्व-ख्याति डा० क्रैमरिश एव प्रो० के० बी० कार्डरिंगटन (जिन्होंने इस पी-एच० डी० थीसिस को जाचा था) इन दोनों ने बडी प्रशसा की है—वह इस प्रकाशित प्रबध मे ही विशेष परिशीलनीय है। अस्तु, हम यहा इन प्रासादोदय एव शिखर-वर्तना के निम्न प्रधान अगो एव उपन्यासो की तालिका प्रस्तुत करते हैं —

रेखा		
कला	स्कध	शृग
खण्ड	वलण	अण्डक
चार	घण्टा	उर शृ ग (उरोमञ्जरी)
	शिखर	गजपृष्ठ

ठि०—इन रेखाओ के नाना भेद हैं जैसे—

त्रिखण्डा	नवखण्डा	त्रयोदशखण्डा
चतुष्खण्डा	दशखण्डा	चतुर्दशखण्डा
पचखण्डा	एकादशखण्डा	पचदशखण्डा
षट्खण्डा	द्वादशखण्डा	षोडशखण्डा
सप्तखण्डा		सप्तदशखण्डा
अष्टखण्डा		अष्टादशखण्डा

टि०—इन सभी की अपनी अपनी सज्ञायें हैं जो अ० पृ० मे पठनीय है। मानसार ने भी इनकी सज्ञानुरूप नालिकायें दी हैं। यत यह अध्ययन स० सू० से सम्बधित है अत उनकी यहा अवतारणा विशेष सगत नही। इन रेखाओ की तालिकानुरूप सज्ञाय २६५ है जो रेखाओ के चारानुरूप (1, $1\frac{1}{4}$, $1\frac{1}{2}$, $1\frac{3}{4}$, २, पुन $4\frac{3}{4}$ तक १६ भेद हो जाते है) ही ये सब गणनायें गतार्थ है।

अध्ययन-खण्ड मे प्रासाद निवेश की भूमिका म शिखरो की विधा—लता-शृ ग अण्डक-शिखर आदि पर कुछ प्रकाश डाल चुके है। पुन स्कन्ध-कोष, वेणुकोष ग्रीवा, कलश, मातुलु ग आदि के साथ साथ आमलक आदि पर भी कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। अत अब इस स्तम्भ को यही पर समाप्त कर देना उचित है क्योकि मडोवर का अर्थ—माडपोपरि है तथा मडप वास्तु का प्रमुख अग वितान एव कुमायें है, जो मडप-काड मे विवेच्य होगा। प्रासाद

भूषणों से तात्पर्य प्रासाद-प्रतिमा-स्थापत्य है जो हम प्रासाद-प्रतिमा-लिंग-वाड में थोड़ा बहुत प्रस्तुत करेंगे।

प्रासाद—एक-मात्र भवन नहीं, वह दार्शनिक एवं आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों का साक्षात् मूर्तिमान रूप है। यक्ष-विद्याधर-किन्नर गन्धर्व-गण एवं अप्सराएँ तथा मुनि-ऋषि-भक्त-गण आदि आदि के साथ शार्दूल, शक्ति मिथुन—ये सब चित्रण पूरे जीवन पूरे दान, पूरे धर्म एवं पूरी प्रकृति एवं विकृति दोनों की प्रतीकात्मकता को प्रस्तुत करते हैं।

प्रासाद मण्डप—

	मण्डप	द्विविध
१	संवृत	
२	विवृत	

स० सू० में दो वर्ग हैं—अष्ट-विध तथा सप्तविंशति-विध।

अष्ट (८) मंडप—

१	भद्र	५	स्वस्तिक
२	नन्दन	६	सर्वतोभद्र
३	महेन्द्र	७	महापद्म
४	वर्धमान	८	गृहराज

सप्तविंशति (२७) मंडप—

१	पुष्पक	१०	विजय	१९	मानव
२	पुष्पभद्र	११	वस्तुकीर्ण	२०	मानभद्रक
३	सुव्रत	१२	श्रुतिर्जय	२१	सुग्रीव
४	अमृतनन्दन	१३	यज्ञभद्र	२२	हर्ष
५	कौशल्य	१४	विशाल	२३	कर्णिकार
६	बुद्धि-सकीर्ण	१५	सुश्लिष्ट	२४	पदाधिक
७	गजभद्र	१६	शत्रुमर्दन	२५	सिंह
८	जयावह	१७	भागपञ्च	२६	श्यामभद्र
९	श्रीवत्स	१८	नन्द	२७	सुभद्र।

पञ्चविंशति (२५) मण्डप-वितान—

१	कोल	९	भ्रमरावली	१८	मदार
२	नयनोत्सव	१०	हंसपक्ष	१९	कुमुद
३	कोलाविल	११	कराल	२०	मध्य
४	हस्तितालु	१२	विकट	२१	विकास
५	अष्टपत्र	१३	शङ्खकुट्टिम	२२	गरुडप्रभ
६	शरावक	१४	गगननाभि	२३	पुरोहित
७	नागवीथी	१५	सपुष्प	२४	पुरारोह
८	पुष्पक	१६	शुक्ति	२५	विद्युन्मदारक।
		१७	वृत्त		

वितान-वास्तु-विच्छित्ति लुमायें—सप्तधा लुमा

तुम्बिनी आध्माता हेला
लम्बिनी मनोरमा
कोला शान्ता

टि०—जिस प्रकार से शिखर-प्रासाद का मौलिक रूप है उसी प्रकार वितान मण्डप का। यह वितान त्रिविध है जो Ceiling के अनुरूप—

समतल वितान क्षिप्ततल वि० उत्क्षिप्ततल वि०

पुनः इनकी स्थिति चतुर्धा है—

पद्मक नाभिच्छन्द सभामार्ग मन्दारक

पुनः—इनको शैल्यनुरूप हम निम्न चार उपवर्गो में कवलित करते हैं—

शुद्ध सघाट भिन्न उद्भिन्न

इस प्रकार इन वितानों का टोटल निम्न तालिका से १११३ होता है—

	पद्मक	नाभि	सभामार्ग	मन्दारक
शुद्ध	६४	२४	१६	१०
सघाट	३६	४०	३६	१५
भिन्न	२००	१००	४८	४०
उद्भिन्न	२००	१३६	१००	४८

—१११३

टि०—यह मण्डप वास्तु नागर-शैली का है। द्राविडी शैली का मण्डप-वास्तु बड़ा विलक्षण है। उसमें स्तम्भ-संख्या एवं स्तम्भ-चित्रण ही वैशिष्ट्य

है। यह विवरण हम विमान-वास्तु में यथा‌‌स्थान उपस्थित करेंगे। अब आइये प्रासाद-जगती पर।

प्रासाद-जगती —

वैसे तो जगती का अर्थ Base अर्थात् पीठ है। बिना पीठ अर्थात् आधार के भवन की स्थापना हो ही नहीं सकती है। जिस प्रकार पुरुषाङ्गों में प्रथम अंग चरण अर्थात् पाद है, उसी प्रकार इस प्रकार इस प्रासाद-पुरुष का कलेवर जगत्याश्रित ही परन्तु स० सू० में जगतियों को जगती के रूप में विभावित किया है। इसका अभिप्राय यह है। ऐमाओ अर्थात् पौरजानपदीय मन्दिर शिवालय विशेषकर एक छोटे आयतन के अतिरिक्त जो विशेष स्थान में ... में दर्शनीय है वह एक ऊंची चौड़ी लम्बी जगती ही है जहां ... होते भूषा प्रतिमा। उत्सव पूजोत्सव (शिवरात्रि आदि) मनाये हैं अतः Sanctum Sanctorum पठनीय है

पात्र ऊँची
धार्मिक
यह

त्रिदशागारभूत्यर्थं भूषाहेतो पुरस्य तु।
भुक्तये मुक्तये पुंसां मवशान्त च शान्तये ॥
निवासहेतोर्देवानां चतुर्वर्गस्य सिद्धये।
मनस्विनां च कीर्त्यायुयशस्सम्प्राप्तये नृणाम् ॥
जगतीनाथ ब्रूमो लक्षणं विस्तरादिह ॥

ऊपर जो हमने सकेत किया है उसका इस उद्धरण से पोषण हो जाता है। पुन: इन जगतियों पर नाना परिवार-देवों की मढ़ियां (Smaller shrines) भी चारों ओर विन्यसित की जाती हैं। यह परम्परा पंचायतन-पूजा-परम्परा के अनुरूप है।

पुन:—जगती जैसा हमने पीठिका के रूप में, वास्तु-अवयव है, उसी प्रकार प्रासाद पुरुष है–विराट-पुरुष है जिसमें तीनों लोक नियत हैं। अत: विराट् पुरुष त्रिलोकी है तो इस दार्शनिक दृष्टि से प्रासाद लिंग है तथा जगती पीठिका है। जिस प्रकार शिवलिंग की मूर्ति के लिए पीठिका अनिवार्य है उसी प्रकार प्रासाद-लिंग के लिए जगती पीठिका अनिवार्य है। स० सू० के निम्न प्रवचन को पढ़िए —

प्रासादं लिंगमित्याहुस्त्रिजगत्सम्भवाद् यत
ततस्तदाधारतया जगती पीठिका मता ॥

अस्तु, अब हम जगती की दोनो तालिकाओ की अवतारणा करते हैं एक जगती-शाला दूसरी जगती-सज्ञा। यत जगती पर भिन्न दिशाओ एव कोणों पर परिवार-देवालय स्थान-विहित है, अत तदनुरूप ये शालाए अनिवार्य हैं —

जगती-शाला-पटक—

कर्णोदभवा	भद्रजा
अमोत्था	गभसम्भवा

चत्वारिंश (३६) जगती—

पुष्पा	कुलशीला	विश्वरूपा
सुधारा	महीधरा	आदिकमरा
[illegible]ती	मन्दार[illegible]	त्रैलोक्य सुन्दरी
[illegible]	[illegible]खा	गन्धर्वशालिका
तुम्बिनी	उ[illegible]सवमालिका	विद्याधरकुमारिका
[illegible]	नाग[illegible]	सुभद्रा
[illegible]	मारभव्या	सिंहपञ्जरा
[illegible]	मकरध्वजा	गन्धर्वनगरी
[illegible]	नन्द्यावर्ता	अमरावती
वैमानी	भूपाला	रत्नप्रभा
अमरावली	पारिजातकमञ्जरी	त्रिदशेन्द्रसमा
स्वस्तिका	चूडामणिप्रभा	देवयन्त्रिका
हरमाला	श्रवणमञ्जरी	

टि० इन ३६ के अतिरिक्त यमला, अम्बुधरा, रैवा, दोर्दण्डा, खण्डला तथा सिता भी परिसख्यात हैं अत इनकी सख्या ४५ हो गयी।

प्रासाद प्रतिमा-लिंग—

नागर वास्तु-विद्या के अनुरूप शिव मन्दिर ही प्राचीन-काल, पूर्व मध्यकाल तथा मध्य-काल मे विशेष प्रथित थे, अत इन मन्दिरो मे शिव-लिंग ही प्रासाद-प्रतिमा प्रधाना प्रतिमा स्थाप्या थी। स० सू० के अनुसार प्रासाद प्रतिमा-लिंग के निम्न वर्ग प्रकल्पित हैं —

मुख-लिंग—जो भगवान पशुपति का मुख लिंगोपरि चित्र्य है।

द्रव्य-लिंग दे० प्रतिमा-काण्ड—

लिङ्ग-भाग ब्राह्म, वैष्णव, महेश दे० प्र० का०

विमान--काण्ड--द्राविड़--शिल्प

१—विमानाङ्ग

२—विमान-निवेश—

प्राकार

गोपुर

मण्डप

परिवार

शालायें

३—विमान-भेद।

विमानाग—

टि०—पीछे प्रासाद-काण्ड मे द्राविड प्रासादो अर्थात् भौमिक विमानो की विशेषता पर कुछ हम सकेत कर ही चुके हैं। अत अब यहा पर स्वल्प मे इस प्रासाद-पदावली को पूर्ण करने के लिये हम सर्वप्रथम विमानागो पर प्रकाश डालेगे। निम्न तालिका देखें —

अधिष्ठान	द्वार	कुम्भलता
पीठ	वेदिका	प्रस्तर
उप-पीठ	भित्ति	उत्तर
पद्म	शाला	नीप्रफलक
गर्भ-गृह	कूट	शिखर
अम्बुमार्ग	पजर	स्तूपिका
स्तम्भ	जालक	विमान-शिखर

अब इनके भेद-प्रभेदो एव विच्छित्तियो की तालिका प्रस्तुत की जाती है —

पीठ उप-पीठ-अधिष्ठान—

ये सब अगागिभाव से परिकल्प्य हैं अधिष्ठान अर्थात् base किसी भी भवन के लिये अनिवार्य है, परन्तु अधिष्ठान के चिरकाल-सहत्वार्थ उप-पीठ भी अनिवार्य है—मयमत का यह निम्न प्रवचन कितना सार्थक है —

अधिष्ठानस्य चाधस्तादुपपीठ प्रयोजयेत् ।
रक्षार्थमुन्नतार्थंच शोभार्थं तत्प्रचक्ष्यते ॥

अधिष्ठान के पर्याय—

मसूरक	आयङ्ग	भुवन
वास्त्वाधार	धरातल	पृथिवी
कुट्टिम	आधार	भूमि
तल	धारिणी	आदि

अधिष्ठान-विच्छित्तिया

काश्यपीय	शिल्प-रत्नीय
उपान	उपान
जगती	कुम्भ
कुम्भ	जगती
खण्ड	कन्धर
पट्टिका	प्रस्तर

अधिष्ठान-भेद—१४

"अधिष्ठान मय प्राह चतुर्दशविध पृथक्"

१	पादबन्ध	८	श्रीकान्त
२	उग्रबन्ध	९	श्रेणीबन्ध
३	प्रतिक्रम	१०	पद्मबन्ध
४	पद्मकेसर	११	वप्रबन्ध
५	पुष्प-पुष्कल	१२	कपोत—बन्ध
६	श्रीबन्ध	१३	प्रतिबन्ध
७	मञ्च-बन्ध	१४	कलश-बन्ध

टि० १—काश्यप-शिल्प मे १४ के बजाय २२ अधिष्ठान भेद हैं। मानसार मे ८ वर्गों मे ८ उप-वर्ग और हैं—६४।

टि० २—जहा तक अम्बु-मार्ग, गर्भ आदि का प्रश्न है, वह पदानुक्रम Terminological point of view मे विशेष सकीर्त्य नही अत अब हम स्तम्भ पर आते हैं।

स्तम्भ—

स्तम्भ-पर्याय—मयमते		मानसारे	
स्थाणु	चरण	जघा	स्थूण
स्थूण	आघ्रिक	चरण	पाद
पाद	तलिप	स्तली	कम्भ
जघा	कम्प	स्तम्भ	अर
		अघ्रिक	भारक
		स्थाणु	धारण

स्तम्भ-भेद—

आवृत्त्यनुरूप	विच्छित्त्यनुरूप
ब्रह्मकान्त	चित्रकण्ठ
विष्णुकान्त	पद्मकान्त
रुद्रकान्त	चित्रस्कम्भ
शिवकान्त	पालिकास्तम्भ
स्कन्दकान्त	कुम्भस्तम्भ
चन्द्रकान्त	

द्वार—

द्वाराग—कार्यसिद्व यर्थ तथा शोभार्थं—

भ्रमरक प्रक्षेपणीय	पुलक-ग्रार्तव-कुण्डल
अर्गला वलय	श्रीमुख
सन्धिपाल पत्रक	इन्दु-सकल

टि०—सोपान, घनाद्वार (Thick Door), तोरण आदि सववेद्य हैं—स्थाना-भाव विशेष सकीतन नही।

भित्ति —

भित्ति ग्रादि पर केवल मानादि विवरण है। यहा पर भित्ति के लिये वेदिका ग्रनिवार्य है। पुन भित्ति मे ही नाना भूषायें स्थापत्यानुरूप परिकल्प है—कूट, कोष्ठ, पजर, शालायें, जालक, कुम्भलता आदि आदि।

उत्तर-प्रस्तर —जहा तक उत्तर एव प्रस्तर का प्रश्न है वे विशेष विवेच्य हैं। शिल्पाचार्यो ने हिन्दू प्रासाद को अगानुरूप निम्न षडङ्ग मे विभाजित किया है, जो प्रधान अग है—

अधिष्ठान	गल
पाद	शिखर तथा
प्रस्तर	स्तूपिका

प्रस्तर एव उत्तर एक दूसरे से अनुषगित है, जो पाद अर्थात् स्तम्भोपरि निर्मेय है।

शिखर एव स्तूपिका—शिखर पर हम कुछ सकेत कर ही चुके है। विमान-वास्तु की विशेषता स्तूपिका है तथा प्रासाद वास्तु की विशेषता ग्रामलक है। यह सब अध्ययन मे देखें। यह इतना गहन विषय है कि बिना नाना शिल्प-ग्रन्थो के पूर्ण परिशीलन के, इस शिखर-विन्यास पर पूरा प्रकाश नही डाला जा सकता। अस्तु अब हम आते है स्वरूप से विमान-निवेश पर।

विमान-निवेश —प्रासाद-निवेश से विलक्षण है— इस पर हम पहले ही कुछ सकेत कर चुके है। अब हम अपनी उदभावनानुरूप विमान-निवेश को निम्न वर्गों मे *विभाजित कर सकते हैं—*

विमान (गर्भ-गृह) Proper

प्राकार मण्डप

गोपुर	शालायें
परिवार	रंग-मण्डप, प्रपा आदि

विमान भेद — विमान प्रासादों को शिल्प ग्रन्थों ने अल्प-प्रासाद, महाप्रासाद, जाति-प्रासाद इन को प्रमुख वर्गों मे विभाजित किया है। पुनः ये प्रासाद तलानुरूप विभाजित किये गये हैं—एकतल, द्वितल आदि आदि। पुनः मानारूप इन्हें छन्द विकल्प, आभास मे वर्गीकृत किया गया है। अस्तु, इस अत्यन्त स्थूल-समीक्षोपरान्त अब हम मानसारीय ९६ विमानों की तालिका प्रस्तुत करते हैं जो आगे का स्तम्भ है अर्थात् विमान-भेद वह यहीं पर उपन्यास्य हैं —

एक-तल-विमान-८	द्वितल-विमान-८	त्रितल-विमान-८
वैजयन्तिक	श्रीकर	श्रीकान्त
भोग	विजय	आसन
श्रीविशाल	सिद्ध	सुखालय
स्वस्तिबन्ध	पौष्टिक	केसर
श्रीकर	अन्तिक	कमलांग
हस्तिपृष्ठ	अद्भुत	ब्रह्मकान्त
स्कन्दतार	स्वस्तिक	मेरुकान्त
केसर	पुष्कल	कैलाश

चतुस्तल-विमान-८	पंचतल-विमान ९	षट्तल विमान-१३
विष्णुकान्त	ऐरावत	पद्मकान्त
चतुर्मुख	भूतकान्त	कान्तार
सदाशिव	विश्वकान्त	सुन्दर
रुद्रकान्त	मूर्तिकान्त	उपकान्त
ईश्वरकान्त	यमकान्त	कमलाक्ष
मरुत्कान्त	गृहकान्त	रत्नकान्त
वैदिकान्त	यज्ञकान्त	विपुलांक
इन्द्रकान्त	ब्रह्मकान्त	ज्योतिष्कान्त
	महारात	सरोरुह
	कल्याण	विपुलकीर्ति
		स्वस्तिक-कान्त
		नन्द्यावर्त
		इक्षुकान्त

सप्त-तल-विमान-८

पुण्डरीक
श्रीकांत
श्रीभोग
धारण
पञ्जर
आश्रमागार
हर्म्यकांत
हिमकांत

अष्टतल-विमान-८

भूकांत
भूपकांत
स्वर्गकांत
महाकांत
जनकांत
तपस्कांत
सत्यकांत
देवकांत

नवताल-विमान-७

सौरकांत
रौरव
चण्डित
भूषण
विवृत
सुप्रतिकांत
विश्वकांत

दशतल-विमान-६

भूकांत
चन्द्रकांत
भवनकांत
अन्तरिक्षकांत
मेघकांत
अब्जकांत

एकादश-तल-विमान-६

शम्भुकांत
ईशकांत
चन्द्रकांत
यमकांत
वज्रकांत
अर्ककांत

द्वादशतल-विमान-१०

पांचाल
द्राविड
मध्यकांत
कलिंगकांत
वराट
केरल
वेशरकांत
मागधकांत
जनकांत
स्फूजक(गुर्जरक)

प्राकर

प्रयोजन—		
	बलि	भोगार्थ
	परिवार	परिवार देवताओं के लिए
	शोभा	यथानाम
	रक्षा	यथानाम

भेद—५	अन्तर्मण्डल	मध्यहारा
	अन्तर्हारा	प्राकार
		महामर्यादा

टि०—स्थापत्यानुरूप इन को भी जाति, छन्द, विकल्प एवं आभास की अपनी अपनी श्रेणियो मे रक्खा गया है।

गोपुर—इनको सप्तदश भूमियो मे भी शिल्प-ग्रन्थो मे वर्णित किया गया है। दाक्षिणात्य मन्दिरो की ही यह एकमात्र विशेषता है। मदुरा के मीनाक्षि-सुन्दरेश्वरम् मन्दिर के गोपुर सर्वातिशायी गोपुर हैं, परन्तु वहा भी १२ से अधिक भूमिया यहा दिखाई पडती हैं। गोपुर महाद्वार हैं। चिदम्बरम् के गोपुर को देखे वहा भरत के नाट्य-शास्त्रीय १०८ नृत्य-मुद्राओ का जो चित्रण प्राप्त होता है वह वास्तव मे मानव-कृति नही है, देवी या याक्षिणी कृति है गजब है।

परिवार—विशेष प्रतिपाद्य नही इससे तात्पर्य परिवार-देवताओ के अपने अपने आलय प्रासाद-गर्भ गृह के निकट निर्मेय हैं।

मण्डप—

स्थापत्यानुरूप—मण्डपो की सज्ञायें स्तम्भानुरूप हैं —

शतमण्डप	१०० खम्बे वाले
सहस्रमण्डप	१००० ,, ,,

टि०—मीनाक्षि-सुन्दरेश्वरम्, चिदम्बरम, रामेश्वरम् आदि दाक्षिणात्य विमान-प्रासाद-पीठो पर यह सुषुमा दर्शनीय है।

शास्त्रीयानुरूप—मानसार में—

हिमज	पारियात्र
निषधज	हेमकूट
विन्ध्यज	गन्धमादन
माल्यज	

इनके अयित्ति अन्य मण्डप हैं —

मेरुज	पुस्तकालय के लिये
पद्मक	महानस के लिये Temple-kitchen
सिंह	साधारण पाकशाला के लिये
पद्म	पुष्प-वेश्म के लिये
भद्र	पानादि के लिये

शिव	धान्यालय के लिये
वेद	सभा के लिये
कुलधारण	कोष्ठागार के लिये
सुखाग	अतिथियो के लिये
दार्व	हस्तियो के लिये
कौशिक	घोडो के लिये

वि० वा० शा० मे शतस्तम्भ-मण्डप-कीर्तन के अध्याय मे निम्न सज्ञाओ से शत स्तम्भ-मण्डपो का उपश्लोकन है —

१. सूर्यकात शत-स्तम्भ-मण्डप
२ चन्द्रकात ,,
३ इन्द्रकात ,,
४ गन्धर्वकात ,,
५ ब्रह्मकात

साथ ही इस के लब्ध-प्रतिष्ठ टीकाकार ने मण्डप प्रयोजन पर निम्न अवसर उपस्थित किये हैं —

अभिषेक	जप	विहार
याग	वाहन	अध्ययन
आस्थान	प्लवोत्सव	प्रणय-कलह
अलङ्करण	डोला	दमनिकोत्सव
विवाह	मासोत्सव	शयन
वसन्त	सवरोत्सव	पक्षोत्सव
ग्रीष्म	नैमित्तिकोत्सव	नित्योत्सव
कार्तिक	वार्तिक-मण्डप-निर्माण	आखेट

प्रासाद-विमान-पुरातत्वीय स्थापत्य-निर्दशन

१ लयन-गुहाघर-गुहराज (Cave Temples)

२ छाद्य-प्रासाद तथा सभा-मण्डप (Pillard Hall-Temples)

३ नागर-प्रासाद (Northern Temples)

४ विमान प्रासाद (Southern Temples)

५ वावाट-भूमिज-आदि-प्रासाद (Regional-Style Temples)

६ बृहद्भारतीय विकास—नेपाल, तिब्बत, लका, वर्मा, आदि

व द्वीपान्तर—भारतीय प्रोल्लास—श्याम—कम्बोडिया—बाली—जावा आदि।

स मध्य ऐशिया तथा अमेरिक भी।

टि०—हमने अपने Vastusastra Vol I—Hindu Science of Architecture (See An Outline History of Hindu Temple pp 482—575) तथा हिन्दू-प्रासाद—चतुर्मुखी पृष्ठ-भूमि वैदिकी, पौराणिकी, लोकधार्मिकी तथा राजाश्रया—मे इस प्रसाद-स्थापत्य का एक नवीन समीक्षा अर्थात् ऐतिहासिक स्थापत्य एव शास्त्रीय सिद्धात इन दोनो के समन्वयात्मक (Synthetic) दृष्टिकोण से जो वहा इस पर प्रबध प्रस्तुत किया है वह पाठक एव विद्वान् अवश्य परिशीलन करें। अत यहा तो केवल पदावली का ही प्रश्न है अत इन कोटियो मे भारत की इस महान् स्थापत्य-विभूति को दर्पणवत् तालिकाओ मे प्रस्तुत करने का प्रयास करना है।

लयन गुहाधर-गुहराज—इन प्रासाद-पदो से तात्पय गुहा-मदिरो, गुहा चैत्यो, गुहा-विहारो से है। स० सू० को छोडकर अन्य शिल्प-ग्रन्थो मे यह पदावली प्राप्त नही है। इनके निदशन निम्न तालिका-बद्ध परिशीलनीय हैं।

एक तथ्य और भी सूच्य है। गुहा-निवास अति प्राचीन-काल से ध्यान एव तपस्या के लिये प्रथित रहे है। पौराणिक भूगोल मे मेरु देवावास तथा कैलाश शिव-निवास है। अत जहा लयन, गुहाधर, गुहराज इन गुहामन्दिरो की पदावनी है, वहा मेरु, मदर, कैलाश आदि शिखरोत्तम प्रासादो की सज्ञाये हैं। अत लयन है श्रीगणेश तथा पर्वताभिध प्रासाद एव विमान-सज्ञक प्रासाद अवसान है। यह कितना विकास द्योतित हो रहा है। आइये अब तालिकाओ पर।

लयन-गुहाधर-गुहराज-प्रासाद-पीठ-तालिका—

१	लोमशऋषि-गुहा	१३	अजता
२	सुदामा	१४	एलोरा
३	विश्वकर्मोपडी	१५	मामल्लपुरम्
४	खडगिरि गुफाए	१६	कोडीवटे
५	उदयगिरि-पर्वत-कदराये	१७	पीतलखोरा
६	हाथी गुम्फा	१८	विदिशा
७	भाज	१९	नासिक
८	नागार्जुन-पवत	२०	कर्ली-कन्हारी
९	सातामढी	२१	वीर (देवगढ)
१० कार्ली ११	वीर (देवगढ)	२२	आनन्द पगोडा (वर्मा)
१२	कोडन	२३	पगान मन्दिर (वर्मा)

२४	एलाफेंटा	२७	अमरावती-स्तूप-मंदिर
२५	साची	२८	जगयपेट-स्तूप-मंदिर
२६	सारनाथ	२९	अन्य अनेक अवशेष

निष्कर्ष यह है कि लयनो के निदर्शन—विशेष शास्त्र एव कला के आनुषगिक हैं। लोमस ऋषि, खण्डगिरि, उदयगिरि, हाथीगुम्फा, भाज, कोण्डन, कर्ली आदि गुहाघर का प्रतिनिधित्व अजन्ता मे तथा गुहराज-विलास एलौरा और मामल्ल पुर मे।

छाद्य-प्रासाद तथा सभा-मण्डप-प्रासाद—

प्रथम सोपान

गुप्तकालीन वर्ग	चालुक्य वर्ग
नचना	लादाखान
कुठार	दुर्गामन्दिर
भूमारा	हुच्छेमल्लेगुडी
द्वितीय सोपान-गुप्तकालीन	**द्वितीय सोपान चालुक्यकालीन**
नागर—शैली मे	द्राविड — शैली मे
पापानाथ	सगमेश्वर
जम्बूलिंग	विरूपाक्ष
करसिद्धेश्वर	मल्लिकार्जुन
काशीनाथ	गलगनाथ
	सुम्मेश्वर
	जैनमन्दिर

नागर-प्रासाद—

निम्न प्रख्यात प्रासाद-पीठों मे विभाज्य हैं —

१ उडीसा—भुवनेश्वर-कोनार्क तथा पुरी
२ बुन्देल-खण्ड खजुराहो
३ राज-स्थान तथा मध्यभारत
४ लाट-देश (गुजरात तथा काठियावाड)
५ दक्षिण (खानदेश)
६ मथुरा-वृन्दावन

कालिंग प्रासाद

७००-९०० ई० भुवनेश्वर-वर्ग	९००-११००
परशुरामेश्वर	मुक्तेश्वर
वैताल दुश्रल	लिंगराज
उत्तरेश्वर	ब्रह्मेश्वर
ईश्वरेश्वर	रामेश्वर
शत्रुगणेश्वर	जगन्नाथ (पुरी)
भरतेश्वर	
लक्ष्मणेश्वर	

१००-१२५० ई०

अनन्तवासुदेव	कोनार्क (सूर्य-मन्दिर)
सिद्धेश्वर	मेघेश्वर
	सराइ दुश्रल
केदारेश्वर	सोमेश्वर
अमरेश्वर	राजरानी

टि० इसी राजरानी मन्दिर की ज्योत्सना ने खजुराहो को दीप्ति प्रदान की— दे० मेरा ग्रन्थ Vastusastra Vol I

खजुराहो-मन्दिर-विशेष निदर्शन—

१ चोसठ जोगिनी-मन्दिर
२ कन्डरिया (कन्दरीय) महादेव
३ लक्ष्मण-मन्दिर
४ मातंगेश्वर महादेव
५ हनुमान का मन्दिर
६ जवारि मन्दिर
७ दूलादेव मन्दिर

राजस्थान एवं मध्यभारत के प्रख्यात प्रासाद-पीठ

प्राचीन

१ सागर जिला मे एरन पर वाराह, नारसिंह मन्दिर प्राचीन निदर्शन हैं।

२ पठारी (एरन से १० मील दूरी पर) भी वराह तथा नृसिंह के मन्दिर हैं।

३ ग्यरासपुर मे चतुष्कम्भ, अष्टखम्भ मन्दिर हैं जो सभामण्डप के समान हैं—

प्राचीन एव मध्यकालीन

४ उदयपुर १ उदयेश्वर—एकलिंग महादेव
५ जोधपुर धानमण्डी का महामन्दिर तथा उसी नगर मे एक-शिखर भी
,, ओसिया ओसिया मे लग-भग १ दर्जन मन्दिर हैं।
ग्वालियर सास-वहू (सहस्रबाहु) मन्दिर, तेली का मन्दिर आदि
आबू पर्वत जैन-मन्दिरो की श्रेणिया जैसे तारका-मण्डित नभ

गुजरात तथा काठियावाड के मन्दिर

सोल की राजाग्रो को श्रेय है जिन्होने ग्रनहिलवाड पट्टन (अहमदाबाद) मे नाना मन्दिर बनवाये। इसी क्षेत्र के अन्य क्षेत्रीय पीठ है —

सुनक	मोधारा (सूर्य-मन्दिर)
वनौदा	सिद्धपुर (रुद्रमल)
देलमल	काठियावाड
कसरा	घुमली
	जैंजावपुर—नवलखा मन्दिर

सोमनाथ विश्वविश्रुत-मन्दिर-ज्योतिर्लिंग
शत्रुञ्जय तथा गिरनार पवत-श्रेणिया जो मन्दिर नगरिया है।

दक्षिण—खानदेश

अम्बरनाथ (प्रथित प्रासाद) थाना जिला मे
नौ मन्दिर (खानदेशस्थित) हेमदपन्थी शैली।
मथुरा-वृन्दावन

गोविन्द-दवी	गोपीनाथ
राधावल्लभ	युगलकिशोर
	मदनमोहन

विमान-प्रासाद—

दाक्षिणात्य प्रासाद स्थापत्य

८० सको राजाश्रयानुरूप निम्न वर्गों मे बाट सकते है

१ पल्लव राजवंश ६००-९०० ई०
२ चोल राजवंश ९००-११५० ई०
३ पाण्ड्य नरेश ११५०-१३५० ई०
४ विजयनगर १३५०-१५६५
५ मदुरा १६००-१८०० (लगभग)

पल्लव-राजवंशीय-सरक्षण मे उदित प्रासाद श्रेणिया एव पीठ

१ महेन्द्र-मण्डल (६००-६४०) मडप-निर्माण पार्वत-वास्तु
२ मामल्ल मडल (६४०-६९०) विमानो एव रथो का निर्माण
३ राजसिंह-मडल (६९० से ८००) विमान-निर्माण निविष्ट-वास्तु
४ नन्दिवर्मन-मण्डल (८००-९००) ,, ,, ,,

महेन्द्रमण्डलीय प्रासाद-पीठ	**मामल्ल-मडलीय**
मदग पट्टू	मामल्लपुरम्
त्रिचनापल्ली	यहा के सप्तरथ-धमराज, भीम, अर्जुन
पल्लवरम्	सहदेव, गणेश आदि Seven Pagodas

मोगलाजुंन-पुरम् ।

राजसिंह-मडल

१ मामल्लपुर-पीठ पर ही तीन विमान – उपकूल (Shore) ईश्वर, तथा मुकुन्द मदिर ।
२ पनगलाई
३ कञ्जीवरम—कैलाश-नाथ तथा वैकुण्ठ-पेरू-मल ।

नन्दि-वर्धन-मण्डलीय-छे प्रासाद —

१—२ कजीवरम् मुक्तेश्वर तथा मातङ्गेश्वर
३—४ चिंगलपट मे औरगदम् तथा वदमल्लीश्वर

३ अरकोनम के निकट तिरुत्तनी के विराट्टनेश्वर
४ गुडीमल्लम् के परशुरामेश्वरम्

चोलाराज-वंशीय-संरक्षण में उदित प्रासाद-श्रेणियाँ एवं पीठ —

क्षुद्र कृतियाँ

सुन्दरेश्वर — तिरुकट्टलाई
विजयनय — नरत मलाई
मुवरकोइल (त्रि—आदन) — कोडुम्बेलूर
मुचकुन्देश्वर — कोलट्टूर
कदम्बर—कदम्बरमलाई—नरतमलाई
बालसुब्रह्मण्यम् — कन्नौर

विशाल कृतियाँ

तञ्जौर बृहदीश्वर
गङ्गैकोण्डचोलपुरम् बृहदीश्वर (राजराजेश्वर)

टि० दाक्षिणात्य मन्दिरों का यह मुकुट मणि-मन्दिर बृहदीश्वर है, जो चोलों की देन है। चोलों का यह वास्तु-वैभव भारतीय कला का स्वर्णिम युग था।

पाण्डय राजवंशीय संरक्षण में उदित प्रासाद-श्रेणियाँ एवं पीठ —

टि पाण्ड्यों ने दाक्षिणात्य-शिल्प में एक नया युग प्रस्तुत किया— मन्दिरों के प्राकार तथा गोपुर। साथ ही साथ जीर्णोद्धार के द्वारा प्राचीन मन्दिरों को नयी सुषमा से विभूषित किया। कञ्जीवरम् कैलास-नाथ, जम्बुकेश्वर, चिदम्बरम् तिरुवन्नमलाई तथा कुम्भकोणम् इन मन्दिरों में गोपुरों एवं प्राकारों का विन्यास किया गया। एक नया मन्दिर दारासुरम् के नाम से विख्यात है।

विजय-नगर की राज-सत्ता में प्रोल्लसित प्रासाद—

इस काल में अलङ्कृतियों (Ornamentation) का भूरि प्रकर्ष प्राल्लम्बित हो गया। एक नयी चेतना भी प्रादुर्भूत हो गयी। अधिपति-देवता की पत्नी के लिए कल्याण-मण्डपों का प्रारम्भ हो गया। विशेष निदर्शन —

विजयनगर के अभ्यन्तरालीय मन्दिर
विट्ठल (विठोवा-पाडुरंग) कृष्ण मन्दिर
हजाराराम (Royal Chapel)
पम्पापति

विजयनगरीय शैली मे बाह्य-मन्दिर—

वेलोर ताडपत्री

कुम्भकोणम विरञ्चिपुरम्

कञ्जीवरम् श्रीरगम्

मदुरा के नायक राजाओं का चरम काल

मदुरा— मीनाक्षि-सुन्दरेश्वरम् श्रीरगम् वैष्णव-तीर्थ

त्रिचनापल्ली के निकट जम्बुकेश्वर

तिरवरूर चिदम्बरम्

रामेश्वरम् तिन्नवेल्ली

तिरूवनमरलाई श्रीवेल्लीपुर आदि आदि

टि० भारतीय (उत्तर एव दक्षिण) की महती मन्दिर-कला के विहगावलोकन के उपरान्त बृहद् भारतीय, द्वीप-द्वीपान्तरीय भारतीय Greater Indian प्रोल्लास भी आवश्यक था। परतु इस स्तम्भ की पूत्यर्थ हम एक-मात्र सकेत ही करना अभीप्ट समझते है —

निम्न मडल तथा प्रमुख निदर्शन देखें —

काश्मीर-मडल

१ मार्तन्ड मन्दिर

२ शकराचार्य-मन्दिर

३ अनन्त-स्वामी विष्णु मन्दिर

४ अवन्तीश्वर शिव मन्दिर

सिंहलद्वीप मण्डल—

लकातिलक जेतवन राम

नेपाल मण्डल—स्वयम्भू नाथ स्तूप, बुद्धनाथ, चुग नाथ

बर्मा मण्डल—पागन के मन्दिर—मन्दिर-नगर

द्वीपान्तर-मण्डल—

कम्बोडिया—अगकोर वट, बयोन मन्दिर, बत्तगन्नी वैनतेयश्री

स्याम—महाधातु-मन्दिर

अन्नम (French Indochina) पाडव-मन्दिर,

भीम-मन्दिर (आदि आदि)

टि० स्याम, जावा, बाली, चम्पा आदि द्वीपान्तरीय भारतीय क्षेत्रों मे भारतीय कला का पूर्ण (प्रोल्लास) ही नही, मध्य एशिया तथा मध्य अमेरिका (दे० मयकुल मे भी प्रोल्लास प्रत्यक्ष है।

अनुक्रमणी

टि० १—यह अनुक्रमणी दो खण्डों मे विभाज्य है—प्रथम खण्ड अध्ययन एवं द्वितीय खण्ड—अनुवाद।

टि० २—जहां तक प्रासादों की नाना संज्ञाओं, वर्गों, जातियों, शैलियों, अध्यायों एवं अवान्तर-भेदों का प्रश्न है, वह सब पाठक जन विषयानुक्रमणी मूल परिष्कार एवं वास्तु-शिल्प-पदावली मे परिशीलन करें। अतः इस अनुक्रमणी के वृहदाकार को तिलाञ्जलि देकर स्वल्प में ही प्रस्तुत किया है।

टि० ३—इन पदों की शतशः पृष्ठ पृष्ठ पर पुनरावृत्ति है, परन्तु केवल एक ही पृष्ठ को लेकर यह हमने प्रस्तावना की है

क

प्रथम-खण्ड

पृ० सं० २४६—२७२

शास्त्र एव कला

पुरातत्वीय निदर्शन

ILLUSTRATIONS

गुहराज—कैलाश, एलोरा

छाद्य प्रासाद—दुर्गा-मन्दिर, प्रायोहल
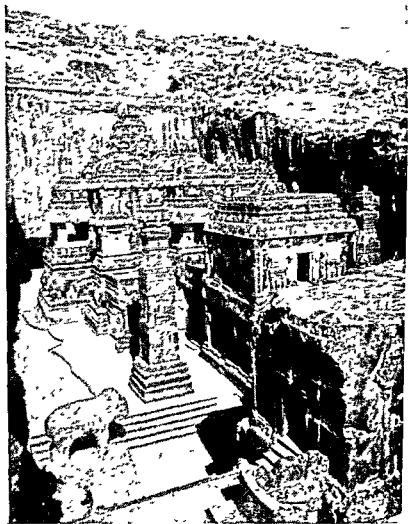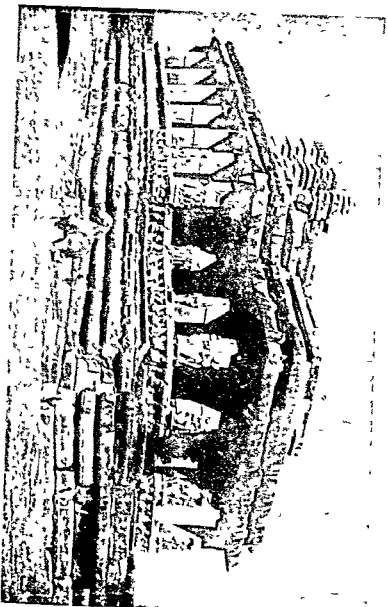
छाद्य-विमान—द्रौपदी-रथ महाबलि-पुरम्
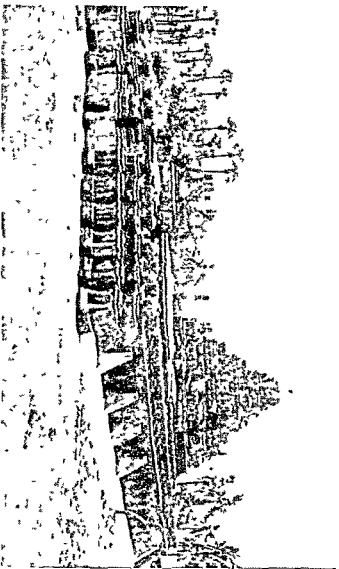
भौमिक-विमान—कैलाशनाथ, काञ्ची-पुरम्
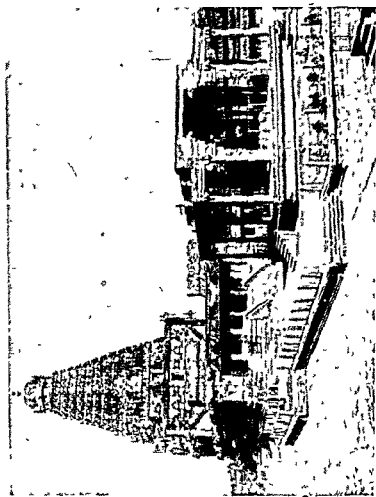
दक्षिण का मुकुट-मणि भी० वि० बृहदीश्वर, तञ्जौर

विजयनगरीय नवीन विन्यास—विट्ठल-मन्दिर-मण्डप
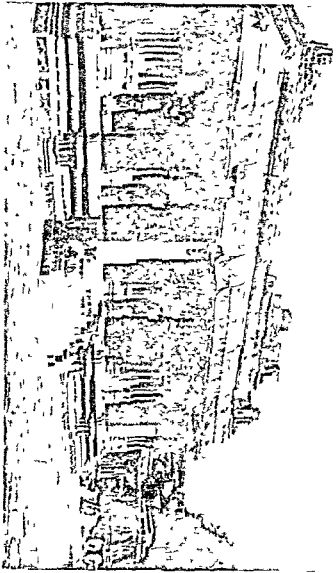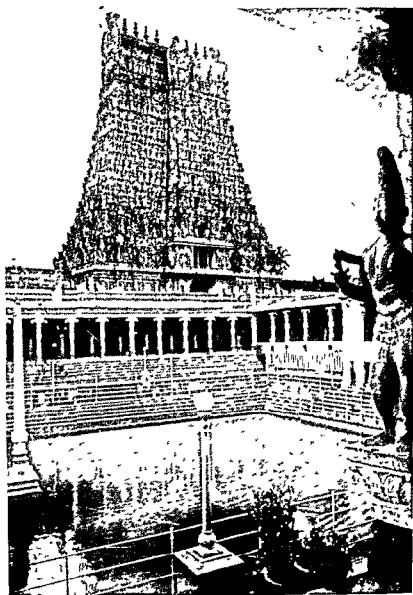
सर्वप्रसिद्ध भौमिक-विमान-गोपुर — मीनाक्षि-सुन्दरेश्वरम्, मदुरा
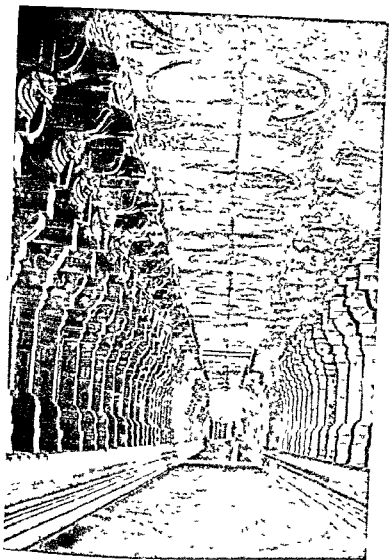
रामेश्वरम् का दक्षिणान्तराल (Corridor)
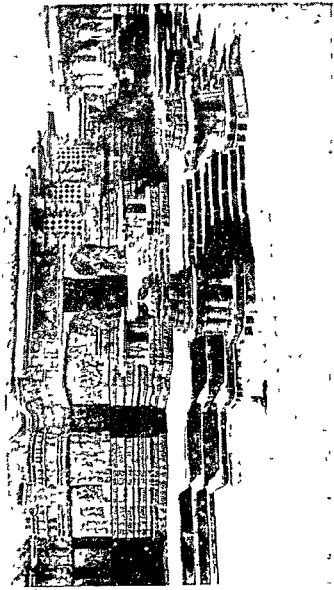
दाक्षिणात्य विमान-निवेश का तक्षण में अवसान—हैसलीश्वर (होयसलेश्वर)—मन्दिर, हलेबिड
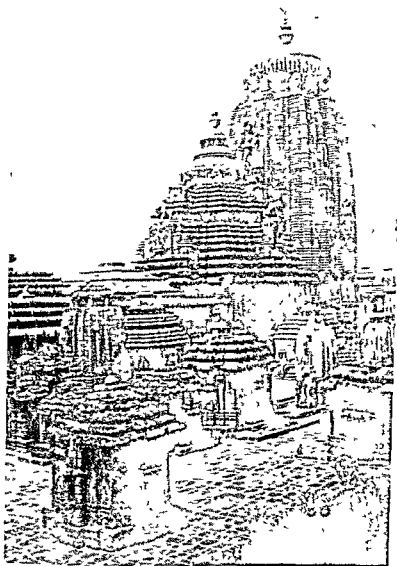
उत्तरापथ की महाविभूति—लिङ्गराज भुवनेश्वर

दिव्याकृति—सूर्य-मन्दिर, कोणार्क

कन्दरिया (कंदरीय) महादेव, खजुराहो
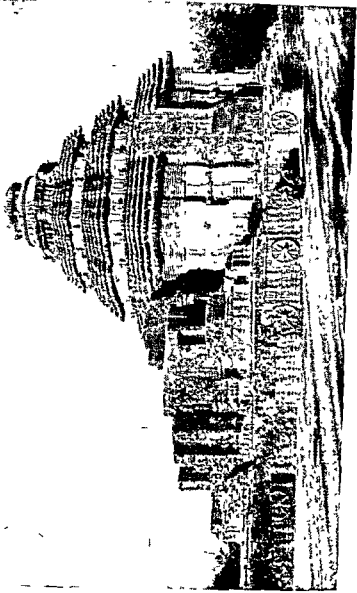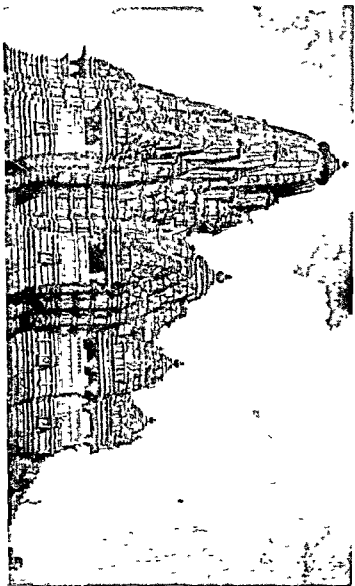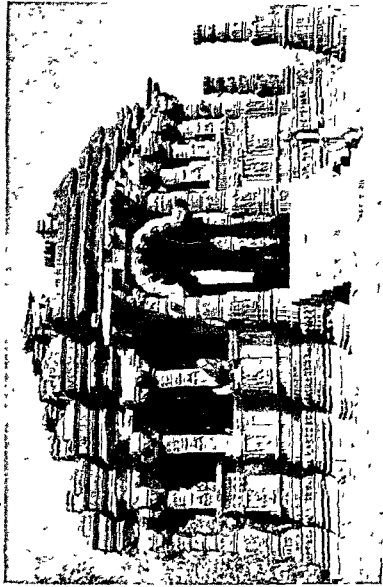
लाट शैली का सर्वोत्तम निदर्शन—सूर्य-मंदिर, मोधारा, गुजरात

काठियावाड की सर्वातिशायी कृति—रुद्रमल सिद्धपुर

खानदेशका सर्व-प्रमुख-निदर्शन—शिवालय-अम्बरनाथ

भूमिज शैलीक (बंगाल-विहार) का प्रमुख निदर्शन—जोरबंगला, विष्णुपुर

बौद्ध स्तूप-प्रासाद, साँची

बौद्ध—शिखरोत्तम-प्रासाद, बोधगया—गया

जैन-मन्दिर — आबू पर्वत

जैन-मन्दिर-माला—गिरनार पवत

जैन-मन्दिर-नगरी—पालीताना